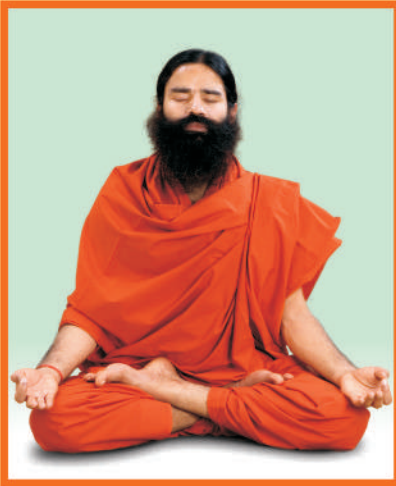


पुस्तक में वर्णित ऋषियों का योगमार्ग



योग, अध्यात्म, निःश्रेयस या मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले साधकों के मन में इन शब्द-युगलों को लेकर बहुत-सी भ्रान्तियाँ, मान्यताएँ या आग्रह देखने को मिलते हैं। वे शब्द-युगल हैं—योग-क्रियायोग, पराविद्या-अपराविद्या, अभ्युदय-निःश्रेयस, श्रेयमार्ग-प्रेयमार्ग, सफलता-साधना, पुरुष-पुरुषार्थ, प्रकृति-परमात्मा, ब्रह्म-ब्रह्माण्ड, मूर्त उपासना-अमूर्त उपासना, शुभकर्म-दिव्यकर्म, सकामकर्म-निष्कामकर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति, भगवान्-भागवत् विधान,

व्यष्टि-समष्टि, आत्मकल्याण व लोककल्याण इत्यादि।

मिथ्या ज्ञान के कारण अधिकांश साधक इन द्विकों (शब्द-युगलों) को एक-दूसरे का विरोधी मान लेते हैं, जैसे योग (चित्तवृत्तिनिरोध) तो ठीक है परन्तु क्रियायोग (तपःस्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान) या कर्मयोग ये ठीक नहीं, पराविद्या तो ठीक है परन्तु अपराविद्या निरर्थक है। हम तो निःश्रेयस के पथिक हैं, अभ्युदय से हमें कोई लेना-देना नहीं। श्रेय व प्रेय, साधना व सफलता, ये तो एक-दूसरे के विरोधी हैं। कर्म-प्रवृत्ति, पुरुषार्थ या धर्माचरण भी जन्म व दुखों का कारण है, अतः कर्म-प्रवृत्ति, पुरुषार्थ या धर्माचरण भी नहीं करना चाहिए। हम तो खुद योग के मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण करेंगे, दूसरे योगमार्ग पर चलें या न चलें, इससे हमें कोई लेना-देना नहीं....आदि। समझने की बात यह है कि वेद व आप्तपुरुषों के अनुसार ज्ञानपूर्वक धर्मानुसार क्रियायोग, अपराविद्या, अभ्युदय, प्रेय, सफलता, कर्म, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति आदि के माध्यम से ऊर्ध्वारोहण करते हुए पराविद्या या निःश्रेयस तक पहुँचना है। ये अपराविद्या, अभ्युदय आदि अपने सच्चे अर्थों में निःश्रेयस (मुक्ति) के विरोधी नहीं हैं बल्कि साधन हैं।

वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों, आप्त पुरुषों के सान्निध्य एवं अपने अनुभव से हम तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मिथ्याज्ञान, अज्ञान, अल्पज्ञान या भ्रान्त-ज्ञान से युक्त वाणी, व्यवहार, आचरण, अभ्यास, कर्म, प्रवृत्ति, साधना व तप हमारे दुःख, अशान्ति, दरिद्रता, अवनति, अशुभ, अमंगल, अकल्याण के कारण हैं। तत्त्व ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, सत्य ज्ञान या निर्भ्रान्त ज्ञान से युक्त वाणी, व्यवहार, आचरण, अभ्यास, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति, सेवा, साधना एवं तप हमारे सुख, शान्ति, समृद्धि, उन्नति, शुभ, मंगल व कल्याण के साधन हैं। अतः साधक को यथार्थ ज्ञान से युक्त होकर पूर्ण एकाग्रचित्त से योग व क्रियायोग (कर्मयोग) का अभ्यास करते हुए

क्रमशः पीछे...

साधना पथ

साधना पथ

जीवन-पथ

हो गया आकर खड़ा मैं, द्वार पर भगवान् तेरे।
दिव्य अभिनव ज्योति पाकर, आज पुलकित प्राण मेरे॥
कामना मेरी यही है, दूसरों के काम आऊँ।
चिर अमा की रात में भी, ज्योति जीवन की जलाऊँ॥
मानवी कर्तव्य-पथ में हो चरण गतिमान मेरे।
दिव्य अभिनव

दानवी प्रवृत्तियों से अन्त तक लड़ता रहूँ मैं।
मानवी सद्भावना की, मूर्ति नव गढ़ता रहूँ मैं॥
तप, त्याग, निष्ठा, सृजन के, गीत नित गाता रहूँ मैं।
ज्ञान गंगा में नहाकर, जी उठे नव गान मेरे॥
दिव्य अभिनव

देखकर अन्याय जग का, मौन हो वाणी न मेरी।
आत्मबल टूटे न मेरा, रात हो चाहे अंधेरी॥
धन्य है ध्रुव की लगन जो छोड़ वैभव का झमेला॥

परम श्रद्धेय आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज
द्वारा प्रस्तुत इस पुस्तक से साधना पथ के पथिक
साधकों का ज्ञान व जीवन निरन्तर उन्नत, परिष्कृत
व दिव्य होगा, इन्हीं मंगलकामनाओं के साथ सभी
पाठकों को मेरा विनम्र प्रणाम।

आचार्य शनकराय

अध्यात्म में निरन्तर ऊर्ध्व आरोहण करना चाहिए। योग से क्रियायोग तथा क्रियायोग से योग का अभ्यास करते हुए साधक के बन्धन शनैः शनैः क्षीण हो जाते हैं और वह इसी जन्म में जीते जी ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

योग, ध्यान व समाधि में साधक की दो ही स्थितियाँ होंगी— सविकल्प या निर्विकल्प, सविचार या निर्विचार, सम्प्रज्ञात या असम्प्रज्ञात (सबीज या निर्बीज) समाधि। इनमें से किसी भी एक अवस्था में साधक प्रारम्भ में कुछ क्षणों के लिये तथा निरन्तर अभ्यास से बाद में लम्बे समय तक अवस्थित रहता है।

साधक की साधना का सामान्यतः एक क्रम है— वह प्रथमतः भगवान् के मूर्त रूप की उपासना करता है फिर धीरे-धीरे अमूर्त में अवस्थित हो जाता है। मूर्त से अमूर्त, व्यक्त से अव्यक्त, प्रत्यक्ष से परोक्ष, साकार से निराकार, जड़ से चेतन, सगुण से निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करता हुआ साधक ब्रह्ममय हो जाता है। रचना से रचयिता, सृष्टि से स्रष्टा, माया से मायापति, ब्रह्माण्ड से ब्रह्म की यात्रा का यह एक क्रम है।

इसी प्रकार क्रियायोग (कर्मयोग) में भी साधक की दो स्थितियाँ ही रहनी चाहिए। प्रारम्भ में धर्मयुक्त प्रवृत्ति से धीरे-धीरे निष्काम प्रवृत्ति में अवस्थिति होगी, यही मिथ्या-ज्ञान व दोषयुक्त प्रवृत्ति व तज्जन्य दुःखों की पूर्ण परिसमाप्ति का वदोक्त मार्ग है। अकर्मण्यता या अधर्मयुक्त प्रवृत्ति में साधक को एक क्षण के लिये भी नहीं जीना चाहिए। एक-एक क्षण में ही हमारा शुभाशुभ या दिव्य व्यक्तित्व निर्मित होता है। एक-एक क्षण साधक का योगमय व क्रियायोगमय होना चाहिए।

यथार्थ-ज्ञान से युक्त वाणी व समस्त व्यवहारों का निर्वहन साधक को करना ही पड़ेगा। साधक का आचरण, अभ्यास व स्वभाव यथार्थ-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान से सदा युक्त रहना चाहिए। साधक सत्य ज्ञान, वेद ज्ञान या निर्भ्रान्त ज्ञान से युक्त होकर निर्दोष, निर्वैर, निर्द्वन्द्व, निर्लोभ, निष्काम, निर्विकार, निरपेक्ष-भाव से कर्म, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति, सेवा, साधना व तप करके ही अपने अन्तःकरण को पूर्ण शुद्ध करता हुआ अन्ततः दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष व मिथ्या ज्ञान से पूर्णतः मुक्त होकर जीते जी ही निःश्रेयस (मोक्ष/अपवर्ग/कैवल्य) या पूर्ण योग (निर्बीज समाधि) को प्राप्त करके संस्कारों की दृष्टि से दग्धबीज हो जाता है।

श्रद्धेय गुरुदेव को वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि ऋषियों के ग्रन्थों, आप्त पुरुषों के उपदेशों, प्राचीन व अर्वाचीन ऋषियों के माध्यम से जो सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ; साथ ही स्वानुभूति एवं स्वयं की निरन्तर साधना से जिस विशुद्ध सत्य का अनुभव किया, उसे ही “सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्” से प्रारम्भ करके “पुरुष का अकर्तृत्व” तक इस साधना पथ पुस्तक में लघु निबन्धों के रूप में वृहत् सत्य को अभिव्यक्त किया है। साधक पूर्ण एकाग्रचित्त होकर इस पुस्तक का पूरा स्वाध्याय अवश्य करेंगे तथा साथ में ही तदनुरूप आचरण व साधना करके अपने साध्य तक अवश्य पहुंचेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

श्री १५५९

साधना-पथ



साधना पथ

- : लेखक :-

आचार्य प्रद्युम्न

- : प्रकाशक :-

पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

प्रकाशक :

© सर्वाधिकार- पतञ्जलि योगपीठ

संस्करण : प्रथम (आश्विन मास, वि० सं० २०७१)

प्रतियाँ : १०,०००

प्राप्ति स्थान :

१. पतञ्जलि योगपीठ

महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग

निकट बहादुराबाद हरिद्वार, २४९४०५ (उत्तराखण्ड)

२. आर्ष गुरुकुल खानपुर, पो०- मढ़ाणा,

जिला- महेन्द्रगढ़, तहसील- नारनौल, (हरियाणा)

दूरभाष : ०९४१६८-१८०७१

साई सिक्कूरिटी प्रिंटर्स प्रा० लिमिटेड

एस.सी.ओ.-६३, प्रथम तल, सेक्टर-३१

हुडा मार्केट फरीदाबाद- १२१००३

समर्पण

यह कृति समर्पित
है उस परम विधान
को जो समानरूप से
यथायथरूपेण सर्वत्र कार्यरत है
जो एक ही साथ न्याय व प्रेम का
मूर्तरूप है व हम सबकी अन्तरात्मा
में स्थित है ऐसे उस महान् देव को; उन
परमऋषियों को जिन्होंने परम व अन्तिम सत्य
का अनुभव किया और हमें उसका आश्वासन दिया;
सत्य के अन्वेषक ज्ञात व अज्ञात मार्गदर्शक गुरुओं को;
उन ज्ञात व अज्ञात जिज्ञासुओं को जिनके साथ मिलकर
सत्य के अन्वेषण करने का मौका मिला; विविध रूपों में
अहंकार की सक्रियता तथा उससे प्राप्त प्रलयंकारी दुःख से भरे
कड़वे फलों को जिन्होंने अहंकारमुक्ति के रास्ते पर चलने के लिए प्रेरणा
दी; जड़ता के साथ तादात्म्य और उसके परिणाम स्वरूप मिले महाकष्टों
को जिन्होंने चिन्मय जीवन जीने के लिए प्रेरित किया; जीवन के
उन कटु अनुभवों स्खलन-पतन-दुःख-दर्द-पीड़ा-अशुभ-अमङ्गल और
आँसुओं को जो सच्चे जीवन की खोज में निमित्त बने; उन सभी
अनुकूल व प्रतिकूल सहयोगियों को; सभी अनुकूल व प्रतिकूल
परिस्थितियों को जिनकी कृपा से प्रकाशपूर्ण आनन्दमय अमर जीवन
का दर्शन हुआ; और अन्त में साधना-पथ के उन सब पथिकों को
जो इस प्रकाशपूर्ण आनन्दमय अमर-जीवन के प्यासे हैं।

विषय सूची

क्र.सं०	विषय	पृष्ठ सं०
(१)	सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्	(१)
(२)	प्राक्कथन	(३)
(३)	कुछ शब्द पुस्तक के बारे में	(६)
(४)	एक महत्त्वपूर्ण संदेश	(८)
१.	शुद्ध ज्ञान— हमारा सच्चा पथप्रदर्शक	१
२.	पथ का मित्र— प्रकाश व जागरूकता	६
३.	विवेक विचार	१०
४.	अस्तित्व की माँग	१४
५.	मूल प्यास— अध्यात्म में विश्राम	१६
६.	दो पक्ष	२१
७.	कर्मफल	२३
८.	अहंकार के दो रूप	२६
९.	सुख का सच्चा स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय	२९
१०.	सम्बन्ध	३७
११.	प्रकृति माँ	४९
१२.	स्वस्थता अर्थात् अद्वैत	५१
१३.	निरपेक्षता	५६
१४.	पवित्रता	६१
१५.	रोग का उपचार	६४
१६.	योग-मार्ग पर क्यों चलें?	६९

१७.	जीवन क्या है?	७३
१८.	गुणा गुणिनं प्रयोजयन्ति, गुणी वा गुणान् प्रयोजयति	७६
१९.	दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः	७८
२०.	द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च	८३
२१.	यथा न दोषस्तथाऽस्तु	८७
२२.	तत्कारी च भवान् तद्वेषी	८९
२३.	पुरुषो वाव यज्ञः	९२
२४.	दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्	९८
२५.	एषणा एवम् एषणा-मुक्ति	१०२
२६.	स्वस्ति पन्थामनुचरेम	१०५
२७.	चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्ध्ये	१०९
२८.	दो दृष्टियाँ- लौकिक व आध्यात्मिक	११५
२९.	स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः	११९
३०.	प्रकृति का रूपान्तरण सम्भव है या असम्भव?	१२१
३१.	साधक और असाधक का दृष्टि-विभेद	१२६
३२.	शरीर वाणी व मन का परिपाक	१३१
३३.	संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष	१३८
३४.	योगयुक्त मन	१४८
३५.	श्रद्धा भक्ति प्रेम	१५२
३६.	ब्रह्मचारी-विषयचारी का भेद	१५४
३७.	पारस्परिक समस्याओं का समाधान	१५७
३८.	साधक का सुरक्षित स्थान	१५९
३९.	श्रवण-मनन-निदिध्यासन	१६२

विषय सूची

४०.	तप व कर्म- ज्ञान के प्रकाशक	१६४
४१.	ज्ञान व कर्म	१६८
४२.	शिष्ट या आप्तपुरुष कौन ?	१७२
४३.	शास्त्र	१७४
४४.	शाश्वत सुख	१७८
४५.	वेगों को सहना	१८०
४६.	पञ्च महायज्ञ	१८६
४७.	इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से	१९३
४८.	विधान	१९६
४९.	मोह	१९९
५०.	आत्मयाजी-देवयाजी	२०१
५१.	मन्त्रवित्-आत्मवित्	२०३
५२.	एकत्व-नानात्व	२०७
५३.	मस्करी परिव्राजक	२१२
५४.	आत्मकल्याण	२१५
५५.	नैतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन	२१८
५६.	समय	२२१
५७.	प्रारब्ध व पुरुषार्थ	२२६
५८.	पत्र-शृंखला (१, २, ३, ४)	२३६
५९.	पञ्च क्लेश	२५२
६०.	सांख्यीय दृष्टि- पुरुष का अकर्तृत्व	२५६
६१.	भगवान् को समर्पण	२६१

सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्

मेरे गुरु ने मुझे यह सीख सिखायी कि जो कुछ करो वह स्वान्तःसुखाय करो और अन्ततः वह अपने आप सर्वान्तःसुखाय हो जायेगा। समष्टि का हित जब हम अपने अहंकार की तृप्ति के लिए करते हैं तो उससे भी समष्टि का हित तो होता है या हो सकता है, किन्तु उससे भागवत स्पर्श (Divine- touch) अवरुद्ध हो जाता है। कारण! अहंकार का उद्घाटन एकमात्र सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, सांयोगिक सुखों (वैषयिक सुख=इन्द्रिय सुख) की ओर ही होता है। जब वह भगवान् को पाने के लिए उद्घटित होता है तब तो उसका विलय ही हो जाता है, कुछ शेष ही नहीं बचता। अर्थात् अहंकार बाह्य चीजों के सहारे ही जीवित रह पाता है, बाहर से विमुख होकर अन्दर की तरफ मुड़ता है तब तो मर ही जाता है। स्वान्तःसुखाय का अर्थ है अपने अन्तरतम की तृप्ति, किन्तु जब बाह्य प्रयोजनों को लक्ष्य कर कर्म किये जाते हैं तब अन्तरतम की तृप्ति छूटती रहती है। चूँकि अन्तरतम की तृप्ति में विभेद नहीं है, वह सार्वभौमिक है, उसमें मनुष्यमात्र की सहज स्वीकार्यता है, वह मनुष्य की सहजात है, वह किसी के अनुकरण पर आश्रित नहीं है अतः यदि किसी उपाय विशेष से या ज्ञान विशेष से एक की अन्तरतम की तृप्ति हो रही है तो निश्चय ही दूसरे की भी होगी ही। सो यद्यपि ये निबन्ध मैंने स्वान्तःसुखाय लिखे हैं किन्तु जो लोग लेखक की तरह ही जीवन के प्रति गम्भीर हैं, जीवन को गहराई से समझना चाहते हैं, अपने जीवन को आनन्द-प्रेम-शान्ति-सौन्दर्य-सौभाग्य-स्वाधीनता-निर्भयता-एकत्व-समग्रता (अखण्डता) से परिपूर्ण देखना चाहते हैं, उन सबको ये ज्ञान कण बड़े ही रसीले प्रतीत होंगे।

अपने शौर्य, अपने तेज, अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ, अपने दृढ़ संकल्प, अपने अपरिमित आन्तरिक बल, अपने महत्कर्म के लिए दिग्दिगन्त में विख्यात श्री स्वामी रामदेव जी; पतञ्जलि योगपीठ में चल रहे विविध प्रकल्पों के कुशल संचालक, अपने महान् पुरुषार्थ से आयुर्वेद को संसार में प्रतिष्ठापित

करने के लिए कृतसंकल्प आचार्य श्री बालकृष्ण जी; इन दोनों महानुभावों के लिए कृतज्ञतापूर्ण विशेष धन्यवाद, जिन्होंने मेरी रुचि के अनुसार मुझे सेवा करने का मौका दिया हुआ है।

मेरे प्रिय सुहृद्, आदर्श साधक, विनयसम्पन्न और साथ में पूर्ण निर्भय, निष्कामकर्मी, विद्वद्वरेण्य, महान् तार्किक, आर्षज्ञान के पुरोधा, जीवन के उच्चतम आदर्श को पाने के और क्षण-क्षण में उसमें जीने लिए कृतसंकल्प, हजारों लोगों के पथप्रदर्शक आचार्य सत्यजित् जी (आचार्य, महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, अजमेर) ने इस पुस्तक की मूल पाण्डुलिपि को पढ़ा और उसमें अपने उपयोगी सुझाव भी दिये, तदर्थ आचार्य श्री का आभार।

वैदिक कन्या गुरुकुल पतञ्जलि योगपीठ की विदुषी आचार्या बहन सविता जी, वैदिक गुरुकुल पतञ्जलि योगपीठ की व्यवस्था में अनन्य सहयोगी ब्र० संदीप जी तथा आशा व ऊर्जा से भरे उनके अन्य साथी ब्रह्मचारियों ने भी इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन में अपना सहयोग दिया, उसके लिए उन सब को आशीर्वाद व धन्यवाद।

‘आर्ष गुरुकुल खानपुर’ नारनौल (हरियाणा), ‘साईं प्रिंटिंग प्रेस’ (ग्रेटर फरीदाबाद) के मालिक माता विजयलक्ष्मी धर्मपत्नी श्री आदरणीय राघवन जी व उनकी सुयोग्य पुत्री श्रीमती प्रियता जी का भी भूरिशः धन्यवाद। जिन्होंने इस पुस्तक के सुन्दरतम प्रकाशन में मनोयोगपूर्ण सहयोग दिया।

अन्त में भगवान् व उनके पुत्र-पुत्रियों के चरणों में यह पुष्प अर्पित करता हुआ विराम लेता हूँ।

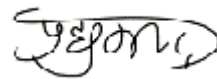
सन्त कुटीर,

प्रद्युम्न आचार्य

पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

पिन कोड : २४९ ४०५

दिनांक : ३१ मई, २०१४



वैदिक गुरुकुलम्,

पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

प्राक्कथन

भौतिक क्षेत्र में किसी को बहुत बड़ा साम्राज्य, सिंहासन या किसी भी क्षेत्र में प्रथम होने का गौरव प्राप्त होने पर जैसे उसे कुछ काल के लिए सुख, शान्ति, सन्तुष्टि व एक बहुत बड़ी उपलब्धि की गौरवपूर्ण अनुभूति होती है, वैसे ही आध्यात्मिक मार्ग, देवत्व, श्रेय या अनन्त के पथ पर चलने वाले साधक को भी विवेकख्याति, ज्ञानप्रतिष्ठा, सम्यग्दृष्टि उपलब्ध होने पर तथा वासनाओं के दग्धबीज होने पर जीवन में एक अतुलनीय, अखण्ड व शाश्वत सुख तथा एकत्व एवं पूर्णता की अनुभूति होती है। विवेकख्याति की प्राप्ति हेतु श्रद्धेय गुरुदेव ने प्रस्तुत पुस्तक लिखकर साधकों पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है। जिन मनुष्यों के हृदय में भगवान् के लिए सच्ची प्यास है, जो पूरी ईमानदारी, दृढ़ संकल्प व अखण्ड पुरुषार्थ के साथ अपने भीतर की दुर्बलताओं, पराधीनताओं से सर्वथा मुक्त होकर जीवन के अन्तिम गन्तव्य तक पहुँचना चाहते हैं, उनको निश्चित ही इस पुस्तक से बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

किसी भी रूप में पूर्ण सत्य की अनुभूति के लिए तीन बड़ी कसौटियाँ हैं। शब्द प्रमाण, वैज्ञानिक प्रमाण व आनुभूतिक प्रमाण। श्रद्धेय गुरुजी वेदज्ञ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण सम्पन्न हैं। इस अध्यात्म के मार्ग में कई दशकों से गहरी अभीप्सा के साथ आगे बढ़ रहे हैं। उन्होंने जिन आध्यात्मिक सत्यों को पुस्तक में लिखा है उन सत्यों व तथ्यों को जीवन में जीया है। प्राचीन काल में जो ऋषित्व या देवत्व को उपलब्ध हुए उन आत्मवेत्ता शिष्ट, आप्त पुरुषों, अपने महान् पूर्वजों ने जीवन के हर पहलु के बारे में जो गम्भीर व प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति या पूर्णता की प्राप्ति व अपवर्ग प्राप्ति के जो उपाय बताये उनका श्रद्धेय गुरुजी ने लगभग ३० वर्षों तक गम्भीर अध्ययन मनन निदिध्यासन व साक्षात्कार किया है, साथ ही वर्तमान में आध्यात्मिक सत्यों की खोज में लगे हुए किसी भी योगी साधक महापुरुष का पता चला तो उनका दर्शन व मार्गदर्शन लिया है, उनसे गम्भीर-सूक्ष्म चर्चाएँ

की हैं। इस युग के महान् ऋषि, आप्तपुरुष, जीवन्मुक्त, पूर्णता को उपलब्ध श्रद्धेय स्वामी सोमानन्द जी महाराज से अध्यात्म मार्ग की दीक्षा ली है। महायोगी महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, जे० कृष्णमूर्ति, महर्षि रमण एवं अन्य अनेक महापुरुषों के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों व अनुभूतियों को पूरी निष्ठा से समझा है और अपने जीवन में बहुत से प्रयोग किए हैं। ऐसे समर्थ गुरु से ज्ञान अनुभूति पाना हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य है। गुरुदेव की ३० वर्षों से अधिक समय की जीवन साधना का फल हमें इस पुस्तक में मिल रहा है। यदि गुरुदेव के ३० वर्षों के अनुभवों व ज्ञान साधना को हम अपने जीवन में अपनाते हैं तो हमारी साधनायात्रा में ३० वर्षों का यह सार-मधु समाहित हो जायेगा और हमें अपने जीवन के ३० वर्ष खोज के लिए नहीं गंवाने पड़ेंगे, हमारी आध्यात्मिक खोज इस पुस्तक से पूर्ण होगी। ऐसे में साधना के पथ पर आगे बढ़ने के लिए अब तो सिर्फ आचरण करना है।

भगवान् सबको ऐसी दिव्य अन्तःप्रेरणा दें जिससे सब अपने भीतर समाहित अपरिमित ज्ञान, शक्ति व सामर्थ्य को योगबल से जागरित करके पूर्ण प्रकाशित व समर्थ बनें एवं वे सर्वसुहृद् बनकर सबको इस अनन्त के मार्ग पर चलने में सहायता करें। अपने प्रारब्ध व पुरुषार्थ से जीवन की सबसे बड़ी बाधाओं दोषपूर्ण आलम्बनों व दोषपूर्ण अभ्यासों से प्रतिपल मुक्त रहकर मनमणि का कमठाण पाएँ। हम सब अमृतपुत्र, ऋषि ऋषिकाओं की सन्तानें, माँ भारती व धरती माता की पुण्यशील वीर सन्तानें अपने पूर्वजों की भाँति जीवन की पूर्णता को उपलब्ध हों।

शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म व शुद्ध उपासना के मार्ग पर चलकर शाश्वत के सच्चे प्रतिनिधि बनें, प्रतिपल ब्रह्मभाव, सहज ब्रह्मचर्य एवं दिव्य एकत्व के भाव में जीते हुए सहज योग के साधक बनें।

ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विजय पायें, विविध क्षेत्रों में शिखर पर पहुँचें, बाहर का साम्राज्य पाएँ लेकिन इन सबको पाने के साथ भीतर के भी साम्राज्य, स्वराज्य, भीतर की स्वाधीनता को भी पायें। महर्षि दयानन्द की तरह भीतर से

पूर्ण शान्त रहकर बाहर से पूर्ण क्रियाशील बने रहें और अपने दिव्य कर्मों की आहुति अनन्त के लिए समर्पित करते हुए अहर्निश सेवा करें। सत्य, प्रेम, करुणा व सेवा से सबके जीवन भरे हुए हों। स्वयं को प्रकाशित रखने के लिए प्रतिदिन कम से कम १ से २ घण्टे अध्यात्मविद्या का अभ्यास अर्थात् स्वाध्याय तथा १ से २ घण्टे का ऐकान्तिक पूर्ण मौन तथा ४ से ६ घण्टे की गाढ़निद्रा एवं १ घण्टा क्रियात्मक योगासन, प्राणायाम व व्यायामादि का अभ्यास करके शेष समय अपनी-अपनी क्षमता व योग्यता के अनुसार सेवा में लगाते हुए जीवन को पूरे आनन्द, उत्साह व निर्भयता के साथ जीएँ, मुझे तो यही तात्पर्य समझ में आया है गुरुदेव की इस पुस्तक का अध्ययन करके।

श्रद्धेय गुरुदेव के तप, साधना व निष्काम सेवा को प्रणाम करते हुए, पतञ्जलि योगपीठ के विवध प्रकल्पों में मेरे अनन्य सहयोगी श्रद्धेय आचार्य बालकृष्ण जी के पूर्ण निष्काम, निर्लोभ व पूर्ण क्रियाशील जीवन को नमन करते हुए, करोड़ों-करोड़ों अध्यात्म साधकों की साधना को प्रणाम करते हुए अपने इन शब्दरूपी पुष्पों से मूर्त व अमूर्त ब्रह्मस्वरूप सम्पूर्ण अस्तित्व के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए सबको धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में सभी साधकों से विनम्र निवेदन व आग्रह है कि प्रस्तुत पुस्तक 'साधना पथ' व गुरुदेव के गुरुदेव श्री सोमानन्द जी महाराज के उपदेशों के संकलन 'जीवन का समाधान' नामक एक अन्य पुस्तक का प्रतिदिन १ घण्टा प्रशान्तचित्त होकर स्वाध्याय अवश्य करें।



प्राणिमात्र के कल्याण का आकांक्षी

दिनांक :- ०६ जून २०१४ ।

कुछ शब्द पुस्तक के बारे में

पुस्तक की प्रायः अन्तिम अवस्था को प्राप्त सम्पूर्ण प्रतिलिपि को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। साधना पथ के जिज्ञासु-प्रेमियों के लिए यह पुस्तक मार्ग-दर्शन करने में समर्थ है। इस के विभिन्न लेखों में साधक को मूलभूत बातों तक पहुँचाने का विशेष प्रयास किया गया है। साधना-प्रिय व्यक्ति श्रद्धा-भक्ति से साधना पथ पर चलते हुए भी मूल-भूत बातों की समझ ठीक व स्पष्ट न होने से इधर-उधर भटकते रहते हैं, उलझे रहते हैं, स्थूल-गौण बातों को मुख्य मानकर वहीं बहुत सा श्रम व्यर्थ गंवाते रहते हैं। यदि साधना-प्रिय व्यक्ति को साधना पथ की मूलभूत बातों की समझ प्रारम्भ में ही हो जाये तो वह व्यर्थ या कम उपयोगी साधनों में अपने समय व श्रम के अपव्यय से बच कर, सरलता व शीघ्रता से साधना-पथ पर प्रगति कर सकता है।

आदरणीय आचार्य प्रद्युम्न जी मूलतः साधक हैं, उनकी मूल प्रकृति साधक की है। उनका बाह्य रूप शास्त्रवेत्ता, विद्वान्, वैयाकरण आदि का भले ही दिखता हो, पर वह सब संयोग व परिस्थिति वश है। प्रारम्भ में जो दिशा मिली या पकड़ी वह शास्त्रीय-ज्ञान-विज्ञान की रही, उन्होंने इसमें भी साधना के कणों को संजोने का कार्य किया है। पाणिनि व्याकरण जैसे विस्तृत गम्भीर व बौद्धिक विषय का दशकों तक अध्ययन-अध्यापन करते कराते हुए भी उनकी अन्दर की तड़फ आध्यात्मिक थी। इसी कारण जहाँ भी आशा प्रतीत होती, अवसर मिलता तो वे भौरे की तरह पुष्प के रसास्वादन से अपने को रोक नहीं पाये। उन्होंने अनेक पूर्व साधकों से प्राप्त रस को, अपने अनुभव से प्राप्त रस को, प्राचीन-अर्वाचीन ऋषियों-मुनियों-योगियों के ग्रन्थों से प्राप्त रस को सदा सामञ्जस्य बैठाने हुए स्वीकारने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक के रूप में हमें उनके दीर्घकालीन श्रम व साधना का सार प्राप्त हो रहा है। पुस्तक के अनेक लेख अकेले-अकेले अपने आप में भी परिपूर्ण मूलभूत बात को बताने में समर्थ प्रतीत होते हैं। आध्यात्मिक साधना

के अनेक पहलुओं को इस पुस्तक के विभिन्न लेखों में स्पष्ट किया गया है। यह पुस्तक चिन्तन-मनन-विचार पूर्वक पढ़ी जाने योग्य है। बार-बार पढ़ी जाने योग्य है। पुराने साधक भी इसे पढ़कर अपने अन्दर अध्यात्म की स्पष्टता व प्रेरणा को बढ़ा पायेंगे। साधना पथ पर चलते-चलते बहुत से पूर्व ज्ञात व समझे हुए विषय भी घूमिल से हो जाते हैं, यह पुस्तक उन विषयों की घूल हटाकर उन्हें स्पष्ट व तरोताजा बनाने में सहायक सिद्ध होगी।

आदरणीय आचार्य प्रद्युम्न जी ने जन-जन के कल्याण की भावना से यह महत्त्वपूर्ण खजाना अपने लेखों के माध्यम से दिया है। जिन विषयों को उन्होंने मानव मात्र के लिए, साधना-पथ के पथिकों के लिए उपयोगी व आवश्यक अनुभव किया उन्हें इस पुस्तक में दिया है। लोकोपकार की भावना व श्रम के लिए उन्हें सादर नमन।

निवेदक

सत्यजित्

सत्यजित्

दिनांक : १२.०७.२०१४

गुरुपूर्णिमा २०७० संवत्

महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल ऋषि उद्यान,

अजमेर (राज०)

एक महत्त्वपूर्ण संदेश

यह एक व्यक्ति है जो अपनी साधना की अनुभूतियाँ सुना रहा है कि मैं इतने घण्टे ध्यान करता था, मुझे चन्द्रलोक में अमुक-अमुक देवी देवताओं के दर्शन होते थे, फिर मैं वहाँ से एक और लोक में पहुँचा, वहाँ भी मुझे अनेक देवताओं के दर्शन करने को मिले।

हमने उनसे पूछा कि अच्छा यह बताइये इन देवदूतों, फरिश्तों और देवी-देवताओं के दर्शन से और लम्बे-लम्बे ध्यान से आपके व्यावहारिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा? आपके संस्कारों में कितना परिवर्तन आया? आपके अपने ही साथ चल रहे संघर्ष में कितनी कमी आयी? जीवन के हर प्रसंग में कितने सहज हो गये? मनुष्य की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा, विशेषकर शुभ-क्रियाएँ शुभ-चेष्टाएँ मनुष्य के अहंकार को और भी अधिक दृढ़ से दृढ़तर करती जाती हैं, क्या आपके देवदर्शन ने इस बन्धन को ढीला किया? क्या मानसिक विकारों ने अब आपका पीछा करना छोड़ दिया? अन्तर्विरोध अब भी जारी है या अन्त हो गया? दूसरों के साथ सतत चल रहा स्पर्द्धा का चक्र क्या अब भी गतिमान् है या बन्द हो गया? धर्म अभी भी मस्तिष्क में ही रखा है या जीवन में उतरने लगा है? द्वन्द्वों के बीच रहते हुए समत्व साधित हो पा रहा है या नहीं? समदृष्टि का गभीरार्थ अनुभूति में आने लगा है? शुद्ध ज्ञान और अविचल शान्ति ने आपका सहयोग करना प्रारम्भ कर दिया है या नहीं? प्रायः मनुष्य जो जीवन जी रहा है उसमें जड़ के साथ गहरा तादात्म्य रहता है, इन देवताओं के दर्शन ने उस तादात्म्य को तोड़कर आपको चिन्मय बना दिया है या वह पूर्ववत् ही चल रहा है? देवदर्शन से अन्दर के देवता जाग गये हैं या अभी सोये ही पड़े हैं?

ध्यान-भजन, एकान्तवास, मौन, स्वाध्याय, सत्संग, तीर्थाटन, जप-तप, पुरश्चरणादि से जो सच्चा लाभ होना होता है वह यही है कि सब प्रकार से साधक अचाह या अकाम हो जाये, सहज हो जाये, जीवन परिवर्तित हो जाये। यदि ऐसा नहीं हो पा रहा है तो समझना होगा कि 'दृष्टि में कहीं कुछ कमी रह गयी है, जिसके कारण साधन ठीक से नहीं हो पा रहा'।

साधना पथ

१. शुद्ध ज्ञान— हमारा सच्चा पथप्रदर्शक

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

सरलता ही सुपथ है— अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

एक-एक क्षण सावधान रहने से ही जीवन की साधना हो सकती है।
जैसा ज्ञान वैसा जीवन, जैसा दर्शन वैसा प्रदर्शन, जैसा ज्ञान वैसी क्रिया।
दर्शन को सदा-सर्वदा शुद्ध रखना चाहिए। हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन
हमारे दर्शन की प्रतिच्छाया होती है। मनु ने भी कितना सुन्दर कहा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते ।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। मनु० ६.७४ ।।

विषयों में सुख का दर्शन करने वाला व्यक्ति विषयों का सुख लिये
बिना रह ही नहीं सकता। दूसरी तरफ विषयों में दुःख दर्शन करने वाला
व्यक्ति कैसे विषयों से जुड़ सकता है?

जब दर्शन बिगड़ता है तो कर्म और उपासना (मन का लगाव) भी उसी
के अनुरूप हो जाते हैं। कर्म और उपासना का प्रारम्भ तो दर्शन से ही होता है,
पर आगे वे (कर्म, उपासना) दर्शन को शुद्ध व अशुद्ध बनाने में निमित्त बनते
रहते हैं और इस प्रकार दर्शन में ही विलीन हो जाते हैं। दर्शन शुद्ध भी होता है
और अशुद्ध भी; इसकी पहचान हमारी अन्तरात्मा, शास्त्र व गुरुजनों से होती
रहती है। अन्तरात्मा (शुद्ध अन्तरात्मा), शास्त्र (सत्य शास्त्र) व गुरुओं (तत्त्ववेत्ता
गुरुओं) का विधि-निषेधपरक समर्थन या असमर्थन ही शुद्ध या अशुद्ध दर्शन
के ज्ञापक माने गए हैं।

साधना पथ

वे लोग धन्य हैं जो शुद्ध दर्शन में ही रहते हैं। हम जो चाहते हैं वही पाते हैं, पर चाहत कभी भी दर्शन से विपरीत नहीं होती। चाह सदा-सर्वदा-सर्वत्र दर्शन के अनुरूप ही होती है। इसलिए सब से पहले जो करने योग्य काम है वह है अपने अन्दर शुद्ध दर्शन को प्राप्त करने की चाह उत्पन्न करना। वह चाह स्वयं ही आगे का रास्ता खोज लेगी।

ऑपरेशन रूम में जब डॉक्टर प्रवेश करता है, तो अपना पूरा प्रबन्ध करके घुसता है कि रोगों के कीटाणु उसके शरीर में प्रवेश न कर जाएँ। ठीक उसी प्रकार, इस संसार में रहते समय ज्ञान-कवच धारण करके मनुष्य को रहना चाहिए। अपनी आँख, नाक, कान, मुख, मन आदि पर ज्ञान व सतर्कता की पट्टी लगाकर विचरना चाहिए। न जाने किस मार्ग से विषय-कीट अन्दर प्रवेश कर जाएँ और मनुष्य के मन को रुग्ण बना दें। शरीर के रोग तो देर-सवेर ठीक हो भी जाते हैं, पर मन यदि रोगी हो गया तो फिर उसे ठीक कर पाना बड़ा ही जटिल काम हो जाता है। अतः पूर्व सावधानी में ही सुरक्षा है Prevention is better than cure. रोगी पड़कर ठीक होने की बजाय क्यों न ऐसा उपाय किया जाये कि रोग ही न आए।

यह संसार तो हर प्रकार से मनुष्य को उत्तेजित करने के लिए तैयार रहता है। साधक की कुशलता इसी में है कि वह कैसे भी अपने आप को अनुत्तेजित रखे। प्रतिक्षण सजग, चौकन्ना (Alert), सचेत व प्रमादरहित व्यक्ति विषम से विषम परिस्थितियों में भी सहजता से पार हो जाता है। अभिमान से ही प्रमाद की शुरुआत होती है, अतः विनाश या सर्वनाश की जड़ इस अभिमान से बच कर रहना चाहिए।

साधक! सावधान! बस अपनी यात्रा में चलता चल। यह बिल्कुल मूर्खता से भरी बात है कि मैंने अमुक विषय में पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

एक मनुष्य है जब धूप सताने लगती है तो किसी वृक्ष की छाया में आकर बैठ जाता है। कुछ देर में ही वह धूप के कष्ट को भूलकर पुनः धूप में

शुद्ध ज्ञान— हमारा सच्चा पथप्रदर्शक

पहुँच जाता है। पर धूप तो धूप ही है, वहाँ लम्बे समय तो क्या थोड़े समय भी ठहरना कठिन हो जाता है और पुनः छाया को ही अपनी शरण देखता है। इस प्रकार धूप से छाया और छाया से धूप— यही उस मनुष्य का जीवन क्रम बन जाता है। यह छाया और धूप क्या है? इसे अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए— विषयों की गर्मी जब व्यक्ति को जलाने लगती है तो दौड़कर भगवान् की शरण, शास्त्र की शरण, गुरुजनों की शरण या आत्मा की शरण में आ जाता है, पर कुछ देर में ही भूल जाता है कि विषयों ने तुझे झुलसा दिया था, विषयों की आग को सहन न कर पाने के कारण ही उधर से भागा था और पुनः उसी आग में अपने को झोंक देता है। बार-बार अपने को जलाना और उस पर मरहमपट्टी करना, फिर जलाना, फिर ठीक करना और इसे जलाते रहना तथा उपचार करना, क्या यह बुद्धिमान् मनुष्य का लक्षण है?

बुद्धिमान् मनुष्य तो उसे ही कहना चाहिए— जिसने एक बार देख लिया कि यह आग है और आग का काम है जलाना, तो फिर उसमें सदा-सदा के लिए हाथ न डाले। यही है सच्चा वैराग्य। जिसे पैदा करने के लिए हम यहाँ हैं। कुछ लोग कह देते हैं कि ऐसा वैराग्य तो स्वतः ही पैदा होता है, पैदा किया नहीं जाता। पर यह बात ठीक नहीं। सतत दुःखदर्शन (जो कि यथार्थ है) करते-करते वैराग्य का जन्म हो सकता है।

आज धातुवृत्ति पढ़ते समय निरुक्त के एक मन्त्र की तरफ ध्यान गया—

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।

न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ।। (ऋग्वेद १.७.७)

भगवान् के एक-एक दान पर विचार करता हूँ तो समाप्ति पर नहीं पहुँचता।

एक है मनुष्य की निम्नप्रकृति व दूसरी है उच्चप्रकृति (परा-प्रकृति)। दोनों प्रकृतियों के सत्य पृथक्-पृथक् हैं। चुनाव हमारे हाथ में है, हमें क्या चाहिए? यदि मनुष्य चाहे तो प्रकृति का पूर्ण परिवर्तन सम्भव है, हाँ! मन की अबाधित अभीप्सा से ही यह कार्य सम्भव है। जब तक अपरा प्रकृति से परा

साधना पथ

प्रकृति में रूपान्तरण (Transformation) नहीं हो जाता, मनुष्य का मन निम्न प्रकृति के सत्य में ही रमा रहना चाहता है। जब मन भूतकाल की सुखद या दुःखद घटनाओं को दोहराता है तो समझना चाहिए कि निम्नप्रकृति की क्रियाओं में ही मन को रस आ रहा है।

जब हम किसी वृक्ष पर चढ़ते हैं तो जब तक हमारा प्रयास बराबर बना रहता है तब तक हम चढ़ते रहते हैं, पर यदि प्रयास छोड़ बैठते हैं तो वहीं रुक जाते हैं या जहाँ से चढ़ना प्रारम्भ किया था, वहीं पहुँच जाते हैं। अतः प्रयास की अपनी बहुत बड़ी महत्ता है। प्रयास का ही दूसरा नाम 'अभ्यास' है। गुरुपदेश, शास्त्रोपदेश अथवा सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज है वह है अपना अनुभव; उस अनुभव से जब एक बार किसी दुःख से मुँह मोड़ लिया तो पुनः उस तरफ न जाने का नाम है 'वैराग्य'।

मन की अत्यन्त गम्भीर, शान्त, शालीन व सौम्य स्थिति में ही सुख है। मन की अचञ्चल अवस्था में साधक को ध्यान से देखना या अनुभव करना चाहिए कि इस अवस्था में कितना अद्भुत सुख है। सांसारिक जनों का दर्शन अलग है, वहाँ तो विभिन्न आलम्बनों के द्वारा मन और इन्द्रियों को उत्तेजित करना, मन व इन्द्रियों के लिए मन व इन्द्रियों द्वारा चाही गयी चीजों को जुटाकर प्रस्तुत करना— बस! यही एक मात्र सुख का साधन माना जाता है।

दृष्ट या अनुभूत का ही दूसरा नाम 'ज्ञान' है। वह शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। जो चीज जैसी है उसे वैसा ही देखना या वैसा ही अनुभव करना 'शुद्ध ज्ञान' का लक्षण है। अपने मन के विचार या कल्पना के अनुसार आग्रहपूर्ण देखना— कभी भी शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। आन्तरिक सजगता से मनुष्य प्रतिक्षण शुद्ध ज्ञान की स्थिति में रह सकता है।

जब तक आँखें संसार की तरफ से बन्द रहती हैं, तब तक ही ज्ञान बना रह सकता है। स्रष्टा से अलग केवल सृष्टि को देखना अवश्य ही अज्ञान को जन्म देगा। दृष्टि के साथ द्रष्टा संयुक्त रहे तथा सृष्टि के साथ स्रष्टा को देखते

शुद्ध ज्ञान— हमारा सच्चा पथप्रदर्शक

रहें तो अज्ञान को अवकाश नहीं। हमें केवलमात्र दृष्टि व सृष्टि का मेल होने से बचाना चाहिए। दृष्टि व सृष्टि का मेल होते ही भोग प्रारम्भ हो जाता है। द्रष्टासंयुक्त दृष्टि से स्रष्टासंयुक्त सृष्टि को देखने में भोग का कोई स्थान नहीं। या फिर द्रष्टा स्रष्टा को देखता रहे— यही वैराग्य है। अमृत का आधार वह ब्रह्म है जो सर्वत्र एक रस भरा हुआ है। अमृत के उस स्रोत के साथ जब तक सम्पर्क बना रहता है, मनुष्य क्लेशरहित अवस्था में रहता है। कामना, स्वार्थ व इन्द्रियों की मांगें मनुष्य को उस मूलस्रोत से हटा देती हैं। यही मनुष्य की अज्ञानमय अवस्था है। मूलस्रोत के साथ जुड़े रहने का नाम ही ज्ञान है। यही वैराग्य है।

हमारे अस्तित्व के केन्द्र में अमृत तत्व का वास है, हम जब तक उस केन्द्र में बने रहते हैं— योगमय स्थिति में रहते हैं। केन्द्र से जब परिधि में आ जाते हैं तो भोग शुरू हो जाता है। परिधि अर्थात् मन व इन्द्रियाँ।

- जहाँ विकल्प है वहाँ पूर्ण समर्पण सम्भव नहीं।
- विकल्पों की समाप्ति से ही सङ्कल्प एवं निष्ठा दृढ़ होती है।
- विकल्पों की समाप्ति होना ही तो एकाग्रता है।
- हमारे समक्ष बहुत-सारी चीजें हैं— पदार्थ, विविध कर्म (सप्रयोजन क्रियायें) शान्ति, ज्ञान इत्यादि। जिसको जितना महत्त्व दिया जाता है उसी अनुपात में वह उपलब्ध होता है।
- महान् आत्माओं का आश्वासन है— सघन अन्धकार के बाद ही उषा आती है। उषा से तात्पर्य है प्रकाश का आगमन।
- कभी भी क्रोध की अवस्था में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए तथा अति प्रेम की अवस्था में कोई किसी के साथ वादा नहीं करना चाहिए।

४०४०४०४

२. पथ का मित्र— प्रकाश व जागरूकता

क्षणभर के लिए भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार को स्थान मिल गया तो फिर इन्हें हटाना या भगाना एक कठिन कार्य हो जाता है। यह एक शाश्वत और सार्वत्रिक नियम है कि जिस किसी का भी स्वागत होगा वह पुनः पुनः आयेगा, बिना बुलाया हुआ भी आयेगा और जिसका तिरस्कार किया जायेगा, जिसके प्रति उदासीनता का रुख अपनाया जायेगा— वह फिर आँख उठाकर भी उधर नहीं देखना चाहेगा। पूर्ण जागरूक, अचञ्चल व अप्रमादयुक्त मन ही इन शत्रुओं के आगमन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। शास्त्रकार कहते हैं— यज्ञ करते समय शत्रु का पुनः पुनः आक्रमण होता है, अतः प्रमादरहित होकर शत्रुओं को देखते रहना चाहिए। शत्रु चोर की तरह या डाकू की तरह दोनों ही तरीके से आ सकता है। चाहे जिस रूप में भी आए— चोर दो बातों से बहुत अधिक डरता है— प्रकाश से और सजगता से। इन दोनों की उपस्थिति में बड़े से बड़े चोर भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते— यह एक अनुभूत सत्य है। जिसके ये दो पहरेदार नहीं हैं— उसका घर तो यूँ ही लुटता रहेगा, उसे लुटने से कौन रोक सकता है!

साधक संसार को महत्त्व देता है, जगह देता है और उससे अलग भी रहना चाहता है— ये दोनों बातें एक समय में एक साथ कैसे हो सकती हैं? महत्त्व न देने का अर्थ है, उससे पूर्ण उदासीन हो जाना। जब तक संसार में किञ्चित् मात्र भी सुख दिखाई देता है, तब तक उससे पूर्ण उदासीनता या उपरामता होना असम्भव है। संसार से तात्पर्य है— जो कुछ भी व्यक्ति देखता है, चखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, सूँघता है अथवा मन के द्वारा इन सब विषयों का चिन्तन करता है, मान-सम्मान, धन या पद की इच्छा, शक्ति (Power) पाने की चाह— ये सब संसार के ही विविधरूप हैं।

अज्ञान से युक्त होने पर जीवात्मा का यह स्वभाव है— जिन चीजों में सुख देखता है उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध और जिनमें दुःख देखता है

पथ का मित्र— प्रकाश व जागरूकता

उनके साथ द्वेषात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। आकर्षण-विकर्षण, प्रियता-अप्रियता के भाव में रहने का अर्थ है सांसारिक वृत्ति में रहना, निम्नप्रकृति में रहना। आध्यात्मिक पुरुष इसे ही 'अज्ञान' कहते हैं। अज्ञान में पूर्ण सुख कैसे हो सकता है? पूर्ण सुख तो ज्ञान का प्रतिफल है। सांसारिक सुख व सुख के साधनों तथा दुःख व दुःख के साधनों के प्रति पूर्णतः उदासीन भाव ही साधक के लिए श्रेयस्कर है। उदासीन भाव का अर्थ है— मन का पूर्ण शान्त भाव, आकर्षण-विकर्षण से मुक्त भाव। यही मन की समस्थिति=समता कही जा सकती है। इसे ही प्रबुद्ध लोग 'विषयों से अप्रभावित मन' यह नाम देते हैं। इसे पूर्णरूप से जागे हुए मन का परिणाम भी कहा जा सकता है। ज्ञानी पुरुष इसे ही 'वैराग्य' कहते हैं। दुःख व क्लेश से सर्वथा मुक्त होने की बड़ी हुए चाह से ही इस निर्मल वैराग्य की प्राप्ति हो सकती है। जिनको एक क्षण के लिये आया हुआ दुःख भी पहाड़ जैसा दिखाई देता है, वे— केवलमात्र वे ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये परमपुरुषार्थ करने में प्रवृत्त हो सकते हैं। अन्यथा क्यों इतना एकाग्र रहना चाहेंगे, क्यों अपनी आंखें संसार की तरफ से बन्द रखेंगे?

जिस ग्राम में या घर में हमें जाना होता है उसी का पता पूछते हैं, दूसरे ग्राम अथवा घरों के बारे में कोई पूछ-ताछ नहीं करते। इसी प्रकार साधक को भी उन्हीं चीजों की जानकारी लेनी चाहिए, जो उसे चाहिए या जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है। जो चीजें एक क्षण के लिये भी न मिल पायें, उन्हीं के विचार में कोई अपना अमूल्य समय गँवाये, उसे ज्ञानी कहें या अज्ञानी?

जिन वस्तुओं को, व्यक्तियों को, विचारों को साधक ने अपनी उन्नति में अत्यन्त बाधक समझा और जिस आचरण, क्रिया-कलाप या दूसरों के प्रति अपने व्यवहार को दुःखदायी और क्लेशों को बढ़ाने वाला समझा उससे हट गया। कुछ समय बाद वही साधक उन्हीं विचारों, क्रिया-कलापों में फँस जाए तो क्या स्वयं ही वो व्यक्ति पतन को स्वीकार नहीं कर रहा है? चुनाव तो हर परिस्थिति में व्यक्ति के अपने ही हाथ में होता है— वह प्रकाश में खड़ा हो या

साधना पथ

अन्धकार में, धूप में रहे या छाया में, धर्म में अपने को खड़ा रखे या अधर्म में, आसक्त रहे या अनासक्त, क्रोध में रहे या शान्ति में, ज्ञान में रहे या अज्ञान में, सत्यरूपी पर्वत के उच्चशिखर पर विराजमान रहे या असत्यरूपी रसातल के गहरे गर्त में, ध्यानावस्थित रहे या चञ्चल, रागी बनकर रहे या विरागी, प्रेम में रहे या घृणा और द्वेष में, शान्त रहे या अशान्त, सुख-दुःख से ऊपर उठकर रहे या इनमें लिप्त होकर रहे, लोभी बनकर रहे या निर्लोभी, विनम्र रहे या अहंकारी, दयावान् रहे या निर्दयी, संसार में ही रमा रहे या उससे आँखें मीच ले, प्रमाद में रहे या अप्रमाद में, संयमी रहे या असंयमी, आलस्य में रहे या पुरुषार्थ में, देव, द्विज व गुरुओं का पूजन करे या अपूजन, उनमें श्रद्धा रखे या अश्रद्धा। जो हम चाहेंगे वैसा कर सकेंगे, पर उसका फल भी हमें ही भोगना पड़ेगा— अच्छा या बुरा।

जो व्यक्ति प्रतिक्षण जागरूक नहीं है, शत्रु कभी भी उसके घर में घुस सकता है। अतः अपने आप को शत्रु के आक्रमण से बचाने के लिए अथवा बचाये रखने के लिए मरणपर्यन्त हर दिन, हर मिनट पूर्ण जागरूक होकर जीना ही पड़ेगा। और यह जागरूकता किसी भी व्यक्ति के लिये भार बनकर कष्ट देने वाली चीज नहीं है क्योंकि यह स्वतः अङ्गीकृत है, किसी के द्वारा बाहर से हमारे ऊपर थोपी हुई नहीं है।

जागरूकता हमारे अस्तित्व का सहज धर्म है, चञ्चलता या प्रमाद असहज है। जैसे कि जल का सहज धर्म तो शीतलता व निम्न प्रदेश में बहना है, उष्णता व ऊपर को चढ़ना प्रयत्नसाध्य है। किसी निमित्त के उपस्थित होने से ही जल में उष्णता आती है व ऊपर को चढ़ता है अन्यथा जल शीतल ही बना रहता है तथा नीचे को बहता रहता है। इसी तरह संसार रूपी निमित्त से चञ्चलता या प्रमाद (भुलावा) उत्पन्न हो जाता है। संसार को न देखें या न दिखाई दे तो न चञ्चलता होगी और न प्रमाद। जागरूकता ही शेष रह जाएगी और एकमात्र उस जागरूकता में ही अमृत, अमिश्र आनन्द, शाश्वत-शान्ति, पूर्ण तृप्ति, परम मुक्ति, अभय, अविच्छिन्न-अबाधित स्वतन्त्रता, सरलता व ज्ञान की पराकाष्ठा का वास है।

पथ का मित्र— प्रकाश व जागरूकता

जागरूकता में संयम स्वतः सिद्ध है और इसलिए जागरूक व्यक्ति को संयमी बने रहने में कोई कष्ट नहीं। विषयों की तरफ दौड़ते हुए मन व इन्द्रियों को रोकने में कष्ट हो सकता है, बल्कि होता ही है, पर जागरूकता में वे स्वतः रुके रहते हैं— रोके नहीं जाते।

जागरूक स्थिति में धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, सु और कु, नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, पवित्र-अपवित्र, सुख व दुःख, आत्म-अनात्म, एक शब्द में कहें तो ज्ञान व अज्ञान की भिन्नता का सहज बोध बना रहता है, अतः साधक ज्ञान में ही रहता है, अज्ञान से प्रभावित नहीं होता।

जब व्यक्ति को ये सब उपर्युक्त चीजें आपस में मिली हुई प्रतीत हों, इनकी पृथक्ता का बोध न हो, आत्म-नियन्त्रण कष्टदायक लगे और स्वच्छन्दता सुखदायक, मन व इन्द्रियाँ विषयों में दौड़ लगाने लगे तो समझ लेना चाहिए कि जागरूकता भङ्ग हो गयी है। यह जागरूकता ही है जिसमें जीवन पुष्प की तरह अन्दर से खिलता रहता है।

* * *

- साधक! तू जरा अपनी स्वाभाविक माँग को पहचान, उसके बिना तृप्ति नहीं है, केवल व्यर्थ भटकना मात्र है।
- स्वाभाविक माँग (मूल-माँग) सबकी एक सी होती है, वह सार्वभौम होती है, व्यक्ति से व्यक्ति में उसकी भिन्नता नहीं होती, न तो उसमें कुछ ऊपर से जोड़ा जा सकता है और न ही उसमें से कुछ घटाया जा सकता है। वह एकदम सुनिश्चित होती है, या तो वह पूर्ण होती है या अपूर्ण; स्वाभाविक माँग की इससे अलग तीसरी स्थिति नहीं होती।
- हम सबकी एक ही स्वाभाविक माँग है— ज्ञान व समाधान। इससे आगे जो कुछ कहा जायेगा वह इसी का विस्तार स्वरूप होगा अथवा इसका ही परिणाम रूप होगा। शाश्वत सुख, पूर्ण स्वाधीनता, पूर्ण स्वराज्य, पूर्ण निर्भयता, पूर्ण विनय, पूर्ण प्रेम, मन व ज्ञान की अखण्डता ये सब उसी के दूसरे पहलू हैं।

४०४०४०४

३. विवेक विचार

क्रूरता बहुत बुरी चीज है, हम इसे दया व करुणा का विपरीतार्थक समझ सकते हैं। क्रूर व्यक्ति महास्वार्थी व अत्यन्त स्वेच्छाचारी होता है। उसे दूसरे के सुख-दुःख से कुछ लेना-देना नहीं होता। बस! जो उसके मन में आए वो पूरा होना चाहिए। क्रोध में तो साक्षात् क्रूरता का खुला दृश्य देखने को मिलता है और सामान्य रूप से यही समझा जाता है कि क्रोध और क्रूरता पर्याय जैसे हैं या फिर क्रोध का परिणाम क्रूरता है, पर वस्तुतः दया व करुणा के अभाव का नाम ही क्रूरता है। या तो व्यक्ति का हृदय दया और करुणा से ओत-प्रोत होता है या फिर क्रूरता से। जैसे जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अन्धकार नहीं होता है और यदि अन्धकार है तो इसका यही अर्थ होता है कि प्रकाश नहीं है। ऐसे में क्रोध का परिणाम क्रूरता नहीं, बल्कि क्रूर हृदय का परिणाम क्रोध है और केवल क्रोध ही नहीं, सब का सब निषेधवर्ग क्रूर हृदय का ही परिणाम है। कामी, लोभी, मोही, अहंकारी व्यक्ति क्या कम क्रूर होते हैं? क्रूर व्यक्ति कभी भी हानिरहित (Harmless) नहीं हो सकता। वह कुछ भी बुरा कर सकता है। उसके मन में ही नहीं आ सकता कि जो कुछ तू कर रहा है, इससे किसको कितना कष्ट हो जाएगा? जिनके हृदय में दया-करुणा व प्रेम भरा होता है केवलमात्र वे लोग ही ऐसा सोच सकते हैं कि मेरे आचरण, व्यवहार या वाणी से किसी को कष्ट न हो, हानि न हो। क्रूरता में विनाश के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हम किसी का सहयोग करना चाहते हैं तो अपने हृदय में दया, करुणा व प्रेम का विकास करना ही पड़ेगा। जिस चीज की बार-बार इच्छा की जाती है या जिसकी ओर बार-बार ध्यान दिया जाता है, वह हमारे अन्दर विकसित होती जाती है— उससे विरोधी भावना धीरे-धीरे कमजोर पड़ती जाती है और एक समय आता है जब वह समूल ही नष्ट हो जाती है। क्रूरता का परिणाम पूर्ण विनाश है, अपना भी और दूसरों का भी। अतः इसके प्रति अत्यन्त सजग रहने की आवश्यकता है।

विवेक विचार

एक व्यक्ति ने किसी कार्य, व्यवहार, आचरण को या किसी विचार को कष्टदायक, अपने अथवा दूसरों के लिए हानिकारक समझ लिया, यहाँ तक समझ लिया कि अमुक व्यवहार-आचरण या विचार में व्यक्ति और समाज दोनों का महान् विनाश छिपा हुआ है, इस समझ के कारण कुछ समय के लिए उस विनाशकारी आचरण से हटा भी रहा। जब विनाशकारी आचरण से हटता है तो उसका निश्चय बहुत अधिक दृढ़ होता है, यहाँ तक सोच लेता है कि अब सदा-सदा के लिये यह काम नहीं करूँगा। यथा किसी भी व्यक्ति से बहस नहीं करूँगा, चाहे कैसी भी विषम से विषम परिस्थिति आये बाह्य हानि उठाकर भी क्रोध नहीं करूँगा, किसी भी अवस्था में अपने अहं को बीच में नहीं आने दूँगा, इन्द्रियों के विषयों से प्रभावित नहीं होऊँगा, किसी भी भौतिक लाभ के कारण लोभ में नहीं फँसूँगा, आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा, मन की चञ्चलता से होने वाली हानियों को मैंने ठीक से समझ लिया है अतः अब कभी भी मन को चञ्चल नहीं होने दूँगा— मन को सदा शान्त ही रखूँगा, जागरूक रहूँगा, हर परिस्थिति में वाणी का संयम बनाये रखूँगा, अपने और दूसरों के लिए हानि रहित होकर जीऊँगा.....।

इतना सब विचार करने के बाद भी व्यक्ति के संकल्प टूटते हुए क्यों देखे जाते हैं? क्यों व्यक्ति को अपने ही द्वारा किया गया निश्चय स्मरण नहीं रहता? पुनः उसी दुःखदायी व्यवहार में क्यों व्यक्ति फँस जाता है? व्यक्ति के अस्तित्व की माँग 'सुख' होते हुए भी सुनिश्चित रूप से दुःख बढ़ाने वाले आचार-विचार-आहार-व्यवहार को वह क्यों प्रश्रय देता है? करुणा, दया व प्रेम का महत्त्व स्वीकार करके भी क्रूरता का क्यों आलिंगन करता है? संयम व तप को जीवन का सार मानते हुए भी क्यों असंयमी हो जाता है? बहस की व्यर्थता को समझ कर भी क्यों बात-बात में बहस करता रहता है? सत्य, हित व मित भाषण का महत्त्व जानकर भी क्यों इस पर आरुढ़ नहीं रह पाता? खान-पान के दोष से होने वाले शारीरिक कष्टों को देखकर भी क्यों अनदेखा कर देता है? अमरत्व से परिचित होकर भी क्यों मृत्यु का वरण करता है?

साधना पथ

विषय-भोग रूपी धूप की जलन से तंग आकर भगवत्-शरण रूपी छाया में पहुँचकर भी क्यों उस विषय रूपी आग में जाकर खड़ा हो जाता है? अमृतपान के आनन्द को लेकर भी क्यों विषपान करने में प्रवृत्त हो जाता है? योग की शान्ति से सुपरिचित होकर भी क्यों भोगों की अशान्ति में अपने को डाल देता है? धर्म-वैराग्य व ज्ञान के महत्त्व को अपने अन्दर बिठाकर भी क्यों अधर्म-अवैराग्य व अज्ञान का शिकार हो जाता है? अपने ऐश्वर्यशाली रूप को जानकर भी क्यों खोखला सा अनुभव करने लग जाता है? क्षमा की महत्ता स्वीकार करके भी असहनशील क्यों हो जाता है? धैर्य से लाभ लेकर भी क्यों अधैर्य में चला जाता है? सरलता से मिलने वाली अपार शान्ति को पाकर भी क्यों कुटिलता को अपना लेता है? संतोष धन को पाकर भी क्यों असंतोष की अग्नि में जलने लग जाता है? तृप्ति से अतृप्ति में क्यों चला जाता है? जागरूकता से मिलने वाले सहज आत्मानुशासन में ही क्यों नहीं स्थिर रह पाता? प्रमाद से होने वाली हानियों से अवगत होकर भी क्यों प्रमादी हो जाता है? सत्संग के अपार सौन्दर्य को देखना क्यों बन्द कर देता है और क्यों उससे हटकर कुसंग की अश्लीलता में रमने लगता है---- ? ये जीवन की ज्वलन्त समस्याएँ हैं— इनका समाधान होना ही चाहिए, यदि इनका समाधान न हो पाया और जैसा भी चल रहा है वैसा ही चलता रहा तो इसी को उपनिषद् के ऋषियों ने 'महती विनष्टिः' कहा है। महान् सौभाग्य या महान् विनाश हमारे ही हाथ में है। पहले अपनी चाहत को एकदम स्पष्ट करना है। यह देखना है— इन दोनों में से कौनसी एक चीज मुझे चाहिए।

यह पूर्ण सत्य है कि दोनों तो मिलने से रहीं, एक ही मिल पायेगी। मिलेगी वो जो हम चाहेंगे। यदि विनाश को, मृत्यु को, विषपान को, अन्धकार को, अब्रह्मचर्य को, असत्य को, कुटिलता को, अतृप्ति को, चञ्चलता को, असहनशीलता को, अधैर्य को, अविवेक को, विषयासक्ति को, अहंकार को, असंयम को, बहस को, आलस्य व प्रमाद को, एक शब्द में कहें तो समस्त अशुभ को यदि नहीं चाहते तो एक-दो या दस-बीस दिन इन्हें न चाहने से काम नहीं चलेगा, सदा-सदा के लिए क्षण-क्षण में न चाहते ही रहना

विवेक विचार

होगा, इस सम्पूर्ण निषेधवर्ग को या अशुभ को सर्वदा-सर्वत्र-सर्वथा न चाहते रहने का ही दूसरा नाम 'वैराग्य' है।

इस वैराग्य की कई अवस्थाएँ हैं। विषयरूपी आंधी से यह वैराग्य दीप बुझता रहता है, जब-जब बुझे- इसे पुनः-पुनः जलाना होता है, या फिर अभ्यासरूपी ज्ञान-प्रकोष्ठ में ही सदा निवास करना होता है जिससे संसार रूपी विषयों की आंधी का कुछ असर ही न हो। ये विषयों की वासनाएं अविद्या (अयथार्थ दर्शन) के कारण; जाति (मनुष्यादि), आयु, भोग के कारण; चित्त में स्थित विविध कुसंस्कारों (कुवासनाओं) के कारण तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि स्थूल आलम्बनों के कारण इकट्ठी होती रहती हैं तथा अधिकाधिक पुष्ट होती रहती हैं (द्र० योगसूत्र 'हेतुफलाश्रया०' ४. ११)। निरन्तर शुद्ध ज्ञान में रहने से शनैः शनैः विषयों की ये सूक्ष्म वासनाएं क्षीण हो जाती हैं, क्योंकि एक शुद्ध ज्ञान, आगे दूसरे शुद्ध ज्ञान को जन्म देता है, शुद्ध ज्ञान से शुद्ध कर्म होते हैं, शुद्ध कर्मों से उपासना शुद्ध होती है। शुद्ध कर्म व शुद्ध उपासना से ज्ञान और अधिक शुद्ध होता जाता है। एक के शुद्ध होने से अन्य दो भी शुद्ध होने लगते हैं तथा इसके विपरीत एक के अशुद्ध होने से अन्य दो भी अशुद्ध ही होते जाते हैं। 'जैसा ज्ञान वैसी कर्मोपासना, जैसी कर्मोपासना वैसा ज्ञान' इस समीकरण के अनुसार कर्म व उपासना का आरम्भ ज्ञान से होता है व परिसमाप्ति भी ज्ञान में ही होती है। ज्ञान का महत्त्व यदि हमारे मन में अच्छी प्रकार बैठ जाये तो ज्ञान में ही स्थित रहने के लिए हम तैयार हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही तो चाहता है कि वह दुःख में न रहे या उसे दुःख न आएँ। सो ज्ञान ही एकमात्र वह साधन है, जिससे दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो सकता है।

- जिसने अपनी ज्ञान-समाधान रूप अन्तर्निहित पूर्णता को पहचान लिया वह सामञ्जस्य (Synergy / Harmony) में जीने लगता है।
- अन्तर्विरोध (Contradiction) क्या है? अपनी माँग और अपने जीने में एकरूपता का न होना। परम सुख क्या है? अन्तर्विरोध का न होना।

४०४०३३

४. अस्तित्व की माँग

ज्ञान का शुद्ध रूप यही है कि जो चीज जैसी है वो वैसी ही दिखाई दे, वैसी ही अनुभूत हो। सुख में दुःख बुद्धि और दुःख में सुख बुद्धि, अनित्य में नित्य तथा नित्य में अनित्य, पवित्र में अपवित्र और अपवित्र में पवित्र, अनात्मा में आत्मा तथा आत्मा में अनात्मा रूप विपरीत बुद्धि न हो। 'जितने भी सांसारिक विषय हैं वे सब आपातरमणीय हैं और परिणाम में दुःखदायी हैं'— यदि ऐसी समझ है तो 'ज्ञान' कहा जायेगा। जब व्यक्ति के मन में आधी बात रह जाती है कि 'विषयों में बड़ा रस है' तथा दूसरी बात तिरोहित हो जाती है कि 'ये परिणाम में दुःखदायी हैं' तो इसे ही 'अज्ञान' कहते हैं। एक क्षण के लिये भी अज्ञान आता है तो वह तुरन्त हजारों अण्डे छोड़ देता है और उससे प्रभावित होकर कर्म व उपासना भी वैसे ही हो जाते हैं। शुद्ध ज्ञान में बने रहने के लिये जो यत्न किया जाता है— इसी का नाम 'अभ्यास' है। अभ्यास का फल तो पूर्ण वैराग्य है।

ज्ञान प्राप्ति के दो साधन बताये जाते हैं— 'अभ्यास व वैराग्य', लेकिन बिना वैराग्य के अभ्यास हो ही नहीं सकता। एक अर्थ में वैराग्य से अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है— उधर अभ्यास से वैराग्य को बल मिलता जाता है, इस प्रकार ज्यों-ज्यों वैराग्य बढ़ता है अभ्यास सुकर होता जाता है, कष्टदायक प्रतीत नहीं होता, साधक का संसार के विषयों पर वश प्राप्त करने का हौसला बढ़ता जाता है, उत्साह में अपार वृद्धि होती जाती है, जीवन अपने आप में धन्य सा प्रतीत होने लगता है, मन की चञ्चलता क्षीण होती जाती है। जैसे मशाल के साथ अग्नि का सम्पर्क होते ही मशाल प्रचण्ड आग का रूप धारण कर लेती है, वैसे लौकिक व्यक्ति के मन व इन्द्रियाँ आलम्बनों को पाकर चञ्चल हो उठते हैं, पर वैराग्यवान् के मन व प्राण आलम्बनों को पाकर भी शान्त बने रहते हैं, प्रलोभन निष्प्राण हो जाते हैं। उसका मन समस्त प्रलोभनों से इतना अप्रभावित रहता है जैसे कि कोई शाकाहारी मांस से, शराब न पीने वाला

अस्तित्व की माँग

शराब से, या कोई व्यायामप्रिय रोग से अप्रभावित रहता है। मरण व जीवन उसके लिए एक समान हो जाते हैं। जहाँ संसार में रचे-पचे व्यक्ति के लिये धन, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, अपने-पराये का भेद ये जीवन का समस्त सार होते हैं और उसे इनकी हानि से जीवन ही नष्ट हुआ प्रतीत होता है, वहाँ वैराग्यवान् के लिए ये सब चीजें तुच्छ हो जाती हैं, जैसे कि एक हृष्ट-पुष्ट पूर्ण युवा के लिए ५-१० किलो वजन उठाना। जिन चीजों पर विजय पाना व संयम करना सांसारिक व्यक्ति को पहाड़ जैसा दिखाई देता है, वे चीजें एक वैराग्यवान् को ऐसी लगती हैं जैसे कि कुछ है ही नहीं। पर जब तक वैराग्य दृढ़ नहीं होता तब तक अभ्यास करने में कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। संसार की ओर से, वैषयिक सुखों से, प्रलोभन से, मान-सम्मान से, वैभव एवं प्रतिष्ठा से अपनी आँखें बन्द करनी पड़ती हैं, आँखें स्वतः बन्द नहीं रहती हैं। विषयों से या प्रलोभनों से सहज उपरति तो वैराग्य की उच्चतम अवस्था में ही होती है। पर उस स्थिति तक पहुँचाने वाला साधन अभ्यास व अपर वैराग्य दोनों ही हैं। यह सारा पुरुषार्थ अपने अन्दर ही जागरूकता के रूप में करना पड़ता है। अभ्यास की पराकाष्ठा ही पूर्ण जागरूकता है और इस पूर्ण जागरूकता में ही वैराग्य या शुद्ध ज्ञान फलित होता है।

- ध्यान क्या है? कामनाओं से मुक्ति, अकाम हो जाना, अचाह हो जाना।
- वीरता क्या है? आध्यात्मिक जीवन रूपी पर्वत के शिखर पर चढ़ते समय निराशा का न आना।
- शान्ति क्या है? मन व इन्द्रियों का अपने केन्द्र से जुड़े रहना।
- सत्यनिष्ठ व्यक्ति की यह जीवन रूपी नदी 'कठिनाई और सन्तोष' रूपी दो पाटों के बीच बहती है जबकि सामान्य व्यक्ति की इस जीवनरूपी नदी के 'सुख व दुःख' ये ही दो किनारे होते हैं।

४०४०७७७

५. मूल प्यास— अध्यात्म में विश्राम

छोटे बच्चे कुएँ के पास खड़े होकर तिनके, ढेले या पत्थर डालते रहते हैं, ऐसा करने में उन्हें रस आता है, आनन्द आता है। ऐसा ही एक बालक जो बाल्यकाल में ही अपने माँ-बाप से वियुक्त हो गया, उसके घर पर भी एक कुआँ था, खेल-खेल में प्रतिदिन वह बच्चा भी उस कुएँ में कुछ न कुछ डालता रहता। बीच-बीच में कुछ हितैषी लोग मना भी करते, पर जैसे कि कुछ बालक बड़ों का कहना नहीं मानते, वह भी किसी की बात नहीं सुनता और वही सब करता रहा। धीरे-धीरे वह कुआँ यहाँ तक भर गया कि पानी ही समाप्त हो गया। बच्चा भी समय के हिसाब से बड़ा हो गया, अब उसे आजीविका की चिन्ता होने लगी। जब आवश्यकता अपनी पराकाष्ठा में होती है तो व्यक्ति जैसे-तैसे कोई न कोई रास्ता ढूँढ ही लेता है। उसे भी यह समझ आ गयी कि अब तक जो कुछ तूने किया, वह सब ठीक नहीं किया। अब तो पुनः जल प्राप्त हो ऐसा कुछ प्रयत्न किया जाए, जिससे कृषि आदि कर सकूँ और आजीविका चल सके। कोई भी विचारशील व्यक्ति अनुमान कर सकता है, उस व्यक्ति को कितना पुरुषार्थ करना पड़ा होगा। कितना कष्ट उठाना पड़ा होगा।

जीवन के साथ भी यही सब कुछ होता रहता है। व्यक्ति जब अबोध होता है तो वह अपने मनरूपी इस कुएँ में न जाने क्या-क्या डालता रहता है? काँच के टुकड़े, पत्थर, रोड़े, घास-फूस, मल-मूत्ररूपी ऐन्द्रियिक वासनायें, हिंसा, असत्य, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, अहंकार आदि। खेल के क्षणिक सुख में मस्त होकर अपने मन को सारी की सारी अनावश्यक चीजों से भर देता है। जब भी कभी यह होश आ जाए कि मैंने अपने मनरूपी कुएँ में अब तक जो कुछ डाला— वह उस शीतल जल रूपी शाश्वत आनन्द को पाट देने वाला था, बस यहीं से आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत होती है। निश्चय ही ठीक से यदि इतना समझ आ गया है तो वह व्यक्ति आगे और अधिक ऐसी सब चीजें मन में डालना बन्द कर देगा तथा उन अनावश्यक वस्तुओं से भरे हुए मनरूपी

मूल प्यास- अध्यात्म में विश्राम

कुएँ को खोदना व साफ करना प्रारम्भ कर देगा, खोदत व साफ करते समय दूसरा कुछ ऊपर से मन में डाले तो हर क्षण सजग वह साधक अपने मन-रूपी कुएँ में कोई भी आवेग रूपी कचरा दूसरे को डालने नहीं देगा व अपने स्वच्छता-अभियान को जारी रखेगा।

यहाँ एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि जैसे भौतिक रूप से कुआँ खोदते समय कठिनाइयाँ आती हैं और विशेष रूप से उस कुएँ को खोदने में जिसमें बड़े-बड़े भारी पत्थर व काँच के टुकड़े पड़े हों तथा जिसकी परत (Layer) बहुत कठोर (Hard) हो, भूमि की तह पत्थर जैसी हो, जो खुदने में ही नहीं आती हो तो अनेक बार ऐसा देखने में आया है कि व्यक्ति हार ही मान बैठता है, अपना विश्वास ही खो बैठता है कि इतना परिश्रम करने के बाद भी पता नहीं जल मिलेगा या नहीं। ये सब बातें ज्यों की त्यों जीवन के क्षेत्र में भी घटती रहती हैं। बल्कि यहाँ उससे अधिक कठिनाइयाँ, उससे अधिक कष्ट-क्लेश-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जिन जीवन-साधकों में अनन्त धैर्य, अनन्त विश्वास, अनन्त निष्ठा होती है, बिना दायें-बायें देखे जो लगे ही रहते हैं वे निश्चित रूप से उस जल को पा ही लेते हैं जिसे पीकर उनकी वह प्यास शान्त हो जाती है जिसके लिए वे तड़प रहे थे।

भौतिक क्षेत्र में कहा जा सकता है कि कदाचित् सफलता न मिले, सुनिश्चितता के विषय में विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर यहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में अनिश्चितता के लिए कोई अवकाश नहीं- सुनिश्चितता ही सुनिश्चितता है। बस! जिस एक चीज की जरूरत है वह है- सच्चाई। सच्चाई में किसी प्रकार की मिलावट नहीं होनी चाहिए। साधना में जब प्रदर्शन या दिखावा आ जाता है तो सच्चाई में एक तरह की मिलावट हो जाती है। हृदय में पूर्ण सच्चाई है तो वह सच्चाई आगे का रास्ता स्वयं खोज लेती है। प्यास जब सच्ची होती है तो वह उसी चीज से बुझती है जिससे वह पूरी होनी हो। सच्ची प्यास दूसरी चीज से कभी भी नहीं बुझ सकती। जैसे एक बालक रोता है तो माँ उसे खिलौना दे देती है और वह उसमें कुछ समय के लिये डूब जाता है, पर थोड़ी देर बाद खिलौने को फेंककर माँ का स्तन्य-पान करने के

साधना पथ

लिये फिर रोना शुरू कर देता है। अब माँ उसे झुनझुना दे देती है— कुछ देर के लिये बच्चा फिर शान्त हो जाता है। पर कुछ काल बाद फिर वही रोना। अब की बार माँ उसे लड्डू दे देती है या शहद चाटने के लिये रख देती है— बच्चा उसका भी रस लेकर फिर रोना-चिल्लाना प्रारम्भ कर देता है और ऐसा आकाश-पाताल एक कर देता है कि दुनिया की किसी चीज से भी संतुष्ट नहीं होता है। जो चीज उसके सामने रखी जाती है उसे फेंक देता है। जब यह स्थिति आ जाती है तो माँ उसे गोद में उठा लेती है और उसको दूध पिलाना शुरू कर देती है। इसी का नाम है 'वैराग्य', प्रलोभनों का अस्वीकार, अपनी माँग के लिए तीव्र अभीप्सा।

जब अपनी प्यास के प्रति व्यक्ति पूर्ण सच्चा हो जाता है तो वह बीच की सारी चीजों को अस्वीकार कर देता है। हमारे और अमृतत्व, स्वतन्त्रता, भगवान्, सत्य अथवा इसे जो भी नाम दें— के बीच कुछ ऐसी चीजें आ जाती हैं जिनके कारण अमृत के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं हो पाता, उन चीजों के स्वीकार होते रहने के कारण साधक अमृत से दूर बना रहता है। इन अस्वीकार्य चीजों को कोई व्यक्ति अशिव, दूसरा कोई अभद्र, तीसरा दुरित, चौथा कुपथ, पाँचवाँ अधर्म, छठा क्लेश, सातवाँ अज्ञान, आठवाँ जुहुराणम् एनः (कुटिलता), नौवाँ मृत्यु, दसवाँ अहंकार और ग्यारहवाँ प्रमाद नाम से पुकारता है। फिर कोई अन्य व्यक्ति इन्हें छल, कपट, ईर्ष्या-द्वेष, आसक्ति, घृणा, अविद्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, पक्षपात, भोगों की लालसा इत्यादि विविध नामों से समझता-समझाता है।

जब तक इनमें से कोई भी एक चीज या अनेक चीजें स्वीकार होती रहती हैं तो साधक जिस अन्तिम चीज के लिये बीच-बीच में इच्छा करता रहता है, वह नहीं प्राप्त होती। यद्यपि एक पक्ष यह भी है कि यदि इच्छा किसी चीज को पाने के लिये अपनी पराकाष्ठा (Peak) पर पहुँच जाए— जैसा कि अभी-अभी एक बच्चे के दृष्टान्त में यह बात उभर कर आयी थी— तो हमारे तथा अमृतत्व या दिव्य जीवन के बीच आने वाली चीजें स्वतः ही अस्वीकृत हो जाती हैं, पर उतनी तीव्र चाह भी तो किसी तरह पैदा हो? जैसे वैद्य लोग

मूल प्यास- अध्यात्म में विश्राम

शारीरिक भूख को बढ़ा देते हैं- इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सुविचार से, विषय-भोगों में दोषदर्शन व दुःखदर्शन से, रोग-शोक-मृत्यु व वियोग में होने वाले कष्ट का समाधान खोजने से, मुक्त जीवन या दिव्य जीवन जीने से प्राप्त होने वाली अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों (बेशक वे क्षणिक ही क्यों न हों) की तरफ ध्यान देने से, सच्चे सुख व झूठे सुख की पहचान होने से या करने से व्यक्ति की भूख बढ़ती जाती है। यह भूख जब तक अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँच जाती जिसका कि अवश्यंभावी परिणाम ईश्वर, सत्य, भगवान्, अमृत या जो कुछ कहें के समक्ष अपनी सम्पूर्ण सत्ता अर्थात् अपने मन, प्राण, इन्द्रियों व हृदय का समग्र आत्मसमर्पण है, उससे पहले मध्यवर्ती चीजों को बलात् अस्वीकार करना ही पड़ेगा।

जिस मन्दिर में हम भगवान्, सत्य अथवा ईश्वर को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं वहाँ से गन्दगी, मल-मूत्र की दुर्गन्ध, अव्यवस्था को हटाना ही पड़ता है और उसके स्थान में स्वच्छता, यज्ञ की सुगन्ध व सब कुछ अलंकृत करना होता है। प्रकृति की आसक्तिपूर्ण मांगों से यह शरीर-मन्दिर या मन-मन्दिर अस्वच्छता, अपवित्रता व दुर्गन्ध से भर जाता है। प्रकृति के आग्रहों से अपने आपको बचाये रखने के लिये ही साधक लोग माया के लुभावने आकर्षणों से अपने आपको दूर रखते हैं। यदि साधक का मन माया के इन प्रलोभनों व आकर्षणों से थोड़ा सा भी प्रभावित होता है और इन्हें अस्वीकार नहीं कर पाता, तो दिव्यजीवन के लिये उसकी यह महायात्रा एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकती। इसे ही 'एक तरफ होना' कहते हैं या तो माया या मायापति। जो हम चाहेंगे वो हमें प्राप्त होगा- माया को चाहेंगे माया मिलेगी, मायापति को चाहेंगे तो वो मिलेगा। इन दोनों में से एक का वरण करने की स्वतन्त्रता तो हमें दी हुई है, पर ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है कि माया व मायापति दोनों मिल जायें। माया का अर्थ है यह संसार या सांसारिक सुख। मायापति का अर्थ है- परमात्मा।

एक बात और गम्भीरता से ध्यान देने योग्य है, इसको जितनी बार दोहराया जाए उतना थोड़ा है। जो व्यक्ति इन दोनों को एक साथ चाहेगा उसे

साधना पथ

दोनों में से एक भी नहीं मिलेगी, क्योंकि जब व्यक्ति अपने मन व प्राण की मौज को पूरा करने में लगेगा तो भगवान् बाधा डालेगा और भगवान् में मन लगायेगा तो मन की मौज बाधा डालेगी। इसी बात को बताने के लिए लोक में यह कहावत प्रचलित हुई है— ‘माया मिली न राम’। अतः राम से मिलने के लिए अपनी मनमौजों को अर्थात् सांसारिक चाह को अस्वीकार करना ही पड़ेगा। जो जीवन-साधक एक तरफ होकर इस रास्ते पर चल पड़ते हैं— उनके लिये यह अध्यात्म पथ बहुत सुगम हो जाता है। एक मात्र भगवान् की तरफ खड़े होना— इसी का नाम ‘वैराग्य’ है।

* * *

- सत्त्व रजस् और तमस् तीनों गुणों को हम इस रूप में देख सकते हैं— तमस् है शक्ति का संगृहीत रूप (Stored energy), रजस् अर्थात् क्रिया, उस क्रिया के द्वारा वह प्रसुप्त शक्ति सत्त्व अर्थात् प्रकाश में बदलती रहती है। सत्त्व का प्रसुप्त रूप तमस् है तो तमस् का जागरित रूप सत्त्व है। बीच में रजस् है जो तमस् के सत्त्व में परिवर्तन होने में मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। क्रिया ठीक-ठीक होती है तो उसी अनुपात में प्रकाश अपने शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम रूप में कार्य करता है। क्रिया मन्द पड़ जाए या आवश्यकता से अधिक होने लगे तो दोनों ही स्थितियों में प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। सहज रूप में गुणों का परिवर्तन चलता रहता है, किन्तु जीव अपनी इच्छा शक्ति से, अपनी एकाग्रता से इन गुणों का एक भिन्न पथ भी निर्धारित कर सकता है, इनको एक भिन्न पथ पर चला सकता है। इसी का नाम साधना है, अभ्यास है, पुरुषार्थ है।

- ज्ञान हो तो मुक्ति या एकत्व; चित्तवृत्तिनिरोध हो तो शक्ति (मनोबल = किसी भी शिव संकल्प का यथेष्ट समय तक मन में रखने की शक्ति); प्रेम हो तो भक्ति=भजन=सेवन=उपयोग; ध्यान या उपासना हो तो ध्येय या उपास्य के साथ तादात्म्य; धर्म हो तो सुख; अधर्म हो तो दुःख, सेवा हो तो सेव्य के हृदय पर विजय ये सब की सब मनुष्य की सहज उपलब्धियाँ हैं।

४०४०४०४

६. दो पक्ष

दो पक्ष हैं— एक ओर है संसार, भोग, वैषयिक सुख, प्रकृति, अल्पता, असत्य, मिथ्यात्व, क्षणिक सुख तथा दूसरी ओर है सत्य, योग, भगवान्, आध्यात्मिक जीवन, ईश्वर, अमृत, अभयपद, मुक्ति या भूमा। जब यह कहा जाता है कि मुझे असत्य से सत्य को, मृत्यु से जीवन को, अन्धकार से प्रकाश को, दुरितों से भद्र को, कुपथ से सुपथ को, कुटिलता से सरलता को, पितृयाण से देवयान को, बन्धन से मुक्ति को, अज्ञान से ज्ञान को, क्षणिक सुख से शाश्वत आनन्द को, भोग से योग को, पृथिवी से द्युलोक को या अल्प से भूमा को प्राप्त करा दो, तो इस प्रार्थना के पीछे एक तथ्य छिपा हुआ है कि दो रास्ते हैं— उनमें से एक पर मैं चलना चाहता हूँ। व्यक्ति या तो इस रास्ते से चल सकता है या उस रास्ते से। तृतीय मार्ग नाम की कोई चीज नहीं है।

खिलाड़ी जब खेल खेलते हैं तो वहाँ भी दो ही पक्ष होते हैं। यद्यपि वहाँ निर्णायक या दर्शक तीसरे कहे जा सकते हैं पर वे तो खेल से बाहर हैं। खेल में जो सम्मिलित हैं वे तो दो ही हो सकते हैं। योद्धा जो युद्ध कर रहे हैं वहाँ भी दो ही पक्ष होते हैं, तीसरा नहीं। अब यह हमारे ऊपर है कि हम राम के सैनिक बनना चाहते हैं या रावण के, दुर्योधन की ओर से लड़ना चाहते हैं या युधिष्ठिर की ओर से। यदि हम कभी राम के सैनिक बनकर रहना चाहें और कभी रावण के, तो दोनों ही हमें अस्वीकार कर देंगे। हाँ! एक बात तो है— चुनाव में हमने गलती कर दी और बाद में समझ आया कि यह ठीक नहीं किया तो दूसरे पक्ष वाले के सामने आत्म-समर्पण कर दें कि यह मुझसे भूल हो गयी अब मैं आपके ही पक्ष में रहूँगा, पर यह नहीं हो सकता कि कभी इधर आ जाये कभी उधर चला जाये। पहले सूक्ष्मता से देख लेना चाहिए और किसी एक को स्वीकार कर लेना चाहिए। चुनाव करने में भूल हो गयी हो तो उसे छोड़कर सदा-सदा के लिये दूसरे के पास चले जाना चाहिए।

कोई व्यक्ति इस प्रकार माया से जुड़कर भी बाद में मायापति के

साधना पथ

पास चला जाता है तो उसे फिर माया की तरफ एक क्षण के लिये भी नहीं देखना चाहिए। माया की तरफ मुड़कर न देखने का नाम ही 'वैराग्य' है तथा मायापति में ही अपने मन को लगाये रखने के लिये यत्न करते रहने का नाम 'अभ्यास' है। इन दोनों की समुदित साधना के फलस्वरूप ज्ञान की वह निर्मल स्थिति प्राप्त हो जाती है कि मन का पूर्ण रूपांतरण हो जाता है, उसे माया, संसार या विषयों से हटे रहने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता— सब कुछ सहज हो जाता है।

* * *

- धर्म क्या है? जैसे गुड़ का धर्म मिठास वैसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता'।
- मनुष्यता क्या है? सतत ज्ञान-समाधान में जीना अर्थात् स्वाधीनता, स्वराज्य, हेतुरहित अनुराग, निर्भयता, विनय, ऊर्ध्वारोहण, अपने ही द्वारा अपना अतिक्रमण इत्यादि।
- इस समस्त नाम-रूप से परे होते हुए भी कण-कण में व्यापक एक निर्गुण तत्त्व है जो चिन्मय है, ज्ञानरूप है, आनन्दमय है, अनन्त है। मनुष्येतर समस्त सृष्टि में ऋतनियमों के रूप में वह कार्य कर रहा है किन्तु सृष्टि का वह-वह घटक उसकी उपस्थिति का अनुभव नहीं कर सकता। केवल मनुष्य को ही यह सामर्थ्य उपलब्ध है कि उस निर्गुण तत्त्व की उपस्थिति का या उसके शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर सके। मनुष्य को भी उस तत्त्व का अनुभव एकाग्रता सापेक्ष होता है। मनुष्य अपनी पूर्ण नीरव अवस्था में ही उसका अनुभव कर सकता है।
- किसी कार्य को निश्चित समय में पूरा करने का आग्रह अशान्ति को जन्म देगा ही। क्योंकि समय में बँधते ही जल्दबाजी (Haste) प्रारम्भ हो जाती है। जल्दबाजी और शान्ति का परस्पर गहरा विरोध है।
- आवश्यक नहीं कि समय के बन्धन में बँधकर ही व्यक्ति अपनी शक्तियों का पूर्ण सदुपयोग कर पाये।

७. कर्मफल

मनुष्य के जीवन को मर्यादित, संयमित, व्यवस्थित व सुखी बनाने में बहुत सारी चीजें निमित्त या कारण बनती हैं, उनमें से एक है 'कर्मफल'। इसे अच्छी प्रकार से समझने की आवश्यकता है। कर्म एक प्रकार से बीज की तरह हैं। जैसे सब के सब भौतिक बीज समान रूप से एक ही काल में फलोत्पादन में सक्षम नहीं होते। कोई बीज दो मास, कोई तीन मास, कोई छः मास, कोई दो वर्ष, कोई दस वर्ष में फल देने के योग्य होता है, यह अन्तर स्पष्ट रूप से रहता ही है। इसी प्रकार मनुष्य के कर्म भी कुछ शीघ्र फल से युक्त हो जाते हैं, कोई थोड़ी देर में, कोई और भी अधिक देर में। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कोई इसी जन्म में, कोई दूसरे जन्म में, कोई सैकड़ों जन्मों के बाद।

एक दूसरी दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगता है कि बाद में तो जो भी फल मिलेगा वह तो मिलेगा ही, किन्तु तुरन्त भी मिलता रहता है। लेकिन यह प्रतीति संवेदनशील मन को ही होती है या हो सकती है। जब भी कोई व्यक्ति चोरी-जारी या हिंसा आदि कर्म करता है तो उसका मन निश्चित रूप से अशान्त हो जाता है। इसके विपरीत यदि दूसरे का सहयोग करता है, किसी को भी शरीर-मन या वचन से कष्ट नहीं देता, ब्रह्मचारी रहता है, किसी के साथ द्रोह नहीं करता, ईर्ष्या-द्वेष-घृणा आदि का भाव मन में ही नहीं आने देता, तो उसके मन में अपार शान्ति का वास होता है। सरलता से मनःशान्ति और कुटिलता से अशान्ति को कोई भी व्यक्ति अनुभव करके देख सकता है। शास्त्रकारों ने या शिष्ट पुरुषों ने जिस जीवन को उत्तम जीवन कहा है, उससे मन की प्रसन्नता व सन्तोष का अनुभव तथा जिस जीवन को निकृष्ट कहा है उससे मनःसंताप, खिन्नता आदि का अनुभव सहज ही किया जा सकता है। कोई व्यक्ति पुनर्जन्म पर नहीं पहुँचता और इसी जीवन पर केन्द्रित रहकर विचार करना चाहता है, उसको भी पता लगेगा कि शुभकर्मों का परिणाम सुख

साधना पथ

और अशुभकर्मों का परिणाम दुःख है।

ये शुभ या अशुभ कर्म करने के लिये हमारे पास तीन साधन हैं— शरीर, वाणी व मन। शरीर के शुभ-अशुभ कर्मों को पहचानना कुछ सरल है, वाणी से सम्बन्धित कर्मों को समझना उससे ज्यादा कठिन है और मन से प्रतिक्षण किए जाने वाले शुभ या अशुभ कर्मों को समझना सबसे कठिन है। शुभकर्म तत्काल शान्ति तथा अशुभ कर्म तत्काल अशान्ति देने वाले होते हैं। अब तो हम शान्त हैं और अब अशान्त हो गये हैं, इसे भी जानने के लिये मन का असाधारण रूप से जागरूक तथा संवेदनशील होना आवश्यक है, अन्यथा पता ही नहीं चलता कि हमें कोई कष्ट, क्लेश, बाधा, पीड़ा या अशान्ति है। अशुभ से सदा हटे रहने का नाम 'वैराग्य' है और शुभ से मन को जोड़े रखने के लिये यत्न करते रहने का नाम 'अभ्यास' है।

मनुष्य के मन की एक स्थिति दुःखद है जब वह क्रोध में रहता है, और दूसरी सुखद है जब वह शान्ति में रहता है। इसी प्रकार लोभ में या अलोभ में, ईर्ष्या-द्वेष और घृणा में या प्रेम में, ब्रह्मचर्य में या अब्रह्मचर्य में, खिन्नता में या प्रसन्नता में, आसक्ति में या अनासक्ति में, सरलता में या कुटिलता में, क्रूरता में या दया व करुणा में, भय में या अभय में, परतन्त्रता में या स्वतन्त्रता में, मुक्ति में या बन्धन में, राग में या विराग में रहता हुआ अपनी जीवन रूपी गाड़ी को खींचता रहता है। कभी वह अहंकार की पराकाष्ठा में होता है तो कभी विनम्रता की। कभी योगी की तरह रहता है तो कभी भोगी की तरह। कभी त्यागी होता है तो कभी अत्यन्त स्वार्थी। एक अन्धकार, अज्ञान या अविद्या की स्थिति है तथा दूसरी प्रकाश, ज्ञान व विद्या की। इन दोनों स्थितियों का मनुष्य गम्भीरता से अवलोकन करे और गहरी आँखों से यह देखे कि उन-उन स्थितियों में उसका क्या स्वरूप होता है? उन-उन स्थितियों के चित्र खींचकर दोनों का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने लग जाये तो उसे पता चलेगा कि अज्ञान-अन्धकार या अविद्या वाली स्थिति का चित्र— जिसमें कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, बन्धन, कुटिलता का राज्य होता है— कितना कुरूप, कितना भद्दा, कितना पीड़ा व क्लेशों से परिपूर्ण, कितना दुःखद, कितना

कर्मफल

अशान्ति व चञ्चलता से ओत-प्रोत, कितना भयावह होता है जिसे व्यक्ति एक क्षण के लिये भी देखना पसन्द नहीं करेगा। दूसरी तरफ ज्ञान, प्रकाश व विद्या वाली स्थिति के चित्र को देखेगा तो उसे अनुभव होगा कि यह चित्र कितना सौम्य, शान्त, सुन्दर, कल्याणकारी है, दुःख, क्लेश, बाधा, पीड़ा इसमें नाम मात्र को भी नहीं दिखायी देती, उसका मन चाहेगा— उसे सदा ही देखता रहूँ।

मनुष्य का मन थोड़ा भी जागरूक या संवेदनशील हो गया है तो वह ज्ञान या अज्ञान की स्थिति को पहचान सकता है। हमारा मन बहुत प्रमाद में सोया पड़ा रहता है अतः पता ही नहीं चलता कि इस मन में क्या-क्या घटनायें घटित हो रही हैं। जब व्यक्ति ज्ञान व अज्ञान के भेद को पहचानना प्रारम्भ कर देता है तो समझना चाहिए उसके लिए उन्नति का मार्ग खुल गया है। ज्यों-ज्यों जागरूकता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मन की सूक्ष्म लहरों का भी ज्ञान होने लगता है। मन तो उस बालक की तरह है जो अपने माता-पिता से बचकर मिट्टी खाता रहता है— ज्यों ही माता उसे देख लेती है तो मिट्टी को तत्काल वहीं छोड़ देता है। इसी प्रकार पूर्ण जागरूकता में मन की क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता रहता है, अतः मन उसे वहीं छोड़ देता है। जागरूकता के अभाव में ही व्यक्ति अपने को धोखा दे सकता है अन्यथा नहीं।

- अहा! यह कितना मधुर, कितना उत्तम, कितना स्वादु भोजन है कि मनुष्य अपने हृदय को अपने आप खाये अर्थात् आत्मतृप्त रहे (आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश, यजु० ३२.८)। पराश्रय का त्याग करने पर ही यह उपर्युक्त स्थिति घटित हो सकती है।
- योग जीवन क्या है? चित्त की वृत्तियों को बाहर बिखरने से रोकना; दूसरे शब्दों में समस्त भावों, विचारों व क्रियाओं का अपने क्रेन्द्र की तरफ प्रवाह।
- भोग जीवन क्या है? समस्त भावों, विचारों व क्रियाओं का संसार की तरफ प्रवाह, दूसरे शब्दों में किसी भी वस्तु, व्यक्ति व विचार से सुख लेना।

४०४०७३७३

८. अहंकार के दो रूप

आज अहंकार पर विचार किया जा रहा है। अहंकार का एक स्वभाव है जिस किसी के साथ भी जुड़ता है, उसे अपना आपा अर्थात् अपना स्वरूप समझने लगता है। कभी यह शरीर के साथ तादात्म्य (एकीभाव) को प्राप्त हो जाता है तो कभी बुद्धि के साथ, कभी मन के साथ तो कभी परिवार या संस्था के साथ, कभी पशुओं के साथ तो कभी वृक्ष-लतादि के साथ, कभी पुस्तकों के साथ तो कभी मकानों के साथ, कभी जड़ के साथ तो कभी चेतन के साथ; इस प्रकार एक न एक के साथ यह जुड़ा ही रहता है। प्रातः जागरण से सायंकाल सोने तक, कभी-कभी ही ऐसे क्षण आते होंगे कि व्यक्ति इससे मुक्त होता होगा। जिसके साथ भी यह जुड़ता है उसे अधिक से अधिक सुख देना चाहता है, उसके नाश में अपना नाश और उसकी वृद्धि में अपनी वृद्धि मानता रहता है। कई बार यह व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक भी है। आगे बढ़ने के लिये इसे व्यक्ति के उत्साह का स्रोत (Power-House) कहा जा सकता है। पर बहुत बार यह विकृत होकर काम-क्रोध-लोभ-मोह व मद का रूप धारण कर लेता है और उस अवस्था में यह व्यक्ति को पतन के गहरे गर्त में पहुँचा देता है।

जब यह कहा जाता है कि यह व्यक्ति बड़ा अहंकारी है तो अहंकार के उसी विकृत रूप की ओर संकेत होता है जो दूसरों से अपने को विशेष मानता है, उन पर शासन करना चाहता है, दूसरों को कष्ट देकर भी अपने सुखों को बढ़ाना चाहता है। यह भी अहंकार का ही विकृत रूप है जो जय-पराजय को इतना अधिक तूल देता रहता है कि बहुत से ऐसे प्रसङ्गों में मरने-मारने तक को उतारू हो जाता है। इस विकृत अहंकार के कारण ही मान-अपमान के विविध सन्दर्भों में अपने को सुखी-दुःखी अनुभव करता है।

जो जीवन-साधक इस दोषयुक्त अहंकार से मुक्त हैं, वे न तो किसी से दबते हैं न ही किसी को दबाते हैं। जय-पराजय, मान-अपमान, हानि-लाभ,

अहंकार के दो रूप

हर्ष व शोक के अवसरों में उनकी समता अक्षुण्ण बनी रहती है। यदि किसी के क्रोध, रोब, ऐश्वर्य अथवा प्रतिष्ठा से किसी का मन प्रभावित हो जाता है, तो समझना चाहिए कि इस दूषित अहंकार ने अपनी जड़ें जमा रखी हैं, जिसके कारण ऐसा हो रहा है। व्यक्ति झूठी निन्दा या मिथ्या आरोपों को इसी अहंकार के कारण सहन नहीं कर पाता। दूसरी तरफ झूठे अहंकार के कारण व्यक्ति दूसरों पर क्रोध करता है, गलत तरीके अपनाकर भी अपने ऐश्वर्य को बढ़ाना चाहता है, दूसरों को अपने रोब में रखना चाहता है, झूठ बोलता है और अपने को सच्चा सिद्ध करना चाहता है, जितना है उससे अधिक अपना प्रदर्शन करता है अर्थात् सारे का सारा झूठे दिखावे का भाव मिथ्या अहंकार के कारण ही व्यक्ति में पनपता रहता है। जैसे अन्धकार पर विजय पाने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार समस्त मिथ्यात्व से ऊपर उठने के लिये सच्चे अहंकार को स्थान देना होता है। झूठ से, दिखावे से, निर्बलता से, अशुभ से, आसक्ति से, क्रूरता से, अधर्म से, काम-क्रोध-लोभ-मोह से, चञ्चलता से या एक शब्द में कहें तो निषेधवर्ग से ऊपर उठने का दृढ़ संकल्प ही वह साधन है, जो सच्चे अहंकार के रूप में व्यक्ति की प्राथमिक मदद करता है। जैसे प्राथमिक विद्यालय में गये बिना कोई भी महाविद्यालय की उच्च श्रेणियों में नहीं पहुँचता, उसी प्रकार निम्नप्रकृति से उभरने के लिये साधक में स्थित शुद्ध अहंकार का जब धक्का लगता है तो जन्म-जन्मान्तर से पड़ी हुई कुसंस्कारों की कठोर बेड़ियों को काटने के लिये साहस का प्रचण्ड वेग फूट पड़ता है। यह अहंकार आत्मा की शक्ति बनकर कठिनतम दुर्गम मार्गों से भी पार उतरने के लिए सहयोग करता है।

इस अनन्त की यात्रा में साधक को अनेकानेक चीजों की आवश्यकता पड़ती है— ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, मन की शान्ति, इन्द्रियों की अचञ्चलता, निष्पक्ष-प्रेम, सरलता, दया-करुणा से परिपूरित हृदय, स्वार्थरहित कर्म इत्यादि। पर इन सब गुणों को प्राप्त करने के लिये, मार्ग में आने वाली विघ्न बाधाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिये, साधक को जिस अथाह बल की आवश्यकता

साधना पथ

होती है, उसकी पूर्ति शुद्ध-अहंकार ही करता है। अपने ऊपर विजय पाने के लिए जिस जोश की जरूरत है— वो यहीं से मिलता है।

निष्कर्ष यह निकला— संयमित, मर्यादित, उत्साही व उन्नतिशील जीवन के मूल में शुद्ध अहंकार की अपरिमित शक्ति काम करती है, दूसरी बात— जहाँ स्वेच्छाचारी जीवन की जड़ों को उखाड़ फेंकने का सामर्थ्य इस अहंकार के शुद्ध रूप में है, वहीं यह जब विकृति को प्राप्त होता है तो अपनी सारी शक्ति को उस 'काम नामक' जीवन वृक्ष की जड़ों को सींचने में उड़ेल देता है, मानो कि स्वेच्छाचार ही इसका समस्त सारतत्त्व हो।

अब साधक का यह परम कर्तव्य बनता है कि वह अहंकार के इन दोनों रूपों को अपनी विवेक बुद्धि से समझे तथा ग्राह्य का ग्रहण और त्याज्य का त्याग कर अपनी व अन्यो की सुखवृद्धि में निमित्त बने। निश्चित ही शुद्ध अहंकार समष्टि के सुख यानी अपने-पराये सबके सुख का कारण बनता है और अशुद्ध अहंकार केवल अपने सुख का और वह भी मिथ्या सुख का तथा दूसरों के कष्टों का कारण बनता है।

* * *

- सांसारिक सुख ही वे बीज हैं जो दुःखों के वृक्ष बनकर लहराते हैं।
- राग की इतनी बड़ी महिमा है, इतनी बड़ी महिमा है कि सदोष चीजों में भी सुख ही देखता है या दूसरी तरफ से कहें तो दुःख नहीं देखता है और इसलिए उन दोषयुक्त चीजों का भी त्याग नहीं होने देता।
- जिस किसी वस्तु व्यक्ति या विचार में सुख दिखाई देता है उसका त्याग नहीं हो सकता। दुःख दर्शन ही व्यक्ति को त्याग की शक्ति देता है।
- द्वेष की इतनी बड़ी महिमा है, इतनी बड़ी महिमा है कि निर्दोष चीजों में भी दुःख ही देखता है और इसलिए उन दोषरहित चीजों से भी प्रेम नहीं होने देता।
- जिस किसी वस्तु व्यक्ति या विचार में दुःख दिखाई देता है उसका ग्रहण नहीं हो सकता। सुख दर्शन से ही जुड़ाव होता है।

४०४०७७७

९. सुख का सच्चा स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय

उपनिषद् का ऋषि कहता है— सत्य को प्राप्त करने के लिए विज्ञान चाहिए, विज्ञान की प्राप्ति होती है मति=मनन से, मनन तब होता है जब मननीय विषय में श्रद्धा हो, श्रद्धा श्रद्धेय विषय में निष्ठा (निश्चितरूपेण स्थिरता) से विकसित होती है, निष्ठा बनती है कृति से अर्थात् कर्मण्यता से (व्यायाम में निष्ठा उसी की होगी जो प्रतिदिन व्यायाम करेगा, अध्यात्म-मार्ग में भी उसी की निष्ठा होगी जो उस पर चलेगा) कर्म— उस उस काम को करने का सिलसिला तभी आगे बढ़ता है जब उससे सुख मिले।

अब हमें सुख का अन्वेषण करना चाहिए, सुख का मूलस्रोत अर्थात् उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? तथा सुख प्राप्ति के उपाय क्या हैं? ये दो बातें एकदम से स्पष्ट हो जायें तो व्यक्ति का जीवनपथ अत्यन्त सरल हो जाए। जीवन में जितनी भी भ्रान्तियाँ, विसंगतियाँ, कष्ट-क्लेश-बाधाएँ, पीड़ाएँ, तनाव आदि दिखायी देते हैं, उनके मूल में प्रवेश करने का प्रयत्न किया जाए तो यही चीज उभर कर आएगी कि व्यक्ति को सुख के सच्चे स्वरूप तथा उसके स्रोत का ठीक ज्ञान न होने के कारण वह जहाँ भी हाथ डालता है या जो कुछ भी करता है, उसका परिणाम बनकर ये सब उपर्युक्त चीजें उसके हाथ में आ जाती हैं। वस्तुतः जैसा हम करते हैं वैसा हमें मिलता रहता है। यदि हमने अपने अज्ञान के कारण दुःखदायी वस्तु-व्यक्ति-विचार या क्रिया-कलाप को सुखदायी समझ लिया तो स्पष्ट है कि उस उस वस्तु-व्यक्ति-विचार या क्रिया-कलाप से सुख उत्पन्न नहीं हो सकता है। उन चीजों का जो स्वभाव है वही परिणाम उत्पन्न होगा। कोई विष को अमृत समझ कर पी जाए और विष अपना काम न करे— यह बात कम से कम इस विज्ञान प्रधान युग में गले उतरने वाली नहीं है। अग्नि को शीतल समझकर हाथ डाले और वह अपने दाह धर्म को छोड़ दे— यह असम्भव है। अज्ञान में कोई शराब को फलों का रस समझकर पी जाए

साधना पथ

और उसे नशा न हो क्या यह विश्वसनीय तथ्य हो सकता है ?

एक दूसरी बात भी है— बुरी चीजें तो विपरीत भावना के कारण सुपरिणाम नहीं ला सकतीं, किन्तु अच्छी चीजें तो विपरीत भावना के कारण अनिष्ट परिणाम ला सकती हैं— जैसे आत्महत्या करने के इच्छुक एक नवयुवक ने दुकानदार से तेज विष माँगा। दुकानदार ने उसके चेहरे की तरफ देखा और उसे ऐसा आभास हुआ कि यह मरने के लिये विष मांग रहा है। उसने उठाकर एक अच्छा टॉनिक नवयुवक के हाथ में दे दिया। नवयुवक ने अपने स्थान पर पहुँचकर उस दवा को पी लिया। दवा पीते ही उसके शरीर पर विष वाले समस्त लक्षण प्रकट होने लगे। रोगी को डाक्टरों के पास ले जाया गया। जाँच के बाद डाक्टर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस व्यक्ति ने विष तो नहीं लिया, पर प्रभाव सब के सब विष वाले हैं और यदि यह एक घण्टा भी हॉस्पिटल न आता तो इसकी मृत्यु हो जाती। इस घटना से यही सिद्ध होता है कि मन ने अमृत को भी विष मान लिया है अतः वह विष बन गया।

कई बार यह देखने में आता है कि सर्वथा विषहीन सर्प के काटने पर भी व्यक्ति मर जाता है क्योंकि उसे विष की पूरी-पूरी शंका हो जाती है। यह शंका रूपी विष, अमृत को भी या जो विष नहीं है, उसे भी विष में बदल देता है। पर मन में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने प्रबल आग्रह बल से विष को अमृत में बदल दे, यह नहीं हो सकता कि अपने मनोबल से बर्फ व अग्नि के शीत व ताप धर्म को रोक दे, शरीर पर उसका प्रभाव ही न होने दे। यह तो सम्भव है कि मन के सहयोग से कुछ सीमा तक उससे अप्रभावित रह जाए। हानिरहित चीजें भी मन की विपरीत सोच से हानिकारक हो सकती हैं या लाभदायक चीजें हानि पहुँचाने वाली हो सकती हैं, पर हानिकारक चीजें विरुद्ध सोच से पूर्ण हानिरहित या लाभदायक नहीं बनायी जा सकतीं। कोई शराब (Wine) पीता रहे, धूम्रपान (Smoke) करता रहे, ब्रह्मचर्य का अत्यन्त नाश करता रहे और मन से निरन्तर यह सोचता रहे कि मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मेरे स्वास्थ्य में कोई भी किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही— वह व्यक्ति कितना भी अपनी सोच

सुख का सच्चा स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय

को इस रूप में तीव्र से तीव्रतम बनाये रखे— इन विपरीत चीजों से होने वाली स्वास्थ्य की गिरावट को वह पूर्णरूप से रोक नहीं सकता, आंशिक रूप से भले ही मन की शक्ति से कुछ लाभ ले लेवे।

इन सभी कथनों का सार यही है कि मन की शक्ति और पदार्थ की शक्ति दोनों ही अपनी-अपनी जगह काम करती रहती हैं। सो दुःखदायी वस्तु, व्यक्ति, विचार या क्रियाकलाप को सुखदायी समझकर जो भी इनसे जुड़ेगा, उसे दुःख उठाना ही पड़ेगा, वह इन चीजों से उत्पन्न होने वाले दुःख से बच नहीं सकेगा। इस प्रकार सबसे पहले व्यक्ति अपने गहन अन्वेषण के द्वारा 'सुख का स्वरूप' तथा 'वह सुख कैसे मिलता है?' इन दो बातों का निर्धारण करे। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'हान' व 'हानोपाय' नाम से भी कह देते हैं। 'सुख' व 'सुख के साधनों' की खोज के सिलसिले में यानी इनके शुद्धरूप को समझने के लिये ही 'दुःख' व 'दुःख के कारणों' को भी साथ में स्पष्टता से देखना होता है, जिनके लिए शास्त्र में 'हेय' व 'हेयहेतु' ये दो नाम दिए गए हैं। इस तरह कुल-मिलाकर इन चार बातों का बोध कराने के लिए ही सारे शास्त्र, समस्त ध्यानपद्धतियाँ, सारी मर्यादायें, सारी साधनायें, सब के सब प्रवचन व उपदेश प्रवृत्त हो रहे हैं। जो इन चारों को ठीक से जान लेता है उसे आर्यपुरुष, मुक्तपुरुष, महापुरुष, ज्ञानी, आरिफ़, सन्त (Saint), भक्त, त्रिगुणातीत, स्थितप्रज्ञ, योगी, ऋषि, देव, मुनि, तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, विप्र, मनीषी, मनस्वी, धीर, महामनाः, उदार, कुशल, स्वराट्, संन्यासी, वेदान्ती, महात्मा, साधु, तपस्वी, स्वस्थ, शीलवान्, समाहित, प्रज्ञावान्, साक्षात्कृतधर्मा, मेधावी, वीर, महावीर, सिद्ध, ब्रह्मचारी, भगवान् इत्यादि विविध नामों से पुकारते हैं।

ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि जैसे शरीर के प्रति पूर्ण जागरूक व्यक्ति को रोग व रोग के कारण तथा स्वास्थ्य व स्वास्थ्य के उपायों का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक होता है उसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिक को जो अपने आन्तरिक जीवन को सुसम्पन्न रखना चाहता है, जो सर्वदा-सर्वत्र-सर्वथा अपने को प्रसन्न, शान्त, आनन्दित, तृप्त (Ever Happy, Peaceful,

साधना पथ

Blissfull) स्थिति में देखना चाहता है, जो मुक्तजीवन जीने का इच्छुक है, जो इस धरती पर भगवान् का वीर-योद्धा बनकर रहना चाहता है, जो अपने प्रियतम का सच्चा सेवक कहलाना चाहता है, जो दीन-दुःखियों का सचमुच सहयोग करना चाहता है, एक शब्द में जो भागवत ज्ञान व भागवत शक्तियों के अनवरत प्रवाह या अजस्र स्रोत के रूप में अपने आपको देखने के लिये लालायित हो उठा है— ऐसी चाह वाले व्यक्ति को सुख व सुख के उपाय तथा दुःख व दुःख के कारणों की गहन मीमांसा, विवेचना, विश्लेषण व स्पष्ट बोध प्राप्त करना ही होगा। यदि इस मूल समस्या के समाधान में थोड़ी भी भूल-चूक हो जाती है, थोड़ी सी भी भ्रान्ति-संशय-अज्ञान शेष रह जाता है तो वह अज्ञान साधक को लक्ष्य से दूर ही ले जाता है। अतः इस प्राथमिक कार्य को सर्वाधिक महत्त्व देकर जो इस पर केन्द्रित हो जाते हैं— उनका मार्ग अत्यन्त सुगम हो जाता है।

हमारा ज्ञान (हमारा दर्शन) ही तो हमारे समस्त क्रियाकलाप का कारण होता है। यह ज्ञान जितना अधिक निर्मल होता जाएगा, उतना ही मनुष्य का कार्मिक जीवन भी शुद्ध होता जाएगा, ज्ञान व कर्म के शुद्ध होने से उपासना (मानसिक लगाव=आसक्ति) भी शुद्ध होती जाती है। तीनों ही एक दूसरे को शुद्ध-पवित्र व निर्मल बनाते रहते हैं। इन तीनों की शुद्धि का सामूहिक परिणाम यह होता है कि ज्ञान सुस्थिर हो जाता है, एकरस हो जाता है, सहज हो जाता है। सुस्थिर ज्ञान वाले व्यक्ति को वेद व उपनिषद् में विज्ञानवान् कहा गया है। यही 'वैराग्य' है। यहाँ तक पहुँचने के लिए किये गये प्रयत्न अर्थात् मार्ग के श्रम का नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यास का ही दूसरा नाम तपस्या है, स्वयं से स्वयं को रोकते रहना भी यही है। ऐसा करते-करते स्थिर हो जाना और वहीं रुके रहना ही 'वैराग्य' है।

शरीर, वाणी और मन की मर्यादित व अमर्यादित, नियन्त्रित व अनियन्त्रित अवस्था पर हमारा सुख व दुःख अवलम्बित है। सुख व दुःख की परिभाषाएं देते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है— अनुकूलवेदनीय सुख,

सुख का सच्चा स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय

प्रतिकूलवेदनीय दुःख। व्यक्ति जब प्राकृतिक भोगों में अपना मन लगाता है तो इसी कारण से कि उन भोगों को भोगते हुए उसे अच्छा लगता है, उसके मन व इन्द्रियाँ अनुकूलता अनुभव करते हैं। दूसरी ओर संयम इसी कारण से नहीं कर पाता या नहीं करना चाहता कि वैसा करने में उसके मन व इन्द्रियों को प्रतिकूलता अनुभव होती है। एक व्यक्ति प्रतिदिन व्यायाम करता है— क्योंकि वह उसे अनुकूल मानता है, दूसरा नहीं करता है, क्योंकि व्यायाम करना उसे कष्टदायक प्रतीत होता है, प्रतिकूल लगता है। जितने भी गलत काम कहे जाते हैं वे भी तभी किए जाते हैं जबकि उनमें सुख मिलता हुआ प्रतीत होता है। जहाँ भी रस (सुख) समाप्त हुआ— फिर वह चाहे उत्तम कार्य है या निकृष्ट— तुरन्त छूट जाता है। दूसरी तरफ जहाँ से भी रस (सुख) मिलना प्रारम्भ हुआ कि वह काम प्रारम्भ हो जाता है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से विचारणीय है कि मनुष्य ही नहीं, सृष्टि का कोई भी प्राणी दुःख, प्रतिकूलता, बाधा, कष्ट, क्लेश नहीं चाहता, फिर ये आ कहाँ से जाते हैं? पहले सुख चाहता है, फिर अपने ज्ञान के अनुसार कर्म करता है तदनन्तर कहीं जाकर फल मिलता है। जब सुख ही चाहता है तो उसकी इस चाहत के अनुरूप किये गये कर्मों के फल के रूप में दुःख कहाँ से मिल जाता है? वास्तव में इस पहेली का हल ढूँढना ही पड़ेगा। जो इस पहेली को सुलझा लेते हैं, वे ही सुलझे हुए कहे जाते हैं, समाज उन्हें ज्ञानी के नाम से पुकारने लगता है। अन्यथा सारा संसार इन सुख व दुःख के दो झूलों में झूलता रहता है। ऐसा दिखाई देता है कि इच्छा करते हैं सुख की और मिल जाता है दुःख। तथ्य इससे विपरीत है— जिन वस्तु, व्यक्ति, विचार या क्रियाकलाप से सुख लेने की इच्छा से जब कोई व्यक्ति उनके साथ सम्बद्ध हुआ तो उसी समय बेशक अनजाने में ही, पर उसने दुःख के बीज भी बो दिए थे। कार्यकारणभाव (Cause & Effect) के शाश्वत नियम से फिर कौन बच सकता है? जाने में या अनजाने में दुःख के बीज बोकर अब वह चाहे कि दुःख न मिले— ऐसा नहीं हो सकता। ये बीज शरीर (इन्द्रियों), वाणी व मन के द्वारा बोए जाते हैं। इसी

साधना पथ

समय जब कि कर्मों के बीज बोए जा रहे होते हैं, व्यक्ति को असाधारण रूप से सजग व जागरूक रहने की आवश्यकता होती है कि दुःख का कोई एक भी बीज न बोया जाए।

जब कोई व्यक्ति अपने शरीर से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि इन्द्रिय भोगों का रस ले रहा है तो उसी समय परिणाम में प्राप्त होने वाले इन्द्रिय-दौर्बल्य व इन्द्रियों की अतृप्ति रूपी दुःख के बीजों को भी उसने बो दिया है। अब जो यह उसे भोगों के रस का परिणाम मिल रहा है, उसके शरीर-मन व प्राण विकृत हो गये हैं, शारीर व मानस रोगों ने उसे धर दबोचा है, इन्द्रियों की भोग भोगने की लालसा तो तीव्र हो गयी है, पर उनका सामर्थ्य क्षीण हो गया है, उस अतृप्ति के कारण सदा सर्वदा अन्दर ही अन्दर वह जलता रहता है। क्या पहले ही उसने इन सब चीजों की इच्छा नहीं कर ली थी? इसलिए अब जो प्राप्त हो रहा है उसे किसी भी तरह अनहोनी या अनचाहा नहीं कहा जा सकता।

जिसकी आँखें दूरस्थ परिणाम को अविलम्ब देख लेती हैं वह कैसे अपने मन, प्राण व इन्द्रियों को इस आग की भेंट चढ़ा सकता है? जिसका निश्चय और निर्णय एकदम से स्पष्ट हो गया है कि इस प्रकृति से, माया से, संसार से, इन्द्रिय भोगों से प्राप्त होने वाला सुख ऐसा ही है जैसे कि किसी अत्यन्त स्वादु भोजन में कोई तीव्र विष ऐसी कुशलता से मिला दिया गया हो कि खाने वाले को खाते समय बेशक उसकी जिह्वा कितनी भी रस-पारखी हो, पता नहीं चलेगा। केवल मात्र ऐसी समझ रखने वाला प्रज्ञावान् पुरुष ही भोगों के सुख का त्याग कर सकता है। यदि व्यक्ति का विवेक इतना निर्मल नहीं होता है और भोगकाल में उसे किञ्चित् भी किसी प्रकार का सुख दिखायी दे रहा है तो कैसे वह उस सुख को छोड़ सकता है? और जब इस सुख को नहीं छोड़ सकता तो कैसे दुःख से बच सकता है?

उपनिषद् का ऋषि दूसरे शब्दों में यही समझाता है कि भूमा में ही सुख है,

सुख का सच्चा स्वरूप व उसकी प्राप्ति के उपाय

अल्प में सुख नहीं है। मनुष्य को भूमा की जिज्ञासा तथा खोज करनी चाहिए। ऋषि भूमा व अल्प के भेद को प्रकट करते हुए साधक को एक विशेष उपहार देते हैं कि जो भी अमृत है, क्षीण न होने वाला है, एकरस रहने वाला है वह भूमा है तथा जो कुछ मर्त्य है, सान्त है, नाश को प्राप्त होने वाला है वह अल्प है। मनुष्य का मन भूमा को चाहता है तो भूमा मिलता है और अल्प को चाहता है तो अल्प। यह नहीं होगा कि अल्प अर्थात् सान्त सुखों में अपना मन लगाए और तत्फलस्वरूप आने वाले दुःखों से भी बच जाए। भूमा और अल्प, अनन्त और सान्त का भेद जिसके सामने प्रकट हो जाता है या हो गया है वह क्यों अपना मन भूमा को छोड़कर अल्प में लगाना चाहेगा ?

जब मनुष्य अपने से बाहर किसी भी जड़ या चेतन (ईश्वर पर लागू नहीं) वस्तु को चाहता है, अपने को छोड़कर अपने से बाहर किसी वस्तु को देखता है, सूंघता है, चखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, इसी प्रकार अपने को छोड़कर किसी अन्य का समर्थन, किसी अन्य की प्रसन्नता तथा बाह्य धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा की इच्छा करता है तो वह अल्प की ही इच्छा कर रहा होता है— बेशक फिर वह इन चीजों को बहुत मात्रा में ही चाहे। इन चीजों की माँग जितनी तीव्र व अधिक होगी उसी के अनुपात में उसकी 'अल्प' की चाह का मूल्यांकन होगा। दूसरी तरफ अपने को छोड़कर अपने से बाहर किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति की इच्छा नहीं करता, अन्य को न देखना, न सुनना, न स्पर्श करना, न चखना, न सूंघना, न किसी अन्य के साथ बात करना चाहता है, न ही धन-ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा की इच्छा करता है। जब केवल मात्र अपने अन्दर परमात्मा को चाहता है तो वह 'भूमा' को चाह रहा होता है। इस खोज में एक बात उभर कर आती है कि व्यक्ति के आन्तरिक लगाव के आधार पर यह निर्धारण होता है वह 'भूमा' का इच्छुक है या अल्प का। दूसरे शब्दों में प्रकृति का इच्छुक है या पुरुष का, माया का या मायापति का, नश्वर का या शाश्वत का, बन्धन का इच्छुक है या मुक्ति का, मिथ्या की चाह रखता है या सत्य की, इन्द्रियों के सुख का प्यासा है या धर्म का, सान्त के लिए लालायित है या

साधना पथ

अनन्त के लिए, भूतों को चाहता है या देव को।

यदि इस सान्त नाम व रूप में व्यक्ति का लगाव नहीं है, आसक्ति नहीं है, उस तरफ खिंचाव नहीं है तो वह संसार को देखता हुआ भी नहीं देख रहा होता, संसार के साथ किसी भी रूप में जुड़कर भी जुड़ा हुआ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को ही निर्लिप्त, मुक्त, आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्माराम, आत्मनिष्ठ, स्थितप्रज्ञ, योगी, यति, तत्त्ववेत्ता, ज्ञानी, प्रकाशपुत्र, संशितव्रत, सच्चा ब्रह्मचारी आदि-आदि विविध नामों से पुकारते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन का सौन्दर्य अद्भुत और बहुत ही निराला होता है, पूर्ण सहज होता है, शान्त होता है, उसमें किसी भी प्रकार के तनाव आदि का कोई स्थान नहीं होता। इसी ज्ञानमय स्थिति का नाम 'वैराग्य' है। इस स्थिति को प्राप्त कराने वाले सारे आन्तरिक व बाह्य प्रयत्नों का नाम 'अभ्यास' है।

• त्याग क्या? अज्ञान के कारण कुछ चीजें हमारे चेतनस्वरूप में घुल-मिल कर एक हो जाती हैं। विवेक के प्रकाश में उन समस्त जड़ चीजों को पहचानकर उन पर से अपने अधिकार को हटा लेने का नाम त्याग है। दूसरे शब्दों में समस्त वस्तु व्यक्ति विचार से अपने ममत्व को हटा लेने का भाव त्याग है।

• त्याग क्यों? शान्ति के लिए 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'। त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है। 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (तै० आर० २०.१०.३) कुछ महान् आत्माओं ने त्याग से ही अमृतत्व को प्राप्त किया।

• त्याग किसका? उसका, जो हमारा स्व नहीं है, पर अभी है तो हमारे पास। मान्यता से जिसको हमने अपना स्व मान लिया है, किन्तु वास्तव में तो वह हमारा अपना स्व नहीं है, ऐसे अपने माने हुए स्व का। यह बात तब घटित होती है जब व्यक्ति ने कुछ को अपना 'स्व' मान रखा है और कुछ को नहीं। यदि किसी ने सब कुछ को ही अपना स्व मान लिया हो तो त्याग किसका? स्पष्ट है किसी का नहीं। (यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।)

४०४०४०४

१० . सम्बन्ध

जब हम 'हैं' तो किसी न किसी वस्तु-व्यक्ति या विचार से सम्बन्धित भी होते हैं। कहीं ये सम्बन्ध स्व-स्वामी के रूप में, कहीं याज्य-याजक, कहीं गुरु-शिष्य, कहीं अवयव-अवयवी, कहीं अभिभाव्य-अभिभावक, कहीं ध्याता-ध्येय, कहीं जन्य-जनक इस प्रकार अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। ज्ञाता-ज्ञेय, उपासक-उपास्य, व्याप्य-व्यापक, सेवक-सेव्य, विचारक-विचार्य के रूप में भी सम्बन्ध हो सकते हैं। इन समस्त सम्बन्धों के बीच रहते हुए ही साधक को अपनी साधना करनी होती है। जागरूक साधक सम्बन्धरूपी दर्पण में अपने यथार्थ स्वरूप का अवलोकन कर सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकारादि का ठीक-ठीक ज्ञान सम्बन्धों की दुनिया में रहते हुए ही होता है। किसी भी जड़ या चेतन वस्तु के साथ सम्बन्धित होने पर ही तो राग और द्वेष का उदय होता है। आकर्षण-विकर्षण, संयम-असंयम, आसक्ति-अनासक्ति, लिप्तता या निर्लिप्तता का बोध सम्बन्धों के मध्य ही होता है। ध्यान देने की बात यही है कि व्यक्ति जब सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति के साथ अपने मन के द्वारा कोई 'सम्बन्ध-विशेष' स्थापित कर लेता है, तभी ये सब आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। सम्बन्ध यदि सम्बन्ध रूप में ही रहे तब तो कोई कठिनाई नहीं होती पर जैसे ही कोई विशेष नाम दे दिया जाता है तो उसके साथ ही प्रियता-अप्रियता आकर जुड़ जाती है। जहाँ सम्बन्ध-विशेष होता है वहीं 'मेरा' ('मम', 'Mine') इसका जन्म हो जाता है। 'मेरा' इसके प्रादुर्भाव के साथ ही आसक्ति, लिप्तता, उसके प्रति आकर्षण, उसकी कामना, कामना में बाधक या बाधा के प्रति क्रोध, कामना की पूर्ति होने पर लोभ, जो मेरा है उसके साथ तादात्म्य के द्वारा अपने अहंकार की वृद्धि या पुष्टि, स्व की वृद्धि में हर्ष और उसके हास में शोक इत्यादि की एक लम्बी शृंखला तैयार हो जाती है।

होने का अर्थ ही सम्बन्धित होना है, अतः सामान्य सम्बन्ध को तो कभी भी नहीं हटाया जा सकता। वह कृत्रिम नहीं है, वो तो एकदम स्वाभाविक है।

साधना पथ

अतः जब तक हम हैं तब तक वह स्वाभाविक सम्बन्ध भी रहता ही है। चूंकि विशेष सम्बन्ध हमारे द्वारा ही निर्मित होता है अतः हम उसे हटा भी सकते हैं। सम्बन्ध को इस रूप में देखा जाये तो वह आत्म-ज्ञान प्राप्ति का साधन बन सकता है। **किसी भी वस्तु या व्यक्ति के साथ सम्बन्ध-विशेष न होना ही सच्चा सम्बन्ध है।** यही ज्ञान का परिणाम रूप परम वैराग्य है। जिस-जिस रूप में भी यह 'सम्बन्ध-विशेष' अपनी गर्दन उठाये, उसे ज्ञान रूपी शस्त्र से काटते रहने का नाम 'अभ्यास' है।

व्यक्ति जब किसी जड़ या चेतन (वस्तु या व्यक्ति) को पाने के लिये पुरुषार्थ करता है तो जितने अधिक संघर्ष या प्रयत्न से उस वस्तु को प्राप्त करता है— सम्बन्ध भी उतना ही गहरा हो जाता है। इस बात को दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है— किसी वस्तु, व्यक्ति, पद आदि के साथ व्यक्ति इसलिए सम्बन्धित होना चाहता है कि इन चीजों से उसे सुख मिलता है, सो सुख-प्राप्ति की न्यूनता व अधिकता के अनुपात में ही सम्बन्ध भी कम या ज्यादा होता रहता है। ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति की जीवनयात्रा में कुछ चीजें अकस्मात् आ जाती हैं, बिना प्रयास के सहज रूप में ही प्राप्त हो जाती हैं, फिर भी उनके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। किसी भी प्रकार के सुख की उपलब्धि ही उस सम्बन्ध का कारण होती है। किन्हीं चीजों से व्यक्ति के शरीर को सुख मिलता है, कुछ दूसरी चीजों से प्राणों (इन्द्रियों) को सुख मिलता है, कुछ से मन को और कुछ एक से बुद्धि को सुख मिलता है। सिद्धान्ततः सुख का अनुभविता चेतन ही होना चाहिए और ऐसा है भी, पर जब यह कहा जाता है कि शरीर, मन, प्राण या बुद्धि को सुख मिल रहा है तो इसका भाव यही होता है कि चेतन तत्त्व जिस-जिस के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है उस-उस शरीर मन आदि को तत्-तत् सुख प्राप्त हो रहा है, ऐसे औपचारिक प्रयोग होते रहते हैं। इस प्रकार— किसी वस्तु या व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से भी यदि किसी के मन को सुख मिलता है तो उसके साथ सम्बन्ध की घनिष्ठता हो जाना स्वाभाविक ही है।

सम्बन्ध

व्यक्ति का अपने बनाये हुये भवनों, अपनी भूमि, अपनी वस्तुओं के साथ जितना गहरा सम्बन्ध होता है उतना किराये पर लिये हुए मकान के प्रति नहीं होता, कृषि करने मात्र के लिये ठेके पर ली हुई भूमि के साथ उतना नहीं होता, जिस बस में यात्रा कर रहे हैं उसके साथ उतना नहीं होता। अपने स्त्री-पुत्र-परिजनों के साथ जैसा सम्बन्ध होता है वैसा अन्यो के साथ नहीं होता। इस सब का एक ही कारण प्रतीत होता है कि व्यक्ति जिसे अपना समझ लेता है उससे उसके मन को निश्चिन्तता होती है। वह आश्वस्त होता है कि ये चीजें मरणपर्यन्त मेरा साथ देंगी। जिन चीजों को अपना नहीं समझा— उनमें अपनी किञ्चित् भी सुरक्षा नहीं देख पाता। व्यक्ति का यह स्वभाव है— वह अपनी ही सुरक्षा की बात नहीं सोचता, वह साथ में उनको भी सुरक्षित देखना चाहता है जिनको उसने अपना माना है। जो चीजें इस रूप में उसका सहयोग करती हैं अर्थात् उसके अपने और साथ में सम्बन्धी जनों (अपनों) के सुख में निमित्त बनती हैं— उन वस्तुओं, व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध गहरा होता चला जाता है।

जिन-जिन चीजों को भी व्यक्ति ने 'मम' (मेरा) समझा, चाहे वह उसका अपना शरीर ही क्यों न हो, चाहे उसके द्वारा लिखी गयी कोई पुस्तक हो, चाहे स्त्री-पुत्र कुटुम्बी जन हों, चाहे मित्रगण हों या कोई अन्य भौतिक वस्तु हो, इन दोनों के बीच में पहले तो रागात्मक सम्बन्ध होता है कि वे मेरे लिए हैं और मैं उनके लिए। तत्पश्चात् वह उनकी रक्षा और वृद्धि के लिए प्रयत्न करता है और उधर वे सब भी इसकी रक्षा, वृद्धि व सुख में निमित्त बनते हैं। इस प्रकार उनकी वृद्धि से यह अपनी वृद्धि मानता है, उनकी उन्नति में अपनी उन्नति देखता है, उनकी अवनति में अपनी अवनति और उनके नाश में अपना नाश मानता है। वे जब रोते हैं तो यह भी रोता है, वे जब नष्ट होते हैं तो यह भी अपने को नष्ट होता हुआ मानता है। वे हंसते हैं तो यह भी हंसने लगता है। वे भी इसकी उन्नति या अवनति के साथ इसी प्रकार सुखी या दुःखी होते हैं। कहने का भाव यही है कि सम्बन्ध एक स्थिति में 'मैं' में बदल जाता है, जो जो भी 'मेरा' था वहाँ 'मैं' पहुँच जाता है। ये तो हुए रागात्मक सम्बन्ध।

साधना पथ

दूसरी तरफ जिस-जिस वस्तु या व्यक्ति से बाधा, रुकावट अथवा कष्ट मिलता है उस-उस वस्तु या व्यक्ति के साथ द्वेषात्मक सम्बन्ध भी हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपशब्द बोल देता है, उसकी वस्तु चुरा लेता है, अपमान कर देता है, पिटाई कर देता है, वाद-विवाद में चुप कर देता है, कम महत्त्व देता है या इसी प्रकार का कोई अन्य दुर्व्यवहार कर देता है अथवा जिस प्रकार के उत्तम व्यवहार की दूसरा अपेक्षा रखता है वो पूरी नहीं करता है तो उन दोनों व्यक्तियों के बीच भी एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह पहले वाले सम्बन्ध से विपरीत प्रकार का सम्बन्ध होता है। रागात्मक सम्बन्ध में तो सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति के प्रति आकर्षण होता है, पर यहाँ विकर्षण होता है। वहाँ सम्बन्धित व्यक्ति की चर्चा करने में या प्रशंसा सुनने में अच्छा लगता है, यहाँ उसकी प्रशंसा सुनना तो बहुत दूर की बात है, नाम उच्चारण करना भी अप्रिय लगता है। वहाँ सम्बन्धित व्यक्ति के लिये बहुत बड़े त्याग की आवश्यकता पड़े तो अपनी हानि उठाकर भी उसके लिये तैयार रहता है, यहाँ उसका किसी भी प्रकार का लाभ या उन्नति असह्य हो जाती है, इसलिए सदा उसकी सब प्रकार से हानि करना चाहता है। वहाँ उसके मान-सम्मान को देखकर अपार हर्ष होता है, यहाँ उसके लिए यह सबसे अधिक पीड़ादायक चीज होती है, इसलिए अन्दर ही अन्दर जल-भुन जाता है। वहाँ उसके सान्निध्य, उसकी उपस्थिति को सदा-सर्वदा बनाये रखना चाहता है, एक क्षण के लिये भी उससे पृथक् होना नहीं चाहता है, यहाँ एक क्षण के लिए भी उसका दर्शन नहीं करना चाहता। वहाँ उसके वियोग या उसकी मृत्यु में शोक के आंसू बहाता है, यहाँ ऐसे प्रसंगों में उसकी सम्पूर्ण सत्ता खुशियों से भर जाती है। वहाँ सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति के लिये प्राण तक दे देता है तो यहाँ प्राण तक ले लेता है। एक वाक्य में— रागात्मक सम्बन्धों में जो-जो कुछ भी होता है, द्वेषात्मक सम्बन्धों में उससे सर्वथा विपरीत होता रहता है।

जो साधक शान्ति, अमिश्र-आनन्द या अबाधित प्रसन्नता को अपने अस्तित्व का अंग बनाना चाहते हैं, एक क्षण के लिये भी जो क्लेशयुक्त

सम्बन्ध

जीवन जीना नहीं चाहते, उन्हें इन दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों से ऊपर उठ जाना चाहिए। ऐसा नहीं हो पायेगा कि रागात्मक सम्बन्ध तो बना लें और द्वेषात्मक सम्बन्धों से अछूते रह जायें। यदि किसी भी वस्तु-व्यक्ति-विचार या क्रिया-कलाप के साथ किसी ने विशेष सम्बन्ध स्थापित कर लिया तो निश्चित रूप से उस-उस वस्तु-व्यक्ति या क्रिया-कलाप के साथ व्यक्ति का राग बढ़ता जायेगा, राग की जड़ें अधिक-अधिक विस्तीर्ण होती जायेंगी और जो भी वस्तु-व्यक्ति या परिस्थिति उसमें बाधक बनेगी उसके प्रति द्वेष भी साथ-साथ अपने पैर जमाता रहेगा। इसीलिये यह कहा जाता है— जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी अवश्यंभावी रूप से साथ में रहता ही है। ये हटते हैं तो दोनों ही एक साथ हटते हैं और रहते हैं तो भी दोनों साथ ही रहते हैं।

इसको और स्पष्टता के लिये इस रूप में समझा जा सकता है— किसी व्यक्ति के किसी दूसरे व्यक्ति के साथ रागात्मक सम्बन्ध, मोहात्मक सम्बन्ध या आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध होते हैं तो वह उस व्यक्ति पर अपना अधिकार समझता है। इन रागपूर्ण सम्बन्धों में अधिकार भाव तो विशेष रूप से रहता है, सो वह अधिकृत व्यक्ति जब उसकी अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ करता है तो उसे क्रोध आता है। यदि दूसरा कोई उसके साथ अभद्र व्यवहार करे— हमारी अधिकृत वस्तु या व्यक्ति पर अपना अधिकार जमावे, तब तो क्रोध अपनी चरम सीमा पर होता ही है। एक राजनेता दूसरे राजनेता से इसी कारण से तो द्वेष करता है कि उसके द्वारा अधिकृत पद को दूसरे ने छीन लिया अथवा छीनने का प्रयत्न कर रहा है। जो-जो उस पद को बनाये रखने में सहयोग देते हैं, उनके प्रति राग हो जाता है। इस सब विवेचन से यही सार निकलता है— व्यक्ति की अपनी किसी भी प्रकार की इच्छा की पूर्ति अथवा किसी भी प्रकार के सुख की उपलब्धि के साथ राग तथा इच्छा की अपूर्ति व दुःख की प्राप्ति के साथ द्वेष जुड़ा हुआ है।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के द्वारा इन्द्रियों को जब सुख मिलता है तो इन्द्रियों का उनमें राग हो ही जाता है। रूप, बल, विद्या, पद, प्रतिष्ठा के द्वारा

साधना पथ

मन को सुख मिलता है अतः मन का उन उन चीजों में राग होता ही है। वस्तु, भूमि, भवन, वस्त्र, पुस्तक, पशु आदि के द्वारा शरीर को सुख मिलता है सो उन सब वस्तुओं के प्रति, साथ में उन सब को प्राप्त करने में मदद करने वालों के प्रति भी राग उत्पन्न हो जाता है। सुयोग्य पुत्र या शिष्य के कारण प्रतिष्ठा मिलती है और व्यक्ति के अहं को तृप्ति मिलती है, अतः उस में राग होता ही है। सोना-चाँदी, रुपये-पैसे आदि चल-अचल सम्पत्ति के द्वारा व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित अनुभव करता है अतः उनके प्रति राग की जड़ें कितनी गहरी चली जाती हैं, इसे सूक्ष्मदृष्टि (आत्मनिरीक्षण) से अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार सुख के सहारे से राग आगे बढ़ता रहता है।

यह आवश्यक नहीं है कि जिस-जिस वस्तु या व्यक्ति के साथ रागात्मक सम्बन्ध हो गये वे सदा रागात्मक ही बने रहेंगे। परिवर्तन भी होता रहता है। छोटे-छोटे बच्चों के प्रति माता-पिता के रागात्मक सम्बन्ध होते हैं। बालक बड़े होने पर माता-पिता की अवज्ञा, उनका सर्वथा अपमान करने लग जाँ, मार-पिटार्ई करने तक पहुँच जाँ तो पहले वाले सम्बन्ध एकदम से परिवर्तित हो जाते हैं। एक समय जो युवक-युवतियाँ इतने प्रेम में रहते हैं कि एक-दूसरे के बिना अपने आपको सर्वथा अकेला अनुभव करते हैं, दूसरे समय वे ही एक दूसरे को देखना तक पसन्द नहीं करते। सम्बन्धियों व मित्रों के बीच भी ऐसा देखा गया है। किसी समय जो एक दूसरे के लिये समर्पित थे, वे ही दूसरे समय उत्तरी ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव की तरह एक दूसरे से दूर चले जाते हैं। जनता एक चुनाव में तो एक राजनेता को अपने कन्धों पर बिठा लेती है, उसके लिये अपना तन, मन, धन, समय-शक्ति सब कुछ अर्पित कर देती है, दूसरी बार उसकी जमानत भी जप्त हो जाती है। इसलिये सम्बन्ध कोई स्थिर चीज नहीं है। जैसे ही व्यक्ति की इच्छा व सुख में बाधा पहुँची, वैसे ही सम्बन्ध भी टूट जाते हैं या बदल जाते हैं। सम्बन्ध की इस वास्तविकता का दर्शन करते हुए जो जीवन-साधक अपनी जीवन साधना में लगे होते हैं, वे कभी भी किसी वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ या क्रियाकलाप के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं करते कि

सम्बन्ध

यदि आगे चलकर कभी भी उस सम्बन्ध के टूटने की नौबत आ जाए अथवा उस सम्बन्ध को बदलना पड़ जाए तो वह सम्बन्ध किसी भी प्रकार के क्लेश वा दुःख का कारण बन जाए।

व्यक्ति का अपना अनुभव यह बताता है कि जब किसी भी पदार्थ, वस्तु या व्यक्ति के साथ 'सम्बन्ध-विशेष' हो जाता है, तभी ये सब समस्यायें पैदा होती हैं। सम्बन्ध-विशेष और कुछ नहीं है केवल रागात्मक, मोहात्मक या आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध का ही दूसरा नाम है। महापुरुष अपने निज अनुभव से जब इस सत्य का उद्घाटन करते हैं कि **'किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का न होना ही सच्चा सम्बन्ध है'** तब उनका तात्पर्य इसी बात में होता है कि सम्बन्ध-विशेष का न होना, रागात्मक सम्बन्ध का न होना, आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध का न होना अथवा मोहात्मक सम्बन्ध का न होना। जहाँ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, उसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ भी सामान्य सम्बन्ध तो होता ही है, उसे कभी भी हटाया नहीं जा सकता। वस्तुतः देखा जाये तो इस सामान्य सम्बन्ध में ही कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के साथ समग्र रूप से सम्बन्धित होता है, अन्यथा उस-उस स्वार्थ विशेष को लेकर आंशिक रूप में ही सम्बन्धित हो पाता है। सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति से अन्य जो वस्तु अथवा व्यक्ति हैं उनसे तो असम्बन्ध स्पष्ट रूप से रहता ही है, सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति से भी पूर्ण रूप से सम्बन्ध नहीं होता। वैसे यह बात सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की है। बहुत विरले लोगों को ही यह रहस्यमय तथ्य बोधगम्य होता है।

किसी को यह आशंका हो सकती है कि सभी सम्बन्धों से ऊपर उठ जाने पर क्या व्यक्ति का व्यवहार बहुत कठोर नहीं हो जायेगा? सो इसका उत्तर तो यही दिया जा सकता है कि व्यवहार की कठोरता अथवा मृदुता सम्बन्धों की घनिष्ठता पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि यह इस बात पर निर्भर करती है कि कोई व्यवहार-धर्म को कितना महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में हृदय की कठोरता व कोमलता पर व्यवहार की कठोरता व कोमलता टिकी हुई

साधना पथ

होती है। जो व्यक्ति व्यवहार-धर्म को महत्त्व देता है अर्थात् जिसका हृदय कोमल (Kind Heart) है, वह कभी भी किसी के साथ कठोर व्यवहार कर ही नहीं सकता। यह पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता कि मोह या स्वार्थ के बिना व्यक्ति किसी का सहयोग, रक्षण या पालन कर ही न सके। अपने स्वार्थ या मोह के वशीभूत होकर ही व्यक्ति दूसरे को सुख देता है या देना चाहता है, यह आंशिक सत्य तो हो सकता है पर पूर्ण सत्य नहीं। मनुष्य के अस्तित्व में कोई ऐसी चीज भी है, जिसका जीवन के अनेक प्रसङ्गों में अनुभव किया जा सकता है कि जो पूर्ण निःस्वार्थभाव से दूसरे की मदद करना चाहती है।

बिना किसी मोह के भी व्यक्ति दूसरे को सुख दे सकता है। एक व्यक्ति पानी में डूब रहा है, दूसरा अपरिचित व्यक्ति उसे देखते ही अपने जीवन की परवाह न करके पानी में छलांग लगा देता है और डूबते हुये उस व्यक्ति को बचा लेता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति सड़क के किनारे दुर्घटनाग्रस्त हुआ पड़ा है। उधर से गुजरने वाला व्यक्ति उसे अपनी गाड़ी में उठाकर हॉस्पिटल ले जाता है और आवश्यक तात्कालिक उपचार से उसके जीवन को बचा लेता है। कोई राहगीर घूमता-फिरता किसी के घर आ जाए और सायंकाल हो जाए तो उसे आराम से ठहराया भी जाता है तथा भोजन भी कराया जाता है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि बिना विशेष सम्बन्धों के केवलमात्र व्यवहार-धर्म का पालन करने के उद्देश्य से भी एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की मदद कर सकता है। जिस व्यक्ति ने किसी प्रकार का दूसरे से सुख लिया अथवा अपने लिये दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट दिया, वह भी व्यवहार-धर्म का आदर करते हुए दूसरे को सुख देना चाहेगा तथा दूसरे के लिए कष्ट उठाना पड़े तो कष्ट भी उठायेगा। यहाँ तक कि तन, मन, धन और प्राण तक भी अर्पित करने पड़ें तो वो भी अर्पित कर देगा। किसी ने किसी के लिये यदि कुछ किया है तो उपकृत को उपकारक का ऋण मानना ही चाहिए, पर इससे भी एक कदम आगे— सहाय के इच्छुक जिस किसी की भी 'संभव-मदद' करनी ही चाहिए, यह भी व्यवहार-धर्म के अन्तर्गत ही आता है।

सम्बन्ध

विविध सम्बन्धों वाले इस संसार में रहता हुआ साधक इन्हें एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देख या समझ सकता है। नाटक खेलते समय सूत्रधार के निर्देशानुसार एक निश्चित अवधि के लिये रंगमंच पर अलग-अलग पात्रों के द्वारा पृथक्-पृथक् भूमिकाएं निभाई जाती हैं। अपना-अपना पार्ट अदा करते हुए विभिन्न पात्रों के बीच नाटक के सूत्रधार के द्वारा कुछ सम्बन्ध भी स्थापित कर दिए जाते हैं। वे सब के सब सम्बन्ध केवलमात्र रंगमंच तक ही होते हैं। रंगमंच से नीचे उतरते ही वे सब सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। अब न पति पति है, न पत्नी पत्नी, न पिता पिता है, न पुत्र पुत्र, न गुरु गुरु है, न शिष्य शिष्य, न कोई स्वामी है न कोई सेवक, न कोई मालिक है न कुछ मिलिक्यत, न कोई छोटा है न कोई बड़ा। ये सब व्यवहार तो रंगभूमि तक थे। इसी प्रकार यह संसार एक विशाल रंगमंच है। भगवान् भूतनाथ इसका सूत्रधार है। सब मनुष्य जीव नाटक खेलने वाले हैं। मनुष्येतर गो आदि पशु, वस्त्र-पुस्तक-भवन-भूमि-यान तथा मनुष्य का अपना शरीर इत्यादि साधन सम्भार नाट्य सामग्री हैं। सूत्रधार, ईश्वर (स्रष्टा, विधाता या जो कुछ कहें) के द्वारा नाटक खेलने वाले अभिनेताओं के बीच कुछ सम्बन्ध निर्धारित कर दिये जाते हैं, कुछ न कुछ साधन सामग्री भी दे दी जाती है। नाटक को देखने वाले दर्शकगण भी होते हैं। वही अभिनेता अच्छा माना जाता है जो अपने सूत्रधार के निर्देशों व संकेतों को यथावत् समझता है तथा सूत्रधार द्वारा निर्धारित सम्बन्धों का निर्वहन इतनी कुशलता से करता है कि दर्शकगण मुग्ध हो उठते हैं, साथ में नाटक खेलने के लिये सूत्रधार द्वारा प्रदत्त की गयी साधनसामग्री का दुरुपयोग भी नहीं करता, उसको गन्दा नहीं करता।

साधक भी यह समझता रहे कि वह कुछ समय के लिये अपना अभिनय करने हेतु इस संसाररूपी रंगमंच पर भेजा गया है। अभिनयकाल में दूसरे अभिनेताओं के साथ जो सम्बन्ध हैं वे शाश्वत नहीं हैं, केवलमात्र उतने ही काल के लिये हैं जितना सूत्रधार को अभीष्ट है। अभिनय काल की समाप्ति के साथ ही सम्बन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। सब से मुख्य बात है सूत्रधार की

साधना पथ

इच्छा को समझना। सूत्रधार को यह बात सर्वथा पसन्द नहीं है कि कोई अभिनेता अपनी मनमानी करने लगे। अभिनेता को बराबर यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि रंगभूमि से नीचे उतरते ही हम सब एक ही हैं— वहाँ कोई ऊँच-नीच या छोटे बड़े का भेद नहीं है। इस विचार वाला साधक कैसे अभिमान का शिकार हो सकता है? इसके साथ साधक को सम्बन्ध की अल्पकालिकता से पूर्ण अवगत रहना चाहिए। आखिर इस सृष्टि के अनन्तकाल में सम्पूर्ण जीवन भी कितना सा है? सम्बन्ध की यह क्षणभंगुरता साधक के मन में बराबर बनी रहे तो सम्बन्ध कभी भी राग में परिणत नहीं हो सकता। व्यक्ति अपने मिथ्या विचार से इसको इतना लम्बा कर देता है कि वह मोह में बदल जाता है। जैसे दो व्यक्ति विभिन्न स्थानों से आकर किसी धर्मशाला में ठहर जाते हैं व प्रातः उठकर सहजता से अलग-अलग हो जाते हैं या किसी नदी को पार करते समय नाव में दो व्यक्ति एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं अथवा किसी यान में यात्रियों का सम्मिलन हो जाता है और फिर वियोग हो जाता है। जीवन के सन्दर्भ में भी तो यही होता रहता है, पर वहाँ व्यक्ति का मन उलझ जाता है। कारण स्पष्ट है— भ्रान्तिवश व्यक्ति उस सम्बन्ध को शाश्वत मान लेता है।

किसी अभिनय के लिए आये हुए दो व्यक्तियों के सम्बन्ध राग में क्यों नहीं बदलते— क्योंकि उन्हें स्पष्ट बोध रहता है कि कुछ काल के लिए ही हम मिले हैं। इसी प्रकार नाटक के अभिनेताओं को अभिनय के लिए जो सामग्री दी जाती है उसमें उनकी कभी भी आसक्ति नहीं होती या ममत्व नहीं होता, उन्हें पता होता है कि अभिनय तक ही इस पर हमारा अधिकार है। जीवन के सन्दर्भ में भी यदि यह भाव आ जाए कि जो भी शरीर-वस्त्र-पुस्तक-भूमि-भवन-यानादि साधन सामग्री है, वह सूत्रधार की ही है, जब तक उसकी इच्छा है मेरे पास है, मेरा इस पर कोई शाश्वत अधिकार नहीं है तो कैसे व्यक्ति उसे अपना मान सकता है या अपना बना सकता है? जैसे अच्छे अभिनेता, आज्ञाकारी अभिनेता या अपने सूत्रधार का प्रियाचरण करने वाले अभिनेता समस्त साधन सामग्री को अपना न मानते हुए भी उसे सम्भाल कर रखते हैं। उसको नष्ट नहीं

सम्बन्ध

करते, उसी प्रकार जीवन-साधक भी जीवनोपयोगी सब चीजों का उपयोग लेते हैं, उनकी रक्षा भी करते हैं, पर उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते।

‘यह सब असम्भव बातें हैं— व्यवहार के धरातल पर ऐसा हो ही नहीं सकता’ जिनके मन ने यह मान लिया है— वे तो कैसे इस स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं? पर जो इसे सम्भव मानते हैं और जीवन के विविध प्रसङ्गों में इस तथ्य को देखते ही रहते हैं— वे पूर्ण निर्लिप्त जीवन जीते रहते हैं। जैसे कि एक अध्यापक विद्यालय में पढ़ाने जाता है, उसे विद्यालय की वस्तुओं (पुस्तक-चॉक-कुर्सी-भवन इत्यादि) पर कभी भी मेरेपन का रागयुक्त भाव पैदा नहीं होता। एक अच्छा अध्यापक उन वस्तुओं के प्रयोग के साथ उनकी सुरक्षा भी उतने ही मनोयोग से करता है, जितना कि कोई सांसारिक व्यक्ति अपनी समझी जाने वाली वस्तुओं की करता है। बसों व रेलों का सब उपयोग लेते हैं, पर कभी भी वहाँ आसक्ति नहीं होती। एक निःस्पृह व्यक्ति सुन्दर वाटिका को देखकर उतना आनन्द ले लेता है, जितना उसका माली भी कदाचित् न ले पाता हो।

हमारी खोज हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि इस विशाल जगत् के साथ जब हम सम्पूर्ण रूप से सम्बन्धित होते हैं तो विभाजन (भेद) समाप्त हो जाता है। जहाँ भी किसी भौतिक वस्तु या व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का विशेष सम्बन्ध होता है वहाँ समग्र से सम्बन्ध टूट जाता है और जिस के साथ विशेष सम्बन्ध बनाया है, वह चूँकि सहज नहीं है— कृत्रिम है किसी न किसी स्वार्थविशेष या सुखविशेष पर अवलम्बित है इसलिए कभी न कभी वह टूट ही जायेगा, सदा रहने वाला नहीं हो सकेगा। जो चीज पहले नहीं थी वो पश्चात् भी नहीं रहेगी। अन्त में तो वही रह पायेगी जो पहले भी थी (‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’। गीता २.१६)। इस सत्य का अवलोकन करते हुए साधक इस समष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ता। अपने लिए सम्बन्ध विशेष के द्वारा सुख लेने की इच्छा को एकदम समाप्त कर देना

साधना पथ

चाहता है, इसी का नाम 'वैराग्य' है। हाँ! संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'परस्पर-पूरकता' सम्बन्ध का आदर्शतम रूप है। यदि कोई समर्थ है तो दूसरे का सहयोग करे और यदि असमर्थ है तो दूसरे से सहयोग ले अर्थात् आदान-प्रदान रूप सेवा का सम्बन्ध तो रहना ही चाहिए, पर वह ऐसा नहीं कि सेव्य मुझसे अवश्य सेवा ग्रहण करे या जो सेवा नहीं देना चाहता उससे भी सेवा लेने के लिए आग्रह करे। यही निष्काम कर्म है, यही ज्ञान है और यही भक्ति है।

- साधक त्याग के द्वारा ही अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को उपलब्ध कर पाता है।
- त्याग के पथ पर चलने वाले साधक के तीन सहायक वचन हैं- 'नास्मि, न मे, नाहम्।' जिसको भेदात्मक सम्बन्ध के आधार पर मैं 'मेरा-मेरा' कहता हूँ, वह 'मैं' आत्मा नहीं है (न मे)। जिसको अभेदात्मक सम्बन्ध के आधार पर मैं 'मैं-मैं' कहता हूँ वह भी मैं नहीं है (नाहम्)। बाह्य वस्तु विचार व्यक्ति के साथ असम्बद्ध होने पर भी बुद्धि के सहयोग से जब 'मैं हूँ'- 'मैं हूँ' के रूप में अपने को देखता हूँ, वह भी 'मैं' नहीं है (नास्मि)। इन सब अवस्थाओं के परे 'शुद्ध मैं' का अनुभव होता है जहाँ परमशान्ति है, जहाँ विचार का कोई हस्तक्षेप नहीं, जो चिन्मय है, जहाँ किसी भी प्रकार से दुःख का नामोनिशान नहीं है- वह है 'मैं' आत्मा।
- कामना क्या है? किसी भी अप्राप्त लौकिक विषय को प्राप्त करने की चाह।
- त्याग का पथ ज्ञान का मार्ग है जबकि भक्ति-पथ पर प्रेम के आधार पर चला जाता है। त्याग के पथ पर रेचन करना होता है, भक्ति के पथ पर पूरण।
- कितना अच्छा हो कि व्यक्ति जैसे दयाहीन (Mercyless) होकर अपने विरोधी की चीरफाड़ करता है वैसे ही अपनी चीरफाड़ करना भी सीख ले।
- अपने लिए कम से कम, दूसरों के लिए अधिक से अधिक, यही तो यज्ञ चक्र है, सह-अस्तित्व का परम सूत्र है।
- धर्म की जड़ें सदा हरी-भरी रहती हैं क्योंकि सत्य का अमृत जल सदा उन्हें सींचता रहता है।

११. प्रकृति माँ

एक तरफ राम हैं, दूसरी तरफ है उनसे मिलने का प्यासा, उनके दर्शन का इच्छुक अपार जनसमूह; बीच में सीता है। अब राम से मिलने के दो रास्ते हैं या तो सीता की कुछ भी परवाह न करके, एक अर्थ में उसका अपमान करते हुये सीधे राम से जाकर मिल लें अथवा सीता को माता समझकर उससे निवेदन किया जाए, प्रार्थना की जाए कि हम राम से मिलना चाहते हैं, कृपा करके हमको राम के दर्शन करा दीजिए। अब विचारशील व्यक्ति देख सकता है, उपर्युक्त दोनों तरीकों में से कौन सा तरीका उत्तम है जिससे राम के दर्शन भी हो जायें और राम का आशीर्वाद भी पा सकें। दूसरे उन्हीं में से कुछ लोग इतने नीच व पामर भी होते हैं कि सीता के अप्रतिम रूप व सौन्दर्य को देखकर उससे मोहित होकर उसे भोग्या बनाने के पागलपन में फँस जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि हम तो राम के दर्शन करने आये थे और अब किस चीज की इच्छा करने लगे। वे कामनावश अन्धे हो जाते हैं और यह नहीं देख पाते कि महान् शक्तिशाली राम हमारे इस कर्म का कितना भयंकर दण्ड देगा। राम के शक्तिशाली हाथों का अपरिमित बल उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। उन्हें यह भी याद नहीं आता— जिसे हम अबला समझकर भोग्या बनाने जा रहे हैं— वह अबला नहीं बल्कि अथाह बल का भण्डार है, वह रणभूमि में दुष्टों का खून पी जाने वाली काली है, अपने पुत्रों के लिए जितना उसका सौम्य रूप है, इन नर-पिशाचों के लिए उतनी ही प्रलय मचा देने वाली रुद्राणी भी है। इस प्रकार अज्ञान-विमोहित हुए ये लोग स्वयं ही अपनी मौत को बुला लेते हैं।

यह रूपक प्रतिक्षण हमारे जीवन में घटित हो रहा है। राम हैं— ईश्वर, सत्य, भगवान्, शाश्वत या जो कुछ कहें। सीता है प्रकृति। मनुष्य-जन्मधारी सभी लोग हैं— राम के दर्शन करने के इच्छुक अर्थात् ईश्वर-दर्शन के प्यासे। इनमें से कुछ लोग प्रकृति की परवाह न करते हुए ईश्वर-प्राप्ति करना चाहते हैं, स्पष्ट ही वे गलती पर हैं। प्रकृति का निरादर करने वालों से ईश्वर कैसे

साधना पथ

खुश हो सकता है? सीता के साथ उदासीनता या लापरवाही का व्यवहार करने वालों से क्या कभी राम प्रसन्न हो सकते हैं? दूसरी तरफ जो लोग प्रकृति को भोग्या बनाना चाहते हैं वे तो किसी भी तरह ईश्वर का दर्शन कर ही नहीं सकते उलटा उसके भयंकर कोप के पात्र बन जाते हैं, उधर प्रकृति भी उन भोगासक्त या भोगमना: लोगों को अपनी शक्ति से नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। उनकी सब शक्ति क्षीण हो जाती है; उनके शरीर व मन दोनों ही निरुत्साहित, निस्तेज, जर्जरित हो जाते हैं। उनमें जीवन नाम की चीज सर्वथा समाप्त हो जाती है। ईश्वर के दर्शन तो केवलमात्र वे लोग ही कर पाते हैं जो न तो प्रकृति के प्रति उदासीनता का रुख अपनाते हैं और न उसे भोग्या बनाते हैं, बल्कि उसे माता समझकर उसकी पूजा करते हैं, सम्मान करते हैं और उससे विनम्रता पूर्वक निवेदन करते हैं कि वह ईश्वर (अपने स्वामी) तक पहुँचाने में माध्यम बने। यही सच्चा ज्ञान है, यही भक्ति है और इसी का नाम है 'वैराग्य'। अपने मन को इस ज्ञान के प्रति आस्थावान् बनाए रखने के लिए किये गये प्रयत्न का नाम 'अभ्यास' है।

- बहुत से मनुष्यों ने अभी तक प्रयत्न, संघर्ष, युद्ध, परिश्रम, गति, तर्क और युक्ति के महत्त्व को तो समझ लिया है किन्तु सहजता, शान्ति, विश्राम और श्रद्धा का महत्त्व अभी उन्हें समझना है। इसके समझे बिना जीवन की समझ अधूरी ही है।
- सुख-दर्शन से प्रवृत्ति और दुःख-दर्शन से निवृत्ति सहज रूप में होती रहती है।
- मनुष्य एक ऐसा भटका हुआ देवता है, जो अपने देवत्व को सर्वथा भूल ही गया है। गुरु-आचार्य उसका उससे अर्थात् स्वयं से परिचय करा देते हैं या यह भी कहा जा सकता है— यह एक बिना तराशा हुआ हीरा है, गुरु-आचार्यों का मार्गदर्शन, उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनका आशीर्वाद उसे तराशने का काम करते हैं।

१२. स्वस्थता अर्थात् अद्वैत

एक है हमारा स्थूल शरीर, दूसरा है सूक्ष्म शरीर। इन दोनों शरीरों के निरोग व बलवान् होने से व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ समझा या जाना-माना जाता है। यद्यपि इन दोनों के आपस में सम्बद्ध होने पर एक की स्वस्थता और अस्वस्थता का दूसरे पर पूरा-पूरा प्रभाव भी पड़ता है। फिर भी दोनों को स्वस्थ बनाए रखने के लिए कुछ अलग-अलग प्रयत्न भी किए जाते हैं। प्रायः स्थूल शरीर के रोग तो व्यक्ति के अनुभव में तत्काल ही आ जाते हैं कि अब तू रोगी हो गया है। रोग के स्वरूप और उसके कारणों का पता तो बेशक सबको न लगे, पर इतना तो पता लग ही जाता है कि किसी न किसी रोग ने तुझको घेर लिया है। और इतना ज्ञान होने पर व्यक्ति अपने ज्ञान व सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ उपचार भी करता ही है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि व्यक्ति के पैरों में काँटा चुभ जाए और उसे न निकाले। पेट में दर्द हो जाए और दवा न ले। आँख में कुछ गिर जाए और उसे साफ न करे। ज्वर आते ही व्यक्ति वैद्य या डॉक्टर के पास पहुँच जाता है। पर मन में जब काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेष-अहंकार के काँटे चुभते हैं तब या तो व्यक्ति को पता ही नहीं चलता और यदि पता चल भी जाए तो उन्हें निकालने का कुछ प्रयत्न नहीं किया जाता। बल्कि यह कहना चाहिए व्यक्ति उसी में रस लेता रहता है और उपचार करने के बजाए उस घायल मन को लिए लिए ही जीता रहता है। जैसे भोजन, निद्रा, व्यायाम व ब्रह्मचर्य इन चार साधनों के समुचित प्रयोग से व्यक्ति का स्वास्थ्य दर्शनीय हो जाता है और शरीर का बल निरन्तर बढ़ता रहता है, उसी प्रकार स्वाध्याय, सत्संग, सजगता, आत्मचिन्तन, निष्काम-सेवा, वैराग्य, निःस्पृहता, करुणा, शुद्ध-प्रेम, शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-उपासना, अन्तर्दृष्टि इत्यादि साधनों से मन व बुद्धि सदा निरोग रहते हैं तथा मनोबल इतना अधिक बढ़ जाता है कि भय, संशय आदि को समूल नाश करने के लिए उत्साह को पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। मन निरन्तर संवेदनशील होता चला जाता है, जिसके फलस्वरूप

साधना पथ

व्यक्ति सूक्ष्म क्लेशों को भी पहचानने में पूर्ण सक्षम हो जाता है।

जैसे शरीर की तरफ ध्यान न देने से शरीर कमजोर व रोगी होता चला जाता है उसी प्रकार मन की तरफ ध्यान न देने से मन भी निर्बल होता जाता है, सदा रुग्ण रहने लगता है, कोई उत्साह नहीं रहता। यह कमजोर मन ही तो है जो सदा भय-भ्रान्ति-संशय आदि से घिरा रहता है, जो तुरन्त बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो जाता है। किसी बहुरूपिया की तरह जो क्षण-क्षण में अपने रूप-रंग को बदलता रहता है। निर्बल मन में ही काम-क्रोधादि शत्रु अपना डेरा जमा पाते हैं। इसे कमजोर जानकर ही तो ये सब चोर अथवा डाकू चुपके से सीधे ही घुस जाते हैं और इसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य (शान्ति, अहैतुक-प्रेम, सेवा, भक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, धैर्य, क्षमा, संयम, दया-करुणा, अन्तर्दृष्टि, एकाग्रता, विनम्रता आदि) को लूटते रहते हैं, इसे एकदम दरिद्र बना देते हैं। निस्तेज व बलहीन मन कैसे विरोधी शक्तियों का सामना करने में सक्षम हो सकता है? यही मन तो 'गङ्गा गए गङ्गादास और जमुना गए जमुनादास' वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता रहता है। निर्बल मन ही तो अपने आप को अकेलेपन की आग में झुलसाता रहता है। एक वाक्य में कहें तो जितना भी कष्ट-क्लेश-दुःख-असंयम-पारतन्त्र्य है, वह सब रुग्ण व कमजोर मन के कारण है।

संसार की तरफ से आँखें मीच लेने से मन में अपार बल आ जाता है। किसी विषय में कभी कोई प्रमाद न करने से भी मन का बल बढ़ता रहता है। जहाँ संकल्पों को तोड़ते रहने से मन की शक्ति क्षीण होती रहती है, वहाँ अपने संकल्पों पर अडिग बने रहने से मन बलवान् होता जाता है। मन के पीछे चलने से मन निर्बल और मन को अपने पीछे चलाने से यानी सत्य के, धर्म के, महापुरुषों के, ऋषि-मुनियों के या वेदादि सत्यशास्त्रों के पीछे चलाने से वही मन बल से परिपूर्ण होता चला जाता है। दोषयुक्त जीवन जीने से मन की शक्ति घटती है, इसके विपरीत निर्दोष जीवन जीने से वह बढ़ती रहती है। असंयम और स्वेच्छाचारिता से मन अपने समस्त शौर्य व तेज को खो बैठता है। ऐसे मन को इस विशाल सौन्दर्य से परिपूर्ण सृष्टि में कुछ भी अच्छा नहीं

स्वस्थता अर्थात् अद्वैत

लगता। मांग (Demand) और शिकायत (Complaint) ही उसका स्वभाव हो जाता है। वह अपने ही समान दूसरों को भी भय-भ्रम और संशय से युक्त देखता है। बलवान् मन जहाँ सर्वत्र बल के ही दर्शन करता है वहाँ निर्बल मन को कमजोरी ही कमजोरी दिखाई देती है। जैसे शरीर का स्वास्थ्य बहुत कुछ व्यक्ति के अपने ही हाथ में होता है वैसे ही मन को स्वस्थ व बलवान् रखने की जिनके अन्दर तीव्र इच्छा है, वे उन कारणों या परिस्थितियों को पैदा नहीं होने देते अथवा वहाँ से अपने आपको हटा लेते हैं जहाँ उन्हें लगता है कि अमुक व्यवहार, अमुक परिस्थिति, अमुक क्रियाकलाप मेरे मन की शक्ति को क्षीण कर रहा है या कर देगा।

शरीर के विषय में तो बेशक यह घोषणा शत-प्रतिशत पूर्ण सत्य सिद्ध न हो पाये कि मैं कभी रोगी नहीं पड़ूँगा। पूर्ण ध्यान देने पर भी एक-दो प्रतिशत कहीं न कहीं कमी रह सकती है, पर मन के विषय में तो यह सम्भव है कि एक क्षण के लिए भी किसी प्रकार का कोई रोग न आए, शर्त है कि उसके सम्पूर्ण अस्तित्व की ही ऐसी माँग हो गई हो। मनुष्य जाति का पिछला इतिहास भी यह सिद्ध करता है कि ऐसे कितने ही लोग हो चुके हैं, साथ में व्यक्ति स्वयं के अनुभव से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। यह सब निर्भर करता है व्यक्ति की चाहत के ऊपर— वह चाहता क्या है? जितना चाहता है उसी अनुपात में मिलता है। पर यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि शरीर का यानी अस्तित्व का आधा हिस्सा एक चीज चाहता है आधा दूसरी और फिर सोचने लगे या कहने लगे कि मैंने तो इसे नहीं चाहा था, मुझे यह क्यों मिल रही है तो यही कहा जायेगा कि वह व्यक्ति अपनी चाहत के विषय में स्पष्ट नहीं हुआ है। मन का पूर्ण स्वस्थ, बलवान् व रोगरहित बने रहने का नाम ही ज्ञान है, यही 'वैराग्य' है, यही 'जीवन की कृतकृत्यता' है। इस स्थिति को पाने के लिए की गई तमाम कोशिशें 'अभ्यास' के अन्तर्गत आती हैं।

जब यह कहा जाता है— अद्वैत में ही पूर्ण सुख है; द्वैत में दुःख-दर्द-पीड़ा, भय, क्लेश, पराधीनता, बन्धन जैसी चीजें हैं, तो इस कथन के पीछे एक बहुत बड़ा सत्य छिपा हुआ है, उसे समझने की आवश्यकता है। हमारा जो अस्तित्व

साधना पथ

है इसके कई भाग हैं— शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, चैत्य पुरुष, आत्मा। जब ये सब चैत्य पुरुष के साथ एक होकर रहते हैं तो यही अद्वैत की स्थिति है। उस समय हमारा अस्तित्व कई हिस्सों में बंटा हुआ नहीं होता। स्पष्ट है सदा अन्तर्मुख रहने वाले, प्राणिक सुखों की इच्छा से मुक्त, मनोमय कामनाओं से दूर जो अपने शान्त स्वरूप में बने रहते हैं, जहाँ इन्द्रियों में, प्राणों में या मन में किसी भी प्रकार का विचलन नहीं होता, अस्तित्व के सभी भागों में पूर्ण सामञ्जस्य होता है, सन्तुलन या क्षमता अखण्डित बनी रहती है, ऐसी महान् आत्माओं के लिये ये शब्द उच्चरित होते हैं कि ये अद्वैत के उपासक हैं; यही समस्त वेदों का सार होने से सच्चा वेदान्त है और इस ज्ञान से युक्त लोगों को वेदान्ती कह देते हैं।

जब हमारा अस्तित्व बँटा हुआ होता है तो चैत्य पुरुष कुछ चाहता है, इन्द्रियाँ कुछ और, मन कुछ अलग; अस्तित्व के सभी भाग अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग आलापने लगते हैं, तो यही द्वैत की स्थिति है। द्वैत में निश्चित रूप से भय, परतन्त्रता आदि होते ही हैं। लोक में भी देखते हैं— जब तक कोई परिवार संगठित रूप से एक होकर रहता है तो उन्हें परस्पर किसी से किसी को कोई भय नहीं होता, चूँकि वे अपने बड़े मुखिया के अनुशासन में रहते हैं— प्रशासन में नहीं, इसीलिये वहाँ पराधीनता का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। जब वही परिवार विभाजित हो जाता है तो पहले जो प्रेम से रहते थे, वे अब एक-दूसरे से भयभीत हैं। अनेक प्रसङ्गों में न चाहते हुए भी एक-दूसरे के सामने झुकना पड़ता है। एक के बल के समक्ष दूसरे को निर्बल होने के कारण पराधीन होना पड़ता है। इसी प्रकार जब हमारा अस्तित्व विभाजित हो जाता है तो सब हिस्सों में एक-दूसरे से भय उत्पन्न हो जाता है। इन्द्रियों व मन की मांगों के समक्ष आत्मा को न चाहते हुए भी भयाक्रान्त रहते हुए पराधीन होकर घुट-घुटकर जीना पड़ता है।

जहाँ अद्वैत है वहाँ कोई संघर्ष नहीं, पर जहाँ द्वैत है वहाँ संघर्ष अवश्यंभावी है। संघर्ष है तो एक-दूसरे की उठा-पटक, जय-पराजय भी जरूरी है। कभी आत्मा की विजय तो कभी मन व इन्द्रियों की। संघर्ष में हिंसा और हिंसा का

स्वस्थता अर्थात् अद्वैत

परिणाम दुःख-क्लेश स्पष्ट है। अद्वैत में यह सब— कुछ भी नहीं है। इसीलिए उपनिषद् के ऋषि ने 'शिवं शान्तम् अद्वैतं प्रपञ्चोपशमम्' कहकर अद्वैत को शिव और शान्त कहा है। यह तो अपने अस्तित्व के विषय में अर्थात् व्यष्टि में अद्वैत की खोज हुई। इसी को समष्टि में भी इसी तरह देखा-समझा जा सकता है। ज्यों-ज्यों समष्टि में अद्वैत भाव अर्थात् एकत्व का दर्शन विस्तीर्ण होता जाता है, त्यों-त्यों व्यक्ति के शोक और मोह गिरते जाते हैं। जैसे दाँत और जीभ एक ही अस्तित्व का भाग होने से कदाचित् जीभ दाँत से कट भी जाए तो कोई झगड़ा नहीं होता वैसे ही समष्टि में अद्वैत भाव को प्राप्त कर लेने पर आपसी टकराव समाप्त हो जाता है। अद्वैतवादी क्योंकि एकत्व का उपासक होता है अतः वह विचार करता है कि जैसे मैं अपने लिए सब जड़-चेतन से सुख चाहता हूँ, दुःख नहीं चाहता। वैसे मुझे भी सुख ही देना चाहिए, किसी को किञ्चित् मात्र भी दुःख नहीं देना चाहिए। जैसे कोई अपने शरीर को अपना कहता है वैसे सम्पूर्ण समष्टि के साथ उसका अपनापन हो जाता है। अपने शरीर में जैसे कोई रोग हो जाता है और उससे कष्ट मिलता है उसी प्रकार वह समष्टिगत किसी प्राणी से दूसरे प्राणी को मिलने वाले कष्ट को देखता है।

इस एकत्व दर्शन को प्राप्त व्यक्ति कैसे अशान्त रह सकता है? कैसे दुःख में रह सकता है? और कैसे किसी को दुःख दे सकता है? वह किससे मोह करे और किस पर शोक? क्योंकि शोक और मोह के लिये द्वैत चाहिए, विभाजन चाहिए, मैं और मेरा चाहिए। जहाँ सब कुछ ही मेरा हो गया है, एक हो गया है या दूसरे शब्दों में सब कुछ ही अपना हो गया है, स्पष्ट है वहाँ किससे तो मोह किया जाए और किसका शोक? यही ज्ञान है, इसी को 'वैराग्य' भी कहते हैं। इस विवेक को प्राप्त करने के लिए किये गए पुरुषार्थ का नाम 'अभ्यास' है।

• जो स्वयं सबका प्रकाशक है, द्रष्टा है, सबका ज्ञाता है उसको प्रकाशित करने के लिए, उसको दिखाने-समझाने के लिए अब कोई एक और प्रकाशक द्रष्टा या ज्ञाता कहाँ से आए?

१३. निरपेक्षता

जीवन को आनन्द से भर देने वाले बहुत सारे दिव्यभाव हैं, उनमें से एक प्रमुख भाव है 'निरपेक्षता'। 'किसी से किसी प्रकार की कोई इच्छा न रखना, चाह न रखना या अपेक्षा न रखना' यही इस शब्द का अर्थ समझा जाता है। जिस जगत् में व्यक्ति रहता है वहाँ व्यक्ति का व्यक्ति के साथ कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सम्बन्ध जो भी हों— मित्र-मित्र, पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा इत्यादि ये जितने गहरे होते हैं, परस्पर अपेक्षाएं भी उतनी ही अधिक होती चली जाती हैं। सामान्य सम्बन्ध में भी अपेक्षाएं तो होती हैं, पर वे कम होती हैं। किसी से किसी का सामान्य या विशेष सम्बन्ध तो है, पर कोई अपेक्षा नहीं है— ऐसा मिलना दुर्लभ सा लगता है। माता-पिता-गुरुजन-स्वामी-भाई-पति आदि जो भी हैं, वे अपने अधीनस्थ पुत्र, शिष्य, सेवक, छोटा भाई, पत्नी से अपेक्षा रखते हैं कि वे हमारी हर बात का आदर करें, आज्ञापालक बनकर रहें, अच्छे मार्ग में चलें, किसी दुर्गुण-दुर्व्यसन के शिकार न हों, हमारी सेवा करें। इसी प्रकार पुत्र-शिष्य आदि अपने पूज्य लोगों से अपेक्षा रखते हैं कि हमारे माता-पिता-गुरुजनों को हमारे साथ अमुक-अमुक व्यवहार करना चाहिए, हमारे ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए, हमारी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनना चाहिए, हमें अपशब्द या कठोर शब्द नहीं बोलने चाहिए, हमारी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए इत्यादि। पति पत्नी से कुछ चाहता है, पत्नी पति से। स्वामी सेवक से कुछ इच्छा रखता है तो सेवक भी स्वामी से अपनी इच्छा पूर्ति करना चाहता है। सामान्य सम्बन्धों में भी ज्यादा अपेक्षाएं बेशक न हों— इतनी सी तो रहती ही हैं कि मुझे कोई कठोर शब्द न बोले, मेरा अपमान न करे, मेरी वस्तु न चुराये, मेरी निन्दा न करे, मुझसे जैसी प्रतिज्ञा करे उसे पूरा करे, अपनी बात से गिरे नहीं, मेरे साथ सद्व्यवहार करे इत्यादि।

सामान्य सांसारिक जीवन में रहते हुए इन अपेक्षाओं के दो विभाग किये

निरपेक्षता

जा सकते हैं— उचित व अनुचित। जो व्यक्ति समस्त दुःखों से ऊपर उठना चाहते हैं, उन्हें इन दोनों की ठीक पहचान करके अनुचित अपेक्षाएं तो एकदम से त्याग ही देनी चाहिए। उचित अपेक्षाएं रखते हुए भी अन्दर से निरपेक्ष रहने का संकल्प रखना चाहिए अर्थात् वाणी और भावना में दूसरे के कल्याण की बात रखनी चाहिए, अच्छी से अच्छी सलाह देते रहना चाहिए, दिशा-निर्देश, प्रेरणा इत्यादि सब कुछ करते हुए इस अपेक्षायुक्त स्थूल भाषा का प्रयोग भी किया जा सकता है कि “हम आपको ऐसा-ऐसा देखना चाहते हैं, हम आपसे अमुक-अमुक अपेक्षाएं रखते हैं।” इतना सब कुछ करते-कराते व्यक्ति को अन्दर से निरपेक्ष ही रहना चाहिए। वैसे यह अत्यन्त जटिल कार्यों में से एक है। पर जिनके ज्ञान व अनुभव में यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है कि “अधिक अपेक्षा = अधिक दुःख, कम अपेक्षा = कम दुःख, निरपेक्ष जीवन = सर्वसुख”, ऐसे जीवन-साधक दूसरों से छोटी से छोटी भी अपेक्षा रखना छोड़ देते हैं। उनकी अपेक्षाओं का रुख स्वयं की ओर हो जाता है। वे अपने मन, प्राण, इन्द्रियों व शरीर से अपेक्षा रखते हैं कि उन्हें ऐसा-ऐसा होना चाहिए। वे दूसरों के ऊपर दबाव डालने की बजाय अपने ही ऊपर दबाव डालना प्रारम्भ कर देते हैं। यद्यपि वे दूसरों को समझाते हुए भी, दूसरों से चाह रखते हुए भी दिखाई देते हैं, पर वह सब तो व्यवहार धर्म का पालन मात्र होता है। वे इस व्यवहार-धर्म की मर्यादायें भी रखते हैं, जिज्ञासुओं से अपने लिए कुछ भी चाह न रखकर उनके हित की दृष्टि से ही उन्हें कुछ कहते हैं, समझाते हैं, दबाव डालने की आवश्यकता समझाते हैं तो वो भी करते हैं। एक अर्थ में उनकी यह प्रवृत्ति ‘निरपेक्ष सलाह’ के रूप में होती है। बेशक वह सलाह बाह्य रूप में आग्रहपूर्ण और प्रभावशाली शब्दों में ही दी गई हो।

समस्त अपेक्षाओं की जन्मभूमि तो मन ही है, वाणी में तो वे केवल प्रकट होती हैं। अतः वाणी के मौन मात्र से तो यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मन में भी किसी प्रकार की अपेक्षाएं नहीं हैं या मन से वे निकल गई हैं। कोई व्यक्ति वाणी से चुप रहकर भी अनेकानेक अपेक्षाओं से भरा रह

साधना पथ

सकता है और उनके कारण अन्दर ही अन्दर जलता-भुनता हुआ पर्याप्त दुःखी रह सकता है, इसके विपरीत दूसरा भी एक पक्ष सम्भव है— मन तो अपेक्षाओं से खाली है, पर वाणी के द्वारा सापेक्ष दिखाई देता है। अब ऐसी स्थिति में दूसरों की दृष्टि में सापेक्ष है या निरपेक्ष, इस बात को साधक सर्वथा अपने सामने से हटाकर स्वयं का निरीक्षण-परीक्षण करे तथा करता ही रहे कि कहाँ-कहाँ ये अपेक्षाएँ स्थूल रूप में या सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होती रहती हैं, जिनके कारण इतने बड़े दुःख का सामना करना पड़ रहा है। कोई कभी भी इस बात का अनुभव करके देख सकता है कि हम तो उस व्यक्ति की उन्नति चाह रहे हैं कि अमुक-अमुक विशेष गुण उसके जीवन में होने चाहिएँ, पर वह जागरूक नहीं है या नहीं हो पा रहा है तो निश्चित रूप से इस विचार के परिणाम रूप में उसे दुःख मिलेगा। किसी की उन्नति चाहना कोई अशुभ इच्छा नहीं है, निश्चित ही एक शुभ इच्छा है पर यह इच्छा भी जब अपेक्षा में बदल जाती है कि जो मैं सोच रहा हूँ उसे वैसा ही हो जाना चाहिए, तो इसका परिणाम दुःख या क्लेश के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

इच्छा इच्छामात्र बनी रहती है तब तो कुछ दिक्कत पैदा नहीं करती, बेशक उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति के प्रयत्न कितने भी उग्र क्यों न चलते रहें, पर जब वह इच्छा अपने अनुरूप फल का दर्शन अवश्य ही करना चाहती है, साग्रह परिणाम चाहती है तो उसे ही विज्ञ लोग 'अपेक्षा' कह देते हैं। असाधारण रूप से जो जागरूक हैं वे ही इच्छा को फल में परिवर्तित होने की आग्रहपूर्ण माँग से अपने को बचा सकते हैं, अन्यथा इच्छा है तो फल भी चाहेगी। प्रायः ऐसा भी होता रहता है कि जब यह इच्छा अपने स्वयं के जीवन से सम्बद्ध होती है तब वैसी फल प्राप्ति के लिए उतावली नहीं होती जैसी दूसरों के सन्दर्भ में। यदि इसकी दिशा बदल दी जाए तो व्यक्ति के उद्धार होने में क्या देरी है? प्रातः से सायंकाल तक यदि व्यक्ति इस बात का अध्ययन करे कि वह दूसरों से जो अपेक्षाएँ रखता है और जितनी तीव्रता से रखता है, क्या वह अपने लिए भी वैसा ही कर पा रहा है? तो एक-दो

निरपेक्षता

व्यक्तियों का ही सकारात्मक उत्तर होगा। यदि व्यक्ति अपने आप में पूर्ण विवेकयुक्त, शान्त, मर्यादित व अहिंसक जीवन जिये और दूसरों की ओर से मिलने वाले निन्दा, क्रोध, अपशब्द, अभद्रव्यवहार, अपमान आदि को वह सहज रूप से स्वीकार कर ले तो क्या जीवन में दुःख नाम की कोई चीज शेष रह जायेगी? don't expect, accept as it is जिनके स्वभाव में आ गया वे कैसे किसी भी स्थिति या परिस्थिति में बेचैन हो सकते हैं?

कुछ सामाजिक कार्यकर्ता बड़े उत्साह के साथ अच्छे कामों में हिस्सा लेते हैं, पर साथ में समाज से प्रशंसा पाने के इच्छुक भी रहते हैं। जिस अनुपात में वे काम करते हैं उस अनुपात में यदि उन्हें प्रशंसा न मिले तो फिर बड़ी निराशा होती है और कहीं कोई उनकी कार्यशैली की निन्दा कर दे अथवा उनके काम में दोष निकाल दे फिर तो कष्ट का कोई ठिकाना नहीं रहता। कोई उपदेशक या धर्मप्रचारक अपने काम के बदले पर्याप्त धन की चाह रखता है, लोगों से यदि उतना धन नहीं मिलता तो उसका सब उत्साह समाप्त हो जाता है और सदा शिकायत ही करता रहता है। कर्मचारी वर्ग की अपेक्षाएँ ही तो उन्हें हड़ताल करने के लिए तैयार कर देती हैं। यह अपेक्षा ही है जिसके कारण एक राष्ट्रवादी अपनी भावना के अनुरूप परिवर्तन न देखकर सदा हताश व निराश रहता है। बस अपेक्षा के कारण ही एक साथी अपने दूसरे साथी से मित्रता तोड़ बैठता है। सेवा से मिलने वाले अनिर्वचनीय आनन्द को यह अपेक्षा विकृत कर देती है। गीताकार ने भगवान् का भक्त बनने के लिए अनेक आवश्यक गुणों में 'निरपेक्ष' रहने को प्रमुख स्थान दिया है। (अनपेक्षः शुचिर्दक्षः ०-- गी० १२.१६) न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने अपेक्षा के लिए 'स्पृहा' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे मन की अशुभ प्रवृत्ति कहा है और 'अस्पृहा' को शुभप्रवृत्ति। एक वेद मन्त्र में किसी दुःखी व्यक्ति का चित्रण करते हुए कहा गया है— ये कामनायें मुझे ऐसे खा रही हैं जैसे आटे से लिपटे हुए सूत को चूहा काटता रहता है। (सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिशना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारन्ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी।। ऋग्० १.१०५.८) सब

साधना पथ

ऋषि मुनि एक ही गीत गाते हुए प्रतीत होते हैं कि महान् व्यक्ति बाहर की वस्तुओं द्वारा अपने को तृप्त नहीं करना चाहते, बल्कि अपने ही द्वारा अपने को तृप्त करते हैं। (आत्मनाऽऽमानमभि संविवेश। यजु० ३२.११) जब व्यक्ति सजग होकर तृप्त जीवन की खोज करने में लगता है तो उसका अपना अनुभव भी उसे यहीं पहुँचाता है कि 'यह कितना स्वादु भोजन है कि मनुष्य अपने हृदय को अपने आप खाये'। इस निरपेक्ष जीवन का ही दूसरा नाम 'वैराग्य' है। बार-बार इसका महत्व अपने मन को दिखाते रहने को ही 'अभ्यास' कहा है।

- छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक के छठे खण्ड में सनत्कुमार के द्वारा नारद के लिए ध्यान के विषय में कितना तेजस्वी, अपने आप में कितना बेजोड़ गीत गाया है— देखते ही बनता है। ऋषि कहता है— यह पृथिवी मानो ध्यान कर रही है, अन्तरिक्ष-द्यौ-जल-पर्वत-देव-मनुष्य सभी मानो ध्यानमग्न हैं, क्योंकि पृथिवी आदि सब एक रस हैं, इनमें विक्षिप्तता नहीं है। संसार के नर-नारियों में जो महत्ता को प्राप्त करते हैं, वे ध्यान के थोड़े-बहुत अंश से ही महत्त्व प्राप्त करते हैं। जो लोग 'अल्प' हैं, 'तुच्छ' हैं, वे भी ध्यान के सहारे ही कलह करते हैं, चुगली करते हैं, मुँह पर एक-दूसरे की निन्दा करते हैं, क्योंकि उनकी अपने काम में उतनी एकाग्रता बनी रहती है। जो लोग प्रभु हैं, महान् हैं, वे भी ध्यान के थोड़े बहुत अंश से ही प्रभुता प्राप्त करते हैं।

- उष्ण वासनाओं का अन्त हो जाने का नाम ध्यान है। मन के कामनामुक्त हो जाने का नाम ध्यान है। अपने स्वरूप में स्थित होने का नाम ध्यान है। मन व इन्द्रिय रूपी परिधि से हृदय रूपी केन्द्र की तरफ प्रयाण ध्यान है। ध्यान है तो सब कुछ है, ध्यान नहीं तो कुछ भी नहीं। एक ही सत्य को विविध रूपों में प्रकट किया गया है।

- स्थिति के बिना गति ऐसी है जैसे बिना पटरी के रेल। शान्ति के बिना मनुष्य की क्रियाओं की भी वही स्थिति है।

१४. पवित्रता

याजुष मन्त्रों में एक सन्देश मिलता है-“पवित्रेण शतायुषा”। व्यक्ति को पवित्रता के साथ सौ वर्ष पूरे करने हैं या करने चाहिएँ। आत्मा तो स्वभाव से पवित्र ही है; पर मन, प्राण व शरीर की अपवित्रता से वह भी अपवित्र जैसा हो जाता है। सो इसका अर्थ यह हुआ कि मन, प्राण व शरीर की पवित्रता से आत्मा की पवित्रता और इनकी अपवित्रता से आत्मा की अपवित्रता होती रहती है, यह एक तथ्य हुआ। अब दूसरे तथ्य पर विचार करते हैं- मन, प्राण व शरीर में किसी के पवित्र या अपवित्र होने से दूसरा भी पवित्र व अपवित्र होता रहता है। मन जब शान्त, प्रसन्न, विकाररहित, श्रद्धावान्, निःस्पृह, आस्तिक (अस्तित्व को स्वीकार करने वाला), राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण, प्रियता-अप्रियता से ऊपर उठा हुआ समभाव में रहने वाला ध्यान-युक्त अर्थात् एकाग्र, द्रोहादि से मुक्त, अभिमान व हीन भाव से रहित ज्ञानरूप प्रकाश से परिपूर्ण होता है तब मन तो पवित्र होता ही है साथ में प्राण भी पवित्र व शुद्ध होने लगते हैं। प्राणों की शुद्धि यही है कि वे शान्त रहें। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के लिए लालायित न रहें। जब प्राण अशुद्ध होते हैं तो वे उत्तेजित रहते हैं, अनुत्तेजित रहना ही उनकी शुद्धि है।

मन व प्राण दोनों की शुद्धि से शरीर भी शुद्ध होता चला जाता है अर्थात् शरीरस्थ रस (अन्तःस्राव) शुद्ध व निर्मल होते चले जाते हैं। शरीर विज्ञान को जानने वाले लोग बताते हैं कि कामवासना, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष की स्थिति में शरीर में निर्मित होने वाले रस (अन्तःस्राव) अलग प्रकार के होते हैं और मन व प्राण की पूर्ण शान्त अवस्था में बनने वाले रस सर्वथा अलग ढंग के होते हैं। उनका कहना है- आवेगों के समय बनने वाले रस विष से युक्त होते हैं। हमारे शरीर के अन्दर विभिन्न ग्रन्थियाँ हैं, वे आवेग से अतिशीघ्र प्रभावित हो जाती हैं। जिसके कारण विषसम्पृक्त रस को उत्पन्न करने में जुट जाती हैं। यह चक्र फिर उलटा मन व प्राण की तरफ चल पड़ता है अर्थात्

साधना पथ

शरीर के अशुद्ध होने से प्राणों की शान्ति भंग हो जाती है, वे पहले से भी ज्यादा उत्तेजित हो उठते हैं। जैसे सब भूतों का सार पृथ्वी है वैसे प्राणिक सुख का सार स्पर्शेन्द्रिय में है। दर्शनकार 'स्पर्शवान् वायुः' कहकर इसी सत्य को प्रकट कर रहे हैं। उत्तेजित हुये प्राण स्पर्श सुख में लीन हो जाते हैं और मन उस सुख के संस्कार को ग्रहण कर लेता है। जैसा कि मन का अपना स्वभाव है— सुख को महत्त्व देना, सुख की बार-बार माँग करना; अपने इस सहज स्वभाव के कारण मन पुनः पुनः उन भोगे हुए सुखों की पुनरावृत्ति करना चाहता है। उससे फिर वही प्राण व शरीर की अपवित्रता का क्रम चालू हो जाता है। सो इन तीनों को पवित्र व शुद्ध बनाने के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर और सूक्ष्म से स्थूल की ओर दोहरी गति करनी होती है; जैसे रहट का चक्र होता है— ऊपर से नीचे जाता है और फिर नीचे से ऊपर आता है— इसी प्रकार शरीर व प्राण के पुष्ट व शुद्ध होने से मन को बल मिलता है तथा मन के बलवान् व शुद्ध होने से प्राण परिपुष्ट होते जाते हैं।

कामना-क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष, चञ्चलता व द्रोहादि से मन निश्चित रूप से उद्विग्न हो उठता है। अतः जिनके अन्दर ऐसी अभीप्सा जागरित हो गयी है कि हमारा मन शुद्ध-पवित्र तथा ज्ञान व बल से परिपूर्ण रहे, उन्हें अपनी सारी शक्ति सामर्थ्य को इस अनुपम व कठिन काम के लिये उड़ेल देना चाहिए। जैसे सांसारिक लोग धन-वैभव, स्त्री-पुत्र परिवार के लिए अथवा कोई राजनेता राजपद प्राप्त करने के लिए या फिर कोई खिलाड़ी ओलम्पिक में प्रथम स्थान पर आने के लिए भगीरथ प्रयत्न करता है।

सदा-सर्वत्र-सर्वथा मन को एकरस बनाये रखना, एक क्षण के लिए भी अशुद्धि, निर्बलता को स्थान न देना, यह कोई साधारण कार्य नहीं है। अपरिमित आन्तरिक उत्साह, किसी भी परिस्थिति में न टूटने वाला धैर्य, अपनी आत्मिक शक्ति के प्रति जो पूर्ण विश्वस्त होते हैं साथ में जिनके अन्दर अनन्य चाह भी होती है, चाह में किञ्चित् मात्र भी मिलावट नहीं होती, केवलमात्र वे लोग ही इस दुर्धर्ष काम को करने का बीड़ा उठाते हैं और केवल वे ही लोग सफल होते

पवित्रता

हैं। कपिलमुनि इसके लिए 'अत्यन्तपुरुषार्थ' नाम देते हैं, उनका दिया हुआ यह अन्वर्थ नाम भी यही सिद्ध कर रहा है। मन का पूर्ण शान्त पवित्र हो जाना ही तो ज्ञान है, दूसरी तरफ मन का अशान्त और अपवित्र बने रहना ही अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश के अनुपात में ही अज्ञान रूपी अन्धेरा कम होता है। पूर्ण ज्ञान में ही पूर्ण अज्ञान समाप्त हो पाता है। (नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्। सां० १.५६) अतः पूर्ण ज्ञान को पूर्ण वैराग्य कहा गया है। राग ही तो अज्ञान है, राग नहीं है तो उसका जुड़वाँ भाई द्वेष भी नहीं है, और जब दोनों नहीं, यही तो 'वैराग्य' है। वैराग्य ही ज्ञान है। इस ज्ञानमय स्थिति में बने रहने के लिए छोटे से छोटे और बड़े से बड़े किये गये विविध उपायों का नाम ही 'अभ्यास' है।

- साधना क्या है? अपने मन, अपनी इन्द्रियों, अपने शरीर, अपने हृदय को विशेष प्रशिक्षण में रखते हुए अपने अस्तित्व की गहराई, अपने अस्तित्व के केन्द्र, अपने अस्तित्व के अन्तरतम भाग को खोजकर उसमें अवस्थित होने के लिए किये गये प्रयासों का नाम साधना है।
- साधना करने से क्या मिलता है? विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध प्रेम-करुणा, पूर्ण निर्भयता, परम शान्ति, पूर्ण स्वाधीनता, सच्चा स्वराज्य, जीवन की सहजता, पूर्व अशुभ संस्कारों का क्षय, शुद्धि-मुक्ति-आनन्द व पूर्णता, एक शब्द में कहें तो जीवन की धन्यता।
- मानवीय अस्तित्व के सभी मन-इन्द्रियों आदि प्रकाश करने वाले घटकों के शान्त होने पर, चुप होने पर जो शेष रहता है, वही है 'स्वयं प्रकाश'। वह केवल विशुद्ध ज्ञानमात्र ही है। वहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका द्वैत नहीं रहता।
- जब तक ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत है तब तक ज्ञानमात्र अद्वैत प्रकट नहीं होता। उस ज्ञानमात्र अवस्था के आते ही पूर्ण आनन्द, पूर्ण संतोष, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण समाधान स्वतः ही घटित हो जाता है।

४०४०७७७

१५. रोग का उपचार

मनुष्य जब शरीर से रुग्ण हो जाता है तो ऐसा देखा जाता है कि पुनः स्वस्थ होने के लिए कोई न कोई औषध ग्रहण करता है। उसके मन में यह तीव्र इच्छा होती है कि मैं जल्दी से जल्दी ठीक हो जाऊँ। किन्तु रोग घटाने में मन के पूरा लग जाने पर भी रोग बढ़ाने वाले क्रियाकलाप, व्यवहार व खान-पान पूर्ववत् चलते रहते हैं। खांसी होने पर खांसी ठीक करने के लिए मधु व अदरक तो लेना प्रारम्भ कर देता है पर खांसी बढ़ाने वाली चीजें खटाई-चिकनाई आदि को नहीं छोड़ पाता। जिसके फलस्वरूप रोग बराबर बना ही रहता है। स्वस्थ हो जाने का विचार विचार-मात्र बनकर रह जाता है, सफल नहीं हो पाता। रोग को समाप्त करने के लिए औषध प्रयोग के साथ-साथ जब तक रोग के कारणों को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जायेगा तब-तक पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कर पाना अति दुष्कर है। शारीरिक स्वास्थ्य के विषय में जैसे यह तथ्य है, उसी प्रकार मन को भी नीरोग, स्वस्थ, बलवान्, ज्ञानवान् बनाने के लिए ऐसा ही सब कुछ करना पड़ता है। जिन-जिन कारणों से मन रोगी, कमजोर व अज्ञान युक्त हो गया है, या हो रहा है, उन कारणों को ठीक से समझकर उनको हटाना होता है, दूसरी तरफ मन को सबल, स्वस्थ व ज्ञान-सम्पन्न बनाने के लिए विविध साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। इस दोहरी प्रक्रिया से व्यक्ति मन को जैसा बनाना चाहता है वैसा ही बना लेता है।

इन्द्रिय-विषयों में मन को लगाने से, धन-वैभव के प्रति आसक्ति से, काम-वासना के विचार से, मान-पद-प्रतिष्ठा को जीवन की सारभूत प्रमुखतम चीजों में से एक मानने से, नास्तिकता के भाव से, क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष में ही रात-दिन रचे-पचे रहने से मन चञ्चल, निर्बल व अज्ञान से युक्त हो जाता है। ऐसे मन में दुःख, क्लेश व अशान्ति का पूर्ण साम्राज्य छा जाता है। पर कुछ समय बाद रोगी व्यक्ति इस मन से तंग आकर इसे स्वस्थ बलवान् व ज्ञानवान् बनाने के लिए अपना प्रयत्न आरम्भ कर देता है। वह

रोग का उपचार

सन्त-महात्माओं के पास आने-जाने लगता है। स्वाध्याय, चिन्तन-मनन के लिए भी समय निकालता है। पूजा-पाठ-ध्यान-भजन में रुचि लेने लगता है। परन्तु यह सब करने पर भी व्यक्ति देखता है कि मन का रोग ठीक नहीं हो पा रहा है। जैसे शारीरिक रोगों के सन्दर्भ में देखने को मिलता है, रोग आते समय तो बहुत आसानी से आ जाते हैं फिर उन्हें दूर करना एक कठिन कार्य हो जाता है, वैसे ही थोड़ी सी असावधानी से ही व्यक्ति को अनेकानेक मानसिक रोग पकड़ लेते हैं, फिर उनके उपचार का कोई ठीक रास्ता नहीं सूझता और सारे जीवनभर मनुष्य यों ही तड़पता रहता है। तथा जीवन भर ही क्या जन्म-जन्मान्तर में भी ये मन के रोग ज्यों के त्यों साथ-साथ ही चलते रहते हैं।

शरीर के रोग तो देहपात (देहावसान) के साथ ही समाप्त हो जाते हैं; आगे की यात्रा के लिए एक नया शरीर मिल जाता है पर मन तो अनन्त जन्मों तक भी एक आत्मा के साथ बना रहता है। यद्यपि यह आत्मा का एक सशक्त साधन है, लेकिन अज्ञानवश रोगी होकर अपरिमित काल तक आत्मा को कठोर बेड़ियाँ डालकर कैद में रखने वाला भी यही है। **पर फिर भी प्रसन्नता की बात यह है** कि जैसे ही इसके अन्दर आत्मा को मुक्त कराने की अभीप्सा जागरित होती है तो तुरन्त अपने रोग, अपनी कमजोरी, अपने अज्ञान को हटाने के लिए कमर कस लेता है। यह देखता है— मेरे प्रमाद के कारण मेरा आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ है, अब मेरे प्रयत्न व पुरुषार्थ से यह मुक्त भी हो सकता है। बस! मन के इस निश्चय के साथ ही एक जन्म में या फिर आने वाले अनेक जन्मों में आत्मा की मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है।

जिन-जिन कारणों से मन रोगी हुआ है उन सबका सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उन कारणों का समूल नाश करने के लिए यह मन कृत संकल्प हो जाता है। रोग का उपचार करने के लिए जिस-जिस भी साधन सामग्री की आवश्यकता होती है वह सब जुटाता है। **‘प्रमाद से मन रोगी हुआ है या हो जाता है और प्रयत्न से निश्चित रूपेण स्वस्थ हो जायेगा’** इस ज्ञान सूत्र को अपना सम्बल बनाकर तेजी से अपने लक्ष्य की ओर चल पड़ता है। मन

साधना पथ

को रोगी बनाने वाले कारणों की खोज में **सबसे पहली चीज** उसे जो दिखाई देती है वह है प्यारे-प्यारे मोहित कर देने वाले विषयों के साथ रागात्मक सम्बन्ध; इसलिए न तो वह उन चीजों को देखना चाहता है और न उनके बारे में कुछ सुनना चाहता है अर्थात् अपनी यात्रा की शुरुआत वह इसी बात से करता है कि अब आगे किसी भी वस्तु या व्यक्ति के साथ एक क्षण के लिए भी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करना है, जिन आँखों या कानों के द्वारा अहर्निश क्षण-क्षण में नये सम्बन्ध स्थापित होते रहते हैं उन पर पूर्ण-विराम लगा देना है क्योंकि आँखों-कानों के द्वारा उस-उस वस्तु या व्यक्ति के साथ जुड़ने पर ही मन में उसे पाने तथा उससे सुख लेने के भाव आते हैं। इतना करने पर **अगला जो उसका कदम** उठता है वह होता है— चित्त में बैठे हुए पहले वाले रागात्मक सम्बन्धों और उनके द्वारा लिये गये वैषयिक सुख के संस्कारों का बीजनाश। यही है वह कठिन अग्निपरीक्षा-जिसमें से प्रत्येक जीवन साधक को गुजरना पड़ता है। हिमालय की उच्चतम चोटी पर चढ़ने वाले जिस प्रकार बहुत कम लोग होते हैं उसी प्रकार अध्यात्म जीवन की इस कठिन चढ़ाई पर चढ़ने वाले भी बहुत कम होते हैं। उनमें से कुछ एक को ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है।

वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विविध क्रियाकलापों से प्राप्त किसी भी प्रकार के सुख के संस्कारों की स्मृति से ऊपर उठने के लिए साधक परम वैराग्य को धारण करते हैं एक बार में यह परम वैराग्य मन का अविभाज्य अङ्ग नहीं बनता। साधक द्वारा ऐसा दृढ़ व पूर्ण निश्चय किये जाने पर भी कि इन विषयों में अनेक-अनेक प्रकार के दुःख छिपे हुए हैं, जब-तब उन सुख के संस्कारों की वृत्ति उठती रहती है। ये विषय दिखने में सुन्दर और चखने में मधुर अवश्य लगते हैं पर परिणाम में अत्यन्त कुरूप व कटु हो जाते हैं, इनके लिये प्यासा मन कभी भी इनसे तृप्त नहीं हो पाता, इसलिए अब आगे कभी एक क्षण के लिए भी इन विषयों से सुख लेना नहीं चाहूँगा, ऐसा एकतरफा निर्णय लेने के बाद भी मन सर्वथा उन सुख संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता। संस्कार हैं तो

रोग का उपचार

उनके अनुकूल वृत्तियाँ भी उठती हैं और अवश्य उठेंगी। सो अपनी साधना के आरम्भिक काल में जब-जब भी सुख के संस्कार उभरने लगें तो साधक अत्यन्त शान्त और सजग रहता हुआ विषयों के दोष जो कभी पहले अच्छी प्रकार से समझ लिये थे को पुनः पुनः अपने मन में देखे। विषय-दोष दर्शन का सतत प्रयास ही वह अभ्यास है जिसके द्वारा साधक का वैराग्य दृढ़ीभूत और अविचल हो जाता है।

इसी प्रक्रिया को असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' इन शब्दों में दोहराया गया है। 'दुरितानि परा सुव, यद् भद्रं तन्न आसुव' ये शब्द भी इसी सत्य का उद्घाटन कर रहे हैं। 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः' इस प्रार्थना में भी यही गीत गाया गया है। यन्मे चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्। बृहस्पतिर्मे तद् दधातु। शन्नोऽस्तु.....। इत्यादि हजारों वैदिक प्रार्थनाओं में सत्य, शान्ति व ज्ञान से परिपूर्ण बने रहने की बात कही गयी है। यह तभी हो पायेगा जब अज्ञान, अशान्ति, असत्य से होने वाली हानियाँ मन को बराबर दिखती रहें। अकेले शुभ को महत्व देने मात्र से उस अशुभ से पीछा नहीं छूटेगा जो गले पड़ गया है या जिसे स्वयं हमने ही डाल लिया है। रोग है तो केवल स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने से सफलता नहीं मिलेगी; औषध भी लेनी पड़ेगी, पथ्य-परहेज भी करने पड़ेंगे। खांसी के कष्ट से मुक्त होने के लिए जब-जब भी खट्टे पदार्थ खाने की इच्छा हो तो मन को समझाना होगा कि ये चीजें फिर तेरे रोग को बढ़ा देंगी।

मन का अपना एक स्वभाव है जैसे भी सुझाव इसको दिये जाते हैं मन उनको उसी रूप में ग्रहण कर लेता है। पर उसे बार-बार सिखाना पड़ता है, एक बार में सब कुछ नहीं सीख पाता। जब यह मन सदा-सदा के लिए यह बात सीख लेता है कि विषयों का सुख अनन्त दुःखों से भरा हुआ है, तो इसे ही वैराग्य की पराकाष्ठा कहा गया है। इतना होने पर फिर यह मन न तो नये विषय-सुख के साथ जुड़ता है न पिछले सुखों की पुनरावृत्ति ही करता है। जब तक यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती तब तक प्रयत्नपूर्वक अपने आँख और कान

साधना पथ

को संसार की तरफ से बन्द किये रखना और मन को सदा-सर्वत्र शुभ में ही लगाये रखने के साथ-साथ इसे विषय-सुखों के दोषों का परिचय कराते ही रहना चाहिए, इसी का नाम 'अभ्यास' है।

* * *

- जो सबका केन्द्र है आधार है वह क्यों परिधि की अपेक्षा करे ? इसीलिए तो उसे 'निरपेक्ष' कहा गया है। किन्तु परिधि तो सदा केन्द्र सापेक्ष है, केन्द्र के बिना परिधि का कोई अस्तित्व ही नहीं।
- जीवन दो ध्रुवों का समुच्चय होना चाहिए— निर्भयता और विनय। निर्भयता के बिना विनय चापलूसी में बदल जाती है और विनय के बिना निर्भयता उच्छृंखलता या उद्वण्डता में।
- महान् पुरुष द्विविरुद्ध भावों के मूर्तरूप होते हैं— दृढ़ता व लचक, भीतर से शान्त व बाहर से क्रियाशील, सम्बन्धों का निर्वाह किन्तु निर्लिप्तता, न्याय व प्रेम, भावना और विचार अर्थात् हृदय व तर्कबुद्धि, वीरता व संयम, ज्ञान व कर्म, संकल्प और निःस्पृहता, त्याग और भोग, प्रवृत्ति व निवृत्ति, स्थिति और गति, कर्म व अकर्म, नानात्व और एकत्व। सामान्य व्यक्ति एक को पकड़ता है तो दूसरा हाथ से छूट जाता है। किन्तु पूर्णता के लिए तो दोनों चाहिए।
- ईश्वरीय गुणों को धारण करने से जीवनयात्रा सुखमय हो जाती है, अन्यथा यहाँ कष्ट व पीड़ा के सिवाय और क्या है ? धैर्य, क्षमा, शान्ति, ओज-तेज, बल-पराक्रम, बुराई के प्रति अदम्य आवेग, दिव्य-प्रेम, उत्साह, सह-अस्तित्व का भाव, निरपेक्षता, विवेक विचार, दान-यज्ञ इत्यादि शतशः ईश्वरीय गुण मनुष्य के लिए हैं।
- धीर पुरुष ही अपनी वाणी को मन से संयुक्त करके बोल सकते हैं, अन्यथा सारा वाग् - व्यवहार बेहोशी में ही चलता रहता है।
- मनुष्य जीवन के लिए आन्तरिक बेहोशी एक बड़ा अभिशाप है। कुछ भी साधन अपनाकर इससे मुक्ति पानी ही होगी।

१६. योग-मार्ग पर क्यों चलें ?

कोई यह बात पूछ सकता है कि हम योगमार्ग पर क्यों चलें, हमें इस मार्ग पर चलने से क्या मिलेगा, क्योंकि यथार्थता तो यही है – न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते। मन्द अर्थात् मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता फिर बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या। यह एक अलग बात है कि वह प्रयोजन उस व्यक्ति को स्वल्प सुख देने वाला है या अनन्त सुख देने वाला। क्योंकि मूलरूप में तो एक ही प्रयोजन होता है— सुख मिले, दुःख न मिले। आगे उस सुख प्राप्ति के साधनों की विविध शाखा-प्रशाखायें और विविध रूप हो सकते हैं। दुःख साधनों के वर्जन और सुख साधनों के चयन में व्यक्ति को विवेक की आवश्यकता होती है। इस बिन्दु पर व्यक्ति सजगता और जागरूकता बरतता है। वह जितना मेधावी व प्रज्ञावान् होता है उतना ही थोड़ा सा भी दुःख देने वाले साधनों का त्याग और अधिक व लम्बा सुख देने वाले साधनों को ग्रहण कर पाने में समर्थ हो पाता है। दूसरी तरफ इस वर्जन और चयन की प्रक्रिया में व्यक्ति जितना असावधान व प्रमाद में होता है तथा जितना ‘सम्भिन्न बुद्धि’ (चीजों को ठीक-ठीक यथावत् न देखने वाली बुद्धि) वाला होता है उतना ही केवल तात्कालिक सुख देने वाले साधनों को ही देख पाता है। इसलिये परिणाम में चाहे दुःख का पहाड़ भी मिले उन साधनों का ग्रहण तथा लम्बा सुख देने वाले साधनों का त्याग करता रहता है। विवेक की कमी के कारण थोड़े सुख के बदले अधिक दुःख को स्वीकार कर लेता है।

तथ्य चाहे कुछ भी हो, पर एक व्यक्ति विषयों में हाथ डालता है तो यही सोचकर कि सुख बहुत अधिक मिल रहा है या मिलेगा, दुःख की तो कल्पना तक भी नहीं होती, क्या हुआ कभी कभार मिल गया— वो तो न मिलने जैसा ही है। दूसरा व्यक्ति संयम, अनुशासन, नियमपालन, मर्यादायें— इन सब को अत्यन्त कष्टदायक भाररूप समझता है, इन चीजों से सुख भी मिलता है तो इसका उसे कभी आभास ही नहीं होता, इस विपर्यस्त बुद्धि के कारण वह संयम

साधना पथ

के मार्ग पर नहीं चल पाता और न ही चलना चाहता, यह सब अज्ञान का खेल है जिसको सारा संसार खेल रहा है। चाहे कोई शराबी शराब पी रहा है, चाहे विद्यार्थी अपने समय को व्यर्थ के कामों में नष्ट कर रहा है, चाहे कोई स्वार्थी अपने स्वार्थ के लिए किसी के साथ विश्वासघात कर रहा है, चाहे कोई पैसे कमाने की भूख में सर्वथा गलत तरीके अपना रहा है, चाहे कोई युवा किसी युवति से अनैतिक प्रेम कर रहा है— ये सब के सब अज्ञान के महा अन्धकार में भटक रहे हैं। और जैसे कई बार व्यक्ति का पैर कट जाता है खून बहता रहता है पर उसे पता नहीं चलता या फिर कैंसर का फोड़ा अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहता है और बाहर से सब कुछ ठीकठाक दिखाई देता रहता है, उसी प्रकार यह अज्ञान विमोहित सम्पूर्ण जगत् हंसता-खेलता, रंग-रेलियाँ मनाता हुआ दिखाई देता रहता है। जिनकी अन्दर की आँखें खुल गई हैं वे ही इस विनाशकारी दृश्य को ठीक-ठीक देख पाते हैं।

योगमार्ग में प्रवृत्त होने के पीछे प्रेरक हेतु अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग होते हैं उनमें से कुछ एक तो इस मार्ग को इसलिए भी चुनते हैं कि उन्हें पर्याप्त धन-सम्पत्ति, यश, कीर्ति, शक्ति-प्रभुता प्राप्त हो जाए। स्पष्ट ही ये लोग अभी बहुत ऊपरी सतह पर खड़े हैं क्योंकि जो इस मार्ग पर नहीं चल रहे उनकी भी तो सारी की सारी लड़ाई इन्हीं चीजों के लिए है। दूसरे कुछ लोग मानव जाति की सेवा के दृष्टिकोण से इस तरफ झुकते हैं। फिर कुछ भगवान् को या अपनी अन्तःसत्ता को प्राप्त करने के लिए इस मार्ग पर आते हैं।

मनुष्य जब अपने तथा अपने चारों तरफ फैले हुए जड़-चेतन जगत् की छानबीन करने में जुटता है तो उसे पहले-पहल यह आभास मिलता है कि जो वह इन चर्म चक्षुओं से देख रहा है वही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् के पीछे वह कुछ स्थिर नियमों को भी काम करते हुए पाता है। ज्यों-ज्यों वह अपनी खोज को आगे बढ़ाता है— सृष्टिनियमों की सुनिश्चितता, जटिलता व विविधता विषयक उसका विचार दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है। फिर वह बाह्य जगत् से मुड़ कर अपने स्वयं के ही अस्तित्व के अन्वेषण में प्रवृत्त होता

योग-मार्ग पर क्यों चलें?

है तो वहाँ भी उसे उसी प्रकार अनेकानेक चीजें देखने को मिलती हैं। कभी तो सुखी होता है कभी दुःखी, कभी हर्षयुक्त होता है कभी शोकयुक्त, कभी प्रसन्न होता है कभी उदास, कभी अपने को परम उत्साही पाता है तो कभी एकदम हताश। इस प्रकार इन विविध द्वन्द्वों में अपने आपको फंसा हुआ पाता है।

बहुत सारे प्रसंगों में वह देखता है कि अन्दर बैठी हुई कोई शक्ति उसे किसी काम को करने के लिये मना कर रही होती है पर वह अपने आपको रोक नहीं पाता। वह अनुभव करता है कि उसके अन्दर तो कुछ अलग ही मांग है पर मन और इन्द्रियाँ हठात् उससे कुछ और ही करवाती रहती हैं। कभी आँखों में आँसुओं को देखता है तो कभी किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ अपने को इतनी कठोरता से बंधा हुआ पाता है कि एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है। स्त्री-पुत्र-सम्बन्धी जनों के साथ जो वह बड़ा आनन्द मनाता था, वे आज उसके देखते-देखते उसके सामने से चले जाते हैं और उसके सब के सब उग्र प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। उसे कुछ ऐसी घटना भी देखने को मिलती है कि कल तक जो उसके लिए सब कुछ देने को तैयार था वह आज उसके स्वार्थ में बाधा पड़ जाने से प्राण तक लेने के लिये तत्पर है।

वृद्धों की तरफ ध्यान जाता है तो वह विचार करने लगता है कि जब व्यक्ति युवा होता है तब सब के सब उससे मिलना चाहते हैं, अब बुढ़ापे में उससे कोई बात तक नहीं करना चाहता। निरन्तर चल रही सुख की धारा में जब अकस्मात् कोई दुःख आ पड़ता है तो उसका सारा अस्तित्व बेचैन हो उठता है। वह इन सब उतार-चढ़ावों को देख-देखकर बहुत क्लेश अनुभव करता है। इन समस्त क्लेशों से ऊपर उठने के लिये ज्यों-ज्यों वह अपने अन्दर घुसता है तो उसे अपनी एक शान्त स्थिति की झलक मिल जाती है। अपने दीर्घकालीन व अनवरत प्रयास के बाद उसे अपने मन को पूर्ण अचञ्चल व प्रतिक्रियाओं से मुक्त रखने की युक्ति प्राप्त हो जाती है। यही वह पूर्ण जीवन है जिसे जीने वालों को ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, ऋषि, तत्त्ववेत्ता, योगी आदि नामों से पुकारा जाता है और यही जीवन की अन्तिम उपलब्धि है जो मनुष्य को

साधना पथ

प्राप्त करनी है— पूर्ण स्वतन्त्रता या अभय पद की प्राप्ति या फिर दूसरे शब्दों में किसी भी घटना, परिस्थिति, वस्तु या व्यक्ति से अप्रभावित जीवन, मनुष्यों के बीच जीता जागता प्रकाशमय जीवन।

- विचारों, इच्छाओं व भावनाओं के वेग में व्यक्ति को अन्तःप्रेरणाएँ सुनायी नहीं देतीं। अन्तःप्रेरणाओं को सुनने के लिए मन का पूर्ण नीरव व पूर्ण शान्त होना परम आवश्यक है।
- हे मनुष्य! कितनी पीड़ादायक बात है कि क्षणिक सुखों के लिए तू शाश्वत को दाव पर लगा देता है, इस मूर्ख को किसी तरह जल्दी से तोड़।
- भगवान् का सीधा मार्गदर्शन यदि कोई प्राप्त कर सके तो उसे किसी भी बाह्य सहयोग की अपेक्षा नहीं रह जाती, व्यक्ति के विकास के लिए जो चाहिए सब कुछ भीतर से ही मिल जायेगा। किन्तु बाह्य जगत् में जीने वाला व्यक्ति अन्दर की दुनिया से अपरिचित ही रहता है।
- शास्त्र और गुरुजनों की यही भूमिका है कि वे व्यक्ति को अन्तःप्रेरणा सुनने में सक्षम बना देते हैं। तथा वे यह भी समझा देते हैं कि कौन सी प्रेरणाएँ अन्तःप्रेरणाएँ नहीं होतीं। एक अर्थ में गुरु-आचार्य हमसे हमारा ही परिचय करा देते हैं।
- भगवान् हमारे द्वार पर हमारा उद्धार करने के लिए आवश्यक ज्ञान-बल-आनन्द-शान्ति-सौभाग्य लेकर आते हैं किन्तु हम उन्हें पहचान नहीं पाते और वे शीघ्र ही वापस लौट जाते हैं। हम यदि सदा जागरित रहें तो उस भागवत प्रसाद को ग्रहण कर सकते हैं। विचार किया जा सकता है कि यह हमारे लिये कितने सौभाग्य की बात होगी।
- साधक! चलता चल, चलता चल, बिना रुके बिना थके, तेरी यात्रा के अन्त में तेरा स्वामी तेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

४०४०४०४

१७. जीवन क्या है ?

जीवन क्या है ? जब हम इसकी खोज करने में जुटते हैं तो पता चलता है विभिन्न मनुष्य जो कुछ भी जानकर या मानकर कर रहे हैं वे जीवन के ही विविध अंग या विविध रूप हैं। कोई कृषि कर रहा है; कोई किसी के यहाँ मजदूरी कर रहा है; कोई सिपाही है; कोई अध्यापक; कोई वैज्ञानिक एकान्त में रहता हुआ अहर्निश अपनी किसी खोज में ही लीन है; कोई राजनेता है; कोई व्यापारी; कोई उद्योगपति है; कोई खिलाड़ी; कोई नदी के किनारे बैठा हुआ मछली पकड़ रहा है; कोई उत्सव मना रहा है; कोई अपने प्रिय सम्बन्धी के वियोग में बैठा रो रहा है; कोई आपस में लड़ रहा है; कोई स्त्री-पुत्र, परिवार के मोह में डूबा हुआ है; कोई इन सब को छोड़कर एकान्तवास कर रहा है; कोई विविध सम्बन्धों को जीवन की एक विशिष्ट सारभूत चीज के रूप में देखता है तथा दूसरा इसे कुछ महत्त्व ही नहीं देता; कुछ युवक-युवति कामवासना में जल रहे हैं; कोई समस्त विकारों से ऊपर उठने की साधना में जुटा हुआ है; कोई ध्यान में रस लेता है तो कोई भीड़ में; कोई अपनी आजीविका मात्र चलाने में ही व्यस्त है तो कोई सामाजिक कार्यों में अपना समय लगा रहा है; कोई अपने को समझने के लिये भगीरथ प्रयत्न कर रहा है तो दूसरे केवल इन दिखाई देने वाली चीजों को ही सारा महत्त्व दे रहे हैं; कुछ महिलायें खेत से भारी बोझा उठाकर बात करते हुए चली आ रही हैं; दूसरी विविध रंग बिरंगे वस्त्रों और केश विन्यास से अपने को सजा रही हैं; कुछ सदा सर्वत्र शान्ति में डूबे रहते हैं तो कुछ एक को झगड़ा किये बिना ऐसा लगता है कि आज कोई आवश्यक कार्य छूट गया है; कुछ मन-वाक्-काय को हर समय संयमित रखते हैं तो कुछ पूरे स्वेच्छाचारी हैं; कुछ त्यागी, तपस्वी और संन्यासी के रूप में हैं तो दूसरे गृहस्थ; कुछ महास्वार्थी होकर अपने ही सुखों की चिन्ता कर रहे हैं तो कुछ कष्ट उठाकर भी दूसरों को अधिक से अधिक सुख देना चाहते हैं; कुछ पशुओं के रक्षण में लगे हुए हैं तो कुछ वृक्षारोपण में; कुछ वन-उपवन,

साधना पथ

फल-फूल प्रकृति के सौन्दर्य में बहुत रुचि ले रहे हैं तो दूसरों का स्वच्छता व सौन्दर्य की तरफ कोई ध्यान नहीं है। ये सब जीवन के ही अनेक रूप हैं।

व्यक्ति के अपने संस्कार तो होते ही हैं, साथ में जिस परिवेश या वायुमण्डल में रहता है उसका भी जीवन के चयन या निर्धारण में विशेष योगदान रहता है। ऋषि आश्रम में पले हुए बालक की अभिरुचियाँ उससे अलग होंगी जो आकण्ठ भोगों में डूबे हुए गृहस्थों के यहाँ पल रहा है। जीवन को जब सामान्य या विशेष अथवा विकसित या अविकसित रूप में देखा या परखा जाता है तो यद्यपि अलग-अलग व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से ही इसका उत्तर देते हैं। एक सांसारिक व्यक्ति के लिये तो निश्चय ही साधनसम्पन्नता, बहुत सारी उपाधियों से विभूषित होना, ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित रहना, मान-सम्मान की प्राप्ति, अच्छा भवन, अच्छा व्यापार, अच्छे पढ़े-लिखे बच्चे— ये चीजें ही विकसित जीवन की श्रेणी में गिनी जाती हैं। यहाँ तक कि इस विचार वाले लोग साधु-महात्माओं की महत्ता या बड़प्पन का निर्धारण भी इन्हीं चीजों से करते देखे जाते हैं कि इस महात्मा जी के लाखों शिष्य हैं— राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और बड़े-बड़े उद्योगपति इनके पास आते हैं, इनका इतना सुन्दर आश्रम है, इनके पास चलने के लिए बहुत अच्छी-अच्छी गाड़ियाँ हैं, अपार धनसम्पत्ति है, इन्हें करोड़ों रुपये दान में मिलते हैं। जिनकी दृष्टि बाहर की तरफ खुली हुई है वे इन बाह्य चीजों, बाह्य साधनों, बाह्य स्थितियों के द्वारा ही जीवन का मूल्यांकन किया करते हैं। **पर ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में इन सब चीजों के होने या न होने से जीवन के विकास का कोई सम्बन्ध नहीं होता।** किसी परिस्थिति या कारणवश ये चीजें नहीं हैं या बहुत हैं, ज्ञानी के लिए इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वे अन्दर की तरफ देखते हैं, वे बाहर भी देखते हैं तो अन्दर से देखते हैं। अतः जीवन के विकास को मापने वाले पैमाने उनके अलग ही होते हैं।

जो जीवन काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष आदि विकारों से भरा हुआ है, प्रतिक्रियाओं में जिया जा रहा है, जिसमें मन व इन्द्रियाँ विषयों से

जीवन क्या है ?

प्रभावित रहती हैं, टेंशन-डिप्रेशन का जहाँ पूर्ण साम्राज्य है। आशा-निराशा, हर्ष-शोक जहाँ पीछा करते रहते हैं। अतृप्ति-अशान्ति से जहाँ व्यक्ति क्लेशित होता रहता है। इस प्रकार के जीवन को ज्ञानी पुरुष अविकसित, अपूर्ण व सामान्य ही समझते हैं फिर बेशक वहाँ कितना भी धन वैभव, उच्चपद या मान-सम्मान अथवा योग्य पुत्र-पुत्रियाँ व शिष्य मण्डली की अपार भीड़ ही क्यों न लगी हुई हो।

ज्ञानी की आँखें जीवन की पूर्णता को इस रूप में देखती हैं कि उसका अपने आप पर कितना अधिकार है? वह मन, प्राण, इन्द्रियों व विचार का स्वामी है या गुलाम? जैसे किसी सचेत गाड़ी चालक की इच्छा के बिना गाड़ी इधर-उधर नहीं मुड़ती, अपने निर्धारित मार्ग पर चलती रहती है, उसी प्रकार उसका मन, प्राण व शरीर एक क्षण के लिए भी अनियंत्रित तो नहीं होते? सामान्य जीवन में व्यक्ति सर्वदा शब्द में, रूप में, रस में, स्पर्श में, गन्ध में ही उलझा रहता है। हाँ! यह कल्पना से भी परे की बात मानी जाती है कि कोई किसी के प्रति अपमानजनक शब्द बोले या व्यवहार करे और सुनने वाला सुनकर उसको वहीं छोड़ दे। सुन्दर रूप से उसके मन में कोई तरंग न उठे। किसी के मान-सम्मान को देखकर उसका मन शान्त बना रहे। विषय सुख में लीन संसार को देखकर उसके मन में उस सुख की इच्छा भी न जगे।

बहिर्मुखी जीवन में ये सब बातें असम्भव जैसी समझी जाती हैं और हैं भी, पर ज्ञानी पुरुष का जीवन ऐसे दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित होता है कि वह संसार की किसी भी घटना, परिस्थिति, दिखावे से विचलित नहीं होता। बाहर की ये सारी की सारी चीजें उसके मन में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करतीं। उनकी उपस्थिति हो या अनुपस्थिति, उसका मन तटस्थ भाव से शान्त बना रहता है। ज्ञानी अपनी समस्त ऊर्जा को इसी स्थिति को प्राप्त करने में व्यय करता है, इसके सिवाय उसका मन कहीं भी नहीं रमता। जीवन का यही रूप उसे प्रकृष्टतम दिखायी देता है। वस्तुतः वह व्यक्ति कितना भाग्यशाली है जिसमें एक क्षण के लिये भी दुःख, पीड़ा, क्लेश, आकर्षण-विकर्षण, अज्ञान आदि न हों। ऐसे ज्ञानवान् के लिये हमारा प्रणाम है।

१८. गुणा गुणिनं प्रयोजयन्ति, गुणी वा गुणान् प्रयोजयति

अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ. ५.३.५५) सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने प्रसंगतः एक बात कही है— कभी तो गुण गुणी को प्रेरित करते हैं और कभी गुणी गुणों को दिशा देता है। मनुष्य की दो स्थितियाँ होती हैं— एक अज्ञानमय, भोगमय, काममय (कामनामय), दुःखमय और दूसरी भोगों से वितृष्ण—ज्ञानमय, ध्यानमय, प्रेममय, आनन्दमय, शान्तिमय। पहली स्थिति में सत्त्व रजस् तमस् तीनों गुण अपनी चक्रक गति में गुणी जीव को चक्कर कटाते रहते हैं तो दूसरी स्थिति में गुणी जीव गुणों को अपनी इच्छानुसार प्रेरित करता है। अज्ञानमय या काममय स्थिति से तात्पर्य है— रजस् तमस् की प्रबलता। इसी प्रकार ज्ञानमय या आनन्दमय स्थिति से तात्पर्य होगा— सत्त्वगुण की प्रबलता। यद्यपि अज्ञानमय स्थिति में भी बीच-बीच में सत्त्वगुण के उपस्थित होने पर कभी-कभी आनन्द-प्रेम-शान्ति या ज्ञानादि के दर्शन होते रहते हैं पर वे भी गुणों के चल स्वभाववश उनके परिवर्तन क्रम में अभ्यासवश स्वतः उभरते हैं या छिपते हैं। जीव की स्वतन्त्र इच्छापूर्वक उनका आगमन या उनकी उपस्थिति नहीं होती किन्तु जब व्यक्ति में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो एकाग्रता के अनुरूप सत्त्वगुण के तारतम्य भेद से उसमें ज्ञान-प्रेम-आनन्द-शक्ति-सहजबल-उत्साह इत्यादि बने रहते हैं, यही है जीव के द्वारा गुणों को प्रयोजित करना।

एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। गुण जब अभ्यास में आ जाते हैं फिर चाहे जिस किसी रूप में हों— सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तो वे व्यक्ति का स्वभाव बन जाते हैं। अर्थात् व्यक्ति जिस किसी गुण का जब अहोरात्र चिन्तन मनन ध्यानादि करता है, जिस गुण में भी जीता है तो वही उसका स्वभाव बन जाता है। यदि व्यक्ति निष्काम होकर ज्ञान में ही रात-दिन जीता है तो सत्त्वगुणी, इसी प्रकार सकाम होकर कर्ममय जीवन जीने पर रजोगुणी और इनके विपरीत प्रकाश (ज्ञान) और क्रिया के आवरक तमोगुण,

गुणा गुणिनं प्रयोजयन्ति, गुणी वा गुणान् प्रयोजयति

जो कि देही को मोहित किये रहता है, के प्रबल होने पर व्यक्ति 'तमो गुणी' नाम से पहचाना जाता है। सो स्वभावगत गुण अपने-अपने स्वरूप के अनुसार देही को ज्ञान क्रिया व मोहरूप धर्म में प्रेरित करते रहते हैं किन्तु जब तक गुण व्यक्ति के स्वभाव में नहीं आते तब तक व्यक्ति को उन अभीष्ट गुणों की साधना करनी होती है, उन इच्छित गुणों को एक विशिष्ट दिशा में प्रयोजित करना होता है। ऐसा करते-करते एक समय आता है कि गुण पूर्णरूपेण सहज हो जाते हैं, अब एकदम सहज अवस्था को प्राप्त हुए गुण एक अर्थ में गुणी=देही को स्वानुरूप ज्ञान, क्रिया व अज्ञान (जड़ता) के मार्ग पर आगे-आगे प्रेरित करते रहते हैं, आगे-आगे गतिशील रखते हैं। इस प्रकार भाष्यकार के उपर्युक्त कथन के द्वारा गुणों की दो स्थितियों का वर्णन किया गया है।



• महापुरुष कौन? जिन्होंने अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं को प्रकट कर लिया या जागरित कर लिया, जो ज्ञान की जीती जागती मूर्ति बन गये हैं, उन्हीं का इस अद्भुत शब्द से कथन होता है। सामान्य व्यक्ति और महापुरुष की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के भेद को विभिन्न प्रसंगों से जाँच-परख कर देख सकते हैं। सामान्य व्यक्ति का ज्ञान एकरूप नहीं होता, बदलता रहता है। जैसा संग वैसा रंग चढ़ता रहता है, ज्ञानियों के संग में ज्ञानी व अज्ञानियों के संग में अज्ञानी। बाह्य प्रभावों से प्रभावित होता रहता है— सम्मान में खुश व अपमान में दुःखी, सफलता में प्रसन्न व असफलता में अप्रसन्न, जय-पराजय में सुखी-दुःखी, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष के चक्र में सतत घूमता रहता है। जबकि महापुरुष का ज्ञान एकरस बना रहता है। उसका मन सत्य-धर्म-न्याय के रंगों में रंगा रहता है उस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता। बाह्य प्रभावों से सर्वथा अप्रभावित, अपनी आत्मा में सुप्रतिष्ठित, मान-अपमान, सफलता-असफलता, हर्ष-शोक, लाभ-हानि, जय-पराजय, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख रूप विभिन्न द्वन्द्वों में पूर्ण समता में स्थित होकर आनन्द, संतोष व तृप्तिपूर्ण जीवन जीता है। उसके ज्ञान में परिस्थितिजन्य बदलाव नहीं आता।

१९. दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः

स्त्रियाम् (अ० ४.१.३) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने प्रसङ्गवश एक सुन्दर सूक्ति कही है— ‘दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः’ अर्थात् देख लिए गए दोष का आराम से परिहार हो सकता है। मनुष्य के जीवन को ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि करोड़ों अरबों में से कोई एक व्यक्ति ही पूर्ण निर्दोष है, अन्यथा मनुष्य जो कि इस सृष्टि का मूर्द्धाभिषिक्त जीव है, जो ज्ञानमय इकाई के रूप में जाना-माना जाता है, दोषों का पुञ्ज ही बना हुआ है। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि वह अपने दोष को देख नहीं पाता। कुछ देख तो लेते हैं पर उस-उस दोष को अपने दोष के रूप में स्वीकार नहीं करते, उसे परिस्थितियों पर डाल देते हैं अथवा उस दोष का कारण दूसरों को बता देते हैं। जैसे कई लोगों के मुख से यह कहते सुना जाता है कि मुझे इसके कारण या उसके कारण क्रोध आ गया अथवा उस दोष को सबके साथ जोड़कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं कि सभी तो ऐसे ही हैं, कौन है जिसमें कोई दोष न हो, जो कभी भी विकारयुक्त न होता हो। कुछ व्यक्ति दोषों को स्वाभाविक बताकर अपना पीछा छुटा लेते हैं कि दोषों का होना स्वाभाविक है— ये तो रहेंगे ही।

कुछ अपने दोषों को भी गुण के रूप में ही देखते रहते हैं, जैसे मैं क्रोध नहीं करूँगा तो सब काम खराब हो जायेंगे, बच्चे बिगड़ जायेंगे, व्यवस्था नहीं चलेगी। कोई व्यक्ति अपने वेतन के सन्दर्भ में बोलते हुए कहता है कि इतनी तो मेरी तनख्वाह है और इतनी ऊपर की कमाई है। मैं रिश्वत तो लेता हूँ पर साथ में दान भी तो देता हूँ। शराब बेचता ही तो हूँ, पीता तो नहीं। कोई कहता है शराब पीता हूँ तो क्या? यह तो देखो कितना दरियादिल हूँ। कोई अपने संस्कारों को दोषी ठहराकर निर्भर हो जाते हैं कि क्या करें पुराने संस्कारों के कारण ऐसा कभी-कभार हो जाता है— मैं चाहता तो नहीं। वे यह नहीं देख पाते कि संस्कारों को ठीक करने की जिम्मेदारी भी तो उन्हीं की है जिनके वे

दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः

संस्कार हैं, संस्कारों का दोषयुक्त होना भी तो उनका दोष ही है।

‘अहंकार’ तो सब दोषों का राजा है किन्तु व्यक्ति इस अहंकार की गाथा भी कितनी शौर्यपूर्ण भाषा में सुनाता रहता है, यह किसी से भी अविदित नहीं है— मैंने उसकी बोलती बन्द कर दी, धूल चटा दी, चुस्का तक नहीं अर्थात् किसी को नीचा दिखाकर व्यक्ति अपने को कितना गौरवशाली अनुभव करता रहता है। उद्वण्डता, उच्छृंखलता या दूसरे के लिए बोली गई अपमानपूर्ण भाषा को अपनी निर्भयता मानता रहता है, दूसरी तरफ अपनी चापलूसी को भी विनयशीलता के रूप में आँकता रहता है। संक्षेप में अपने दोषों की कोई भी युक्तियुक्त व्याख्या करके व्यक्ति सन्तुष्ट रहता है। इस स्थिति में कैसे निर्दोष जीवन की कल्पना की जा सकती है? कभी-कभी व्यक्ति को उसका अपना दोष दिखने पर भी वह उसे अनदेखा करता रहता है। उस पर थोड़ा सा भी विचार करने के लिए तैयार नहीं होता। इस स्थिति को बताने के लिए अंग्रेजी में एक शब्द बोला जाता है— ‘Escape’ (पलायन)। ऐसे में वह तुच्छ मनोरञ्जन के साधनों को अपनाता है, शराब पीता है, जुआ (Cards) खेलता रहता है, कहीं पिकनिक करने के लिए चल पड़ता है, अखबार या कोई उपन्यास पढ़ने लगता है, टी. वी. सीरियल देखने लगता है, मन्दिर जाता है, किसी स्वाभिमत देवी-देवता के दर्शन करने के लिए चल पड़ता है, अपने को भुलाने (Self-Forgetfulness) के लिए कितने ही और भी निचले दर्जे के साधन खोज लेता है।

व्यक्ति को जब कभी अपना कोई दोष दिखाई दे और वह पलायन (Escape) न करे, अनदेखा करने की कोशिश न करे तो उसे तत्काल क्रिया करनी होगी। मनुष्य एक ऐसी सत्ता है कि वह अपने दोषों को अपने साथ लिए-लिए नहीं घूम सकती, समाधान करना ही होता है, तभी उसे शान्ति मिल सकती है अन्यथा अशान्ति ही बनी रहेगी। जैसे भूखा व्यक्ति भोजन के बिना और प्यासा पानी के बिना रह नहीं सकता, ठीक वैसे ही समस्याग्रस्त व्यक्ति समाधान के बिना कभी भी रह नहीं सकता। सचेतन मनुष्य के लिए, दोष चाहे

साधना पथ

वे शरीर के स्तर पर आलस्यादि हैं या इन्द्रियों के स्तर पर विषयों में आसक्ति रूप हैं या मन के स्तर पर काम क्रोधादि विकार हैं या सम्बन्धों के स्तर पर अधिमूल्यन अवमूल्यन आदि हैं, बुद्धि के स्तर पर अविवेक, दृष्टिदोष, असमत्व, विक्षेप (रजोगुण), आवरण=जड़ता (तमोगुण) और अहङ्कारादि जो भी हैं, होशपूर्ण मनुष्य के लिए ये 'दोष' भोजन-पानी-औषध-वस्त्र व मकान की समस्या से किञ्चित् भी अवर कोटि के नहीं हैं बल्कि इससे भी हजार गुणा बड़ी समस्या है क्योंकि **दोषमुक्त जीवन मनुष्य के मैं की माँग है** जबकि भोजनादि शरीर की। मैं की जो माँग है वह हर समय में निरन्तर पूरी होनी चाहिए, जबकि शरीर की माँग सामयिक (Temporary) है। मैं की माँग गुणात्मक (Qualitative) होती है जबकि शरीर की परिमाणात्मक (Quantitative)। दोषमुक्त जीवन की माँग और उसको चरितार्थ करने की शक्ति प्रकृति की ओर से मनुष्य मात्र को सहज रूप से प्राप्त है, यह सुनिश्चित (Intact) है, निरन्तर (Invariant) है और सार्वभौम (Universal) है। केवल उसे इतना ही करना है कि वह अपनी अन्तर्निहित शक्ति को जाने, माने और पहचाने।

दोषमुक्त जीवन की उपलब्धि के विषय में जैनकथाओं में मगध देश के श्रेणिकराजा का एक पावन प्रसङ्ग मिलता है। राजा को जिज्ञासा हुई कि मैं यह जानना चाहता हूँ— मेरे प्रदेश में धर्मात्माओं और पापियों की संख्या कितनी है? राजा ने अपना विचार मन्त्री के समक्ष रखा। मन्त्री ने विचार कर कहा— राजन्! यह कार्य तो कहत कठिन है फिर भी मैं प्रयास करता हूँ, उसने अलग-अलग दो महलों के द्वार खुलवा दिये, एक पुण्यात्माओं के प्रवेश हेतु और दूसरा पापियों के लिए। नगर में सूचना करवा दी गयी कि जो भी अधर्मात्मा हैं वे सब अमुक महल में एकत्रित हो जायें और धर्मात्मा दूसरे महल में। सब क्या देखते हैं कि प्रातः से सायं काल तक पुण्य महल में ही सब लोग इकट्ठे होते रहे। महल के द्वार पर जो द्वारपाल पूछ-ताछ करने के लिए नियुक्त किये गये थे, वे पूछ भी रहे हैं, किन्तु कोई भी अपने को पापी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। इस क्रम में बड़े-बड़े प्रसिद्ध चोर-डाकू-जुआरी-व्यभिचारी-भ्रष्टाचारी

दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः

भी दिखाई दिये, पर किसी ने भी अपने को अधर्मात्मा या पापात्मा स्वीकार करने का साहस नहीं किया, बल्कि उस-उस के सामने जब उसके दोषों की चर्चा की गई तो उन सब ने यही कहा कि आप हमारे गुणों को देखिए— हम असहायों की सहायता करते हैं, प्याऊ लगवाते हैं, निर्धन लोगों के लिए अन्न क्षेत्र चलाते हैं, मन्दिर जाते हैं, सामाजिक कार्य में भरपूर सहयोग करते हैं, गायों के लिए चारा भेजते हैं, जगह-जगह लोगों को ठहरने के लिए धर्मशालाएँ बनवाई हैं, कितनी ही बार तीर्थ करके आए हैं इत्यादि। वे सब-के-सब इसी प्रकार अपनी गुण-गाथा सुनाते रहे।

इधर पापभवन की तरफ सायंकाल दो व्यक्ति आते हुए दिखाई दिए। द्वारपालों को उन्हें देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि ये यहाँ कैसे आ रहे हैं? इनका जीवन तो बहुत ही उज्ज्वल है, नगर के सभी लोग उनके उज्ज्वल चरित्र से परिचित हैं। उनसे पूछा कि आप तो इसके योग्य नहीं हैं। उनका उत्तर देखते ही बनता है, उन्होंने कहा— हम बाह्य रूप से लोगों को जो भी दिखाई दें, पर हम अपने चरित्र के दोषों को स्वयं से कैसे छिपाएँ? हम मुनियों का सत्संग करते हैं और वहाँ हमें जिस उच्च जीवन व पवित्रता की प्रेरणा मिलती है— हम अपने आप को उस पैमाने पर अनुत्तीर्ण पाते हैं। कम-से-कम हम अभी तक अपने आप को निष्पाप नहीं कह सकते। हमारी अभीप्सा अवश्य है कि हम पूर्ण निष्पाप बनें, पर कम-से-कम वह दिन अभी नहीं आया है।

यह सब दृश्य देखने के बाद मन्त्री ने राजा को सूचना दी कि नगर में केवल ये दो व्यक्ति ही धर्मात्मा हैं, क्योंकि ये अपनी बुराई को, अपनी अशुचिता को अपनी आँखों से देख पा रहे हैं। बाकी जो भी लोग हैं वे नहीं देख पा रहे हैं कि हममें अधर्म का कोई बीज है भी या नहीं। जिन्हें अपने गुण तो दिखाई दे रहे हैं और दोष नहीं दिखाई दे रहे वे कैसे निर्दोष हो पायेंगे। क्योंकि पुण्यभवन में प्रवेश करने के मार्ग का सत्य ही उन्हें उपलब्ध नहीं है। वे इस बात से अनभिज्ञ हैं कि पापभवन में से गुजरने के बाद ही पुण्यभवन में पहुँचा जाता है अर्थात् जिन्होंने अपने को गुनाहगार मान लिया है, अपने

साधना पथ

को पापी मान लिया है, या सर्वस्वीकार्य भाषा में कहें तो जिन्होंने अपने दोषों को अपनी गहरी आँखों से देख लिया है तो एक दिन आयेगा कि वे बेगुनाह, निष्पाप और निर्दोष हो जायेंगे।

मनुष्य जिस किसी पर भी अपने मैपन की मुहर लगा देता है वह चीज मनुष्य के पास से चली जायेगी, यह महान् पुरुषों का एक अनुभूत सत्य है। अच्छाई पर मैपन की मुहर लगाने पर अच्छाई चली जाती है और बुराई पर लगाने से बुराई, दोषों पर अपने मैपन की मुहर लगाने पर दोष चले जाते हैं।

* * *

- सामान्य व्यक्ति के कर्म भौतिक इच्छाओं से प्रेरित होकर होते हैं, अर्थात् सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान और वैषयिक सुख ये सब उसके द्वारा अनुष्ठित कर्मों के प्रेरक-हेतु होते हैं जबकि महापुरुष के द्वारा आचरित कर्मों का प्रेरक-हेतु या तो अनन्त अन्तर्यामी होता है या सर्वभूत हित से सम्बद्ध करुणा या कोई आदर्श। यह सदा याद रखना चाहिए कि धनैषणा और पुत्रैषणा और सम्मानैषणा से प्रेरित होकर वह कोई कर्म नहीं करता।

- जितनी बड़ी समस्या (Challenge) है उतना ही बड़ा समाधान खोजना होगा, उससे कम नहीं। ज्ञानी पुरुष कहते हैं जहाँ समस्या होती है उसके आस-पास ही समाधान मौजूद रहता है। चूँकि समस्या सतह पर होती है इसलिए वह दिख जाती है ; समाधान भी होता वहीं है किन्तु थोड़ा गहराई में होता है, इसलिए ध्यान की शक्ति से उसे देखना होता है। देखने का पुरुषार्थ किये बिना अपने आप वह किसी को नहीं दिखता।

- साधक भी प्रकृति से, समाज से, किसी संस्था से या किसी व्यक्ति से लेता तो है किन्तु उसे और अधिक बढ़ाकर देने के लिए, जबकि सांसारिक व्यक्ति देता भी है तो और अधिक लेने के लिए। साधक और संसारी का यह मूलभूत अन्तर सदा याद रखना चाहिए।

४०४०४०४

२० . द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च

भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं दो आत्मायें हैं— एक है शरीरात्मा और दूसरा अन्तरात्मा। इस प्रतिज्ञा के साथ वे अगली बात कहते हैं— ‘शरीरात्मा तत् कर्म करोति येनाऽन्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। अन्तरात्मा च तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति’ अर्थात् शरीरात्मा से किये गये कर्मों के द्वारा अन्तरात्मा को सुख-दुःख अनुभव होता है। इसी प्रकार अन्तरात्मा जिन कर्मों को करता है उनके द्वारा शरीरात्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है। यह प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। प्रस्तुत प्रसंग में शरीरात्मा से अभिप्राय अन्तरात्मा को छोड़कर सारे बाह्य अस्तित्व से होता है। यह शरीर, ये प्राण, ये इन्द्रियाँ, यह वाणी, ये सब शरीरात्मा के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। सो इन शरीर, इन्द्रियों व वाणी के द्वारा व्यक्ति शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करता है और इन शुभ व अशुभ कर्मों का परिणाम सुख और दुःख अन्तरात्मा को मिलता रहता है।

शरीर से किए जाने वाले शुभ व अशुभ कर्मों को समझने की दृष्टि से एक सूची बनायी जा सकती है। शरीर जब शुभ में प्रवृत्त होता है तो सेवा, कर्मण्यता, सहयोग, तपश्चर्या (उचित निद्रा, उचित खान-पान, उचित सोना-जागना) आदि से युक्त रहता है। इसके विपरीत जब आलस्य, निठल्लापन, दूसरों का सहयोग न करना या उन्हें कष्ट देना, खाने-पीने अथवा सोने-जागने में कोई नियम न होना आदि कर्मों से युक्त होता है तो यह शरीर की अशुभ प्रवृत्ति कही जाती है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयों को इन्द्रियाँ आसक्तिपूर्वक ग्रहण करती हैं तो यह इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति और आसक्तिरहित होकर इनका ग्रहण करती हैं तो शुभ प्रवृत्ति कहलाती है। क्योंकि यह तो असम्भव है कि इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण ही न करें। ध्यान अथवा गाढ़ निद्रा के समय को छोड़कर इन्द्रियों और विषयों का सम्बन्ध तो अवश्य होगा। उस सम्बन्ध में आसक्ति है तो अशुभ से योग हो गया और आसक्ति नहीं है तो शुभ से।

साधना पथ

वाणी भी शुभ से युक्त हुई सत्य, हितकारी, मनोहारी व संयत हो जाती है और जब असत्य, स्वार्थपूर्ण, कठोर, निन्दापूर्ण व असंयमित होती है तो यही वाणी का अशुभ से जुड़ना कहा जाता है। इस समस्त शुभ व अशुभ व्यवहार से जुड़े हुए शरीर, इन्द्रियाँ व वाणी जो कुछ करते हैं उससे अन्तरात्मा में सुख व दुःख, शान्ति अथवा क्लेश उत्पन्न होते रहते हैं। शरीरात्मा के द्वारा किए गए क्रिया-कलाप के ऊपर अन्तरात्मा का सुख व दुःख पूर्ण रूप से अवलम्बित है, इसलिए साधक को इस विषय में बहुत जागरूक होने की आवश्यकता है।

दूसरी तरफ अन्तरात्मा के भाव व विचार का शरीरात्मा पर पूरा का पूरा असर पड़ता है, अन्तरात्मा के अन्दर सतत उठने वाले विविध भाव व विचार ही उसके कर्म हैं, सो अन्तरात्मा के उन कर्मों से शरीरात्मा प्रभावित होता रहता है। काम-क्रोधादि का शरीर पर अलग प्रभाव होता है तथा ब्रह्मचर्य, शान्ति, वैराग्य व ज्ञान का अलग प्रभाव होता है यह बात कोई भी व्यक्ति कभी भी अनुभव करके देख सकता है। इस सम्पूर्ण सत्य को साधक ठीक से समझकर अप्रमाद (सजगता) के द्वारा चाहे अन्तरात्मा हो या शरीरात्मा दोनों की अशुभ प्रवृत्ति के कारण एक-दूसरे को प्राप्त होने वाले दुःख से एक-दूसरे को बचाते हुए दोनों की शुभ प्रवृत्ति से एक-दूसरे के सुख को बढ़ा सकता है।

*

*

*

हमारा शरीर दो चीजों का समुच्चय है— एक को कहते हैं अन्तरात्मा व दूसरे को शरीर। अन्तरात्मा प्रकाशक है, शरीर प्रकाश्य। अन्तरात्मा व शरीर के बीच इस सम्बन्ध को हम द्रष्टा-दृश्य, विज्ञाता-विज्ञेय, भोक्ता-भोग्य, विषयी-विषय, अनुभविता-अनुभाव्य के रूप में भी समझ सकते हैं। ये दोनों एक दूसरे के साथ ऐसे गुँथे हुए हैं कि जैसे वस्त्र का ताना-बाना। शरीर आत्मा का घर है तो आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर का होना आवश्यक है अर्थात् शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर असहाय हो जाते हैं। सांख्य शास्त्र में इन्हें पुरुष व प्रकृति नाम दिया गया है और वहाँ इन दोनों के विषय में एक बात कही जाती है— प्रकृति के बिना पुरुष अनभिव्यक्त

द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च

(Unmanifest) है और पुरुष के बिना प्रकृति का कोई अस्तित्व ही नहीं है (without Him it exist not, without Her He is unmanifest) अर्थात् पुरुष के बिना प्रकृति देख नहीं सकती, इधर प्रकृति के बिना पुरुष चल नहीं सकता। इस सब चर्चा का सार यही निकला कि आत्मा के ऊर्ध्वारोहण में शरीर एक अपरिहार्य साधन है। हाँ इतना अवश्य समझना चाहिए कि आत्मा के इन साधनों को दो विभागों में बाँटकर देखा जा सकता है— मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार अन्तरङ्ग साधन हैं जिन्हें अन्तःकरण भी कहते हैं और यह दृश्यमान शरीर तथा इसके साथ संयुक्त दसों इन्द्रियाँ बहिरङ्ग साधन कहे गये हैं।

आत्मा एक तीर्थयात्री है, अपने गन्तव्य तीर्थ पर पहुँचने के लिए सतत गतिशील है। क्योंकि बिना किसी साधन के किसी भी साध्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः साधन-धाम शरीर को स्वस्थ, स्फूर्तिमान् व सबल रखना परम आवश्यक हो जाता है? शरीर कैसे स्वस्थ व सबल रहता है? इसकी कौन-कौन सी आवश्यकताएँ हैं? यदि यह स्पष्ट हो जाता है तो उसे पूरा करके साधन से आवश्यक लाभ उठाया जा सकता है। दूसरी तरफ आत्मा क्या चाहता है? किस खोज में यह लगा हुआ है? इसका गन्तव्य क्या है? इसका अन्तिम तृप्ति बिन्दु क्या है? वह कैसे पूरा होगा? इन सब प्रश्नों की मीमांसा करनी होगी।

प्रायः व्यवहार में आत्मा और उसके अन्तरङ्ग साधन (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) तथा शरीर इन सभी को 'मैं' समझा जाता है। इसके कारण साधन-साध्य का विवेक नहीं रहता। साधन-साध्य के विवेक के साथ यदि व्यक्ति जीवन जीए तो ही वह आनन्दमय और प्रसन्न जीवन जी सकता है, अन्यथा वह सर्वोत्कृष्ट मनुष्य जीवन स्वयं के लिए भी और शेष सम्पूर्ण अस्तित्व के लिए भी दुःख, दुर्भाग्य, अशान्ति, दीनता-हीनता-क्रूरता का घर ही बन जाता है। जीवन को इस दुर्गति से बचाने के लिए चैतन्य तथा उसके साथ सम्बद्ध मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को एक तरफ और शेष शरीर को दूसरी तरफ रखकर दोनों की अलग-अलग माँगों और उन माँगों को पूर्ण करने के उपायों

साधना पथ

पर गहन विचार करना होगा।

जीवन और जगत् में उपलब्ध सभी चीजों को जिनकी मनुष्य को आवश्यकता है, उनका विभाग कर कम-से-कम शब्दों में कहा जाये तो वे कुल मिलाकर तीन चीजें होती हैं— ज्ञान, भाव और पदार्थ। जैसा कि हमने मानव जीवन को दो भागों में बाँट कर देखा— अन्तरात्मा और शरीर। अन्तरात्मा के लिए ज्ञान और भाव चाहिए और शरीर के लिए पदार्थ। अन्तरात्मा की माँगों को देश और काल के साथ जोड़कर देखा जाए तो उनकी परिपूर्ति सर्वदा-सर्वत्र होनी चाहिए तथा उनको प्रकार (Quality) की दृष्टि से देखा जाना चाहिए न कि आकार से, जबकि शरीर की आवश्यकताएँ देश काल व मात्रा (Quantity) से परिसीमित होती हैं। शरीर की माँगें कभी भी सतत (प्रतिक्षण) नहीं हो सकतीं और असीम भी नहीं हो सकतीं, जबकि अन्तरात्मा को ज्ञान और भाव की शुद्धतम अवस्था चाहिए और निरन्तर चाहिए।

यह ज्ञान वह तत्त्व है जो सभी गूढ़तम तत्त्वों का यथार्थस्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। प्राचीन शब्दावली में कहें तो विद्याओं (ज्ञान) के दो विभाग हैं परा और अपरा। ज्ञान के प्रसिद्ध स्रोत हैं— शास्त्र, गुरुजन, वृद्ध-व्यवहार, परम्परा, अनुमान, मनन व निदिध्यासन (मन की अन्तर्मुखता)। भाषाशास्त्र का ज्ञान, आयुर्वेद, गणित विद्या, भूगोल विद्या, खगोल विद्या, यज्ञ विद्या, तर्कशास्त्र, परमाणु विज्ञान, व्यवहार विद्या, कृषि विद्या, पशुपालन, वृक्षारोपण, आजकल की भाषा में कहें तो समस्त सांयान्त्रिकी, भौतिकी, रसायन-शास्त्र, बायलोजी-जीवविज्ञान, कानून विद्या, राज्य संचालन इत्यादि।

• सांसारिक व्यक्ति और साधक के जीवन का अध्ययन किया जाए तो यही सुनिश्चित होता है कि सांसारिक व्यक्ति की तुलना में साधक का जीवन सहस्रगुणा अधिक असफलताओं से भरा होता है। उसे तो हर रोज ही एक नहीं अनेक बार मन व अहंकार के सूक्ष्म स्तरों पर असफलताओं की धारा में बहना होता है। किन्तु जीवन के विकास क्रम में एक समय ऐसा भी आता है जब असफलतारहित सफलता साधक के चरण चूमती है।

२१. यथा न दोषस्तथाऽस्तु

पतञ्जलि मुनि व्याकरण महाभाष्य में एक गम्भीर सत्य का उद्घाटन करते हैं यथा न दोषस्तथाऽस्तु अर्थात् जब हम कोई कार्य कर रहे हों तो अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए कि कहीं कोई दोष तो नहीं आ रहा। वही रास्ता निर्धारित करना चाहिए जो दोषरहित हो। दोषयुक्त मार्ग को तत्काल छोड़ देना चाहिए। जीवन के विविध प्रसङ्गों में सावधान रहता हुआ व्यक्ति यदि पहले ही यह विचार कर ले और स्पष्टता से देख ले कि ऐसा करने से अमुक-अमुक दोष उपस्थित हो जायेंगे तो दोषों के अनर्थकारी परिणाम से बचा जा सकता है। व्यक्ति के थोड़ा सचेत होते ही उसे पता लगेगा कि प्रातः से सायं तक ऐसे अनेक अवसर आ जाते हैं जहाँ 'यह करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए' का द्वैत उपस्थित होता रहता है। व्यक्ति का मन जितना प्रमाद में होता है उतना ही यह भाव कम उत्पन्न होता है। मन जब पूर्ण ज्ञानवान् हो जाता है तब भी यह भाव नहीं उठता। ज्ञानी तो नहीं है पर ज्ञानवान् होना चाहता है इस चाह वाले मन में ही ये भाव अधिक उठते हैं।

व्यक्ति अपनी आँखें खोलता है और उसके सामने कुछ जड़ चेतन चीजें उपस्थित हो जाती हैं— खाने-पीने की विविध वस्तुएँ, पहनने के अनेक प्रकार के वस्त्र, नव-यौवन, भव्य-भवन, सुन्दर यान इत्यादि। उसके मन में एक विचार आता है इन चीजों को देखना चाहिए या नहीं? उसकी अपनी खोज में वह व्यक्ति पाता है कि इन चीजों को देखने से और इनके विचार से मेरे मन में राग पैदा हो रहा है, इनके प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में इन सुन्दर लगने वाले सभी विषयों को मैंने पा भी लिया तो मेरी यात्रा का अवसान अतृप्ति में होगा। मुझे और भी दिव्य (उत्तम) भोगों को पाने की इच्छा होगी जिसका कभी भी अन्त न आ सकेगा। इस लम्बी दोष श्रृंखला का विचार कर वह व्यक्ति अपने मन को वहाँ से हटा लेता है तथा योग जीवन पर विचार करना प्रारम्भ कर देता है कि यह मार्ग कठिन तो अवश्य है पर दोष रहित एवं अवसान में तृप्तिरूप फल वाला है। विषयों का मार्ग सरल है, दिखने में प्यारा

साधना पथ

है, पर अनेक दोषों से परिपूर्ण है, इसलिये मैं दोषयुक्त मार्ग पर नहीं चलूँगा।

विचारवान् साधक को निरन्तर यह अन्वेषण करते रहना चाहिए कि शरीर के लिए आलस्य, प्रमाद, आराम, अकर्मण्यता, विषय-सुख का मार्ग श्रेष्ठ है या संयम-तपस्या-सहयोग-क्रियाशीलता का? वाणी और इन्द्रियों का संयत रहना अच्छा है या असंयत? मृदुता व विनम्रता का मार्ग ठीक है या कठोरता और अहंकार का? करुणा प्रशस्त है या क्रूरता? मन का आस्तिक, ईर्ष्या-द्वेष से रहित, द्रोहादि से मुक्त, श्रद्धावान् होना कल्याणकारी है या नास्तिक, ईर्ष्यालु, द्वेषी, मोही, द्रोही, अश्रद्धालु होना? ज्ञान का मार्ग ठीक है या स्वच्छन्दता का? स्वच्छता का मार्ग अच्छा है या अस्वच्छता का? इस प्रकार निरन्तर शोध के पश्चात् जो मार्ग निर्दोष व सत्य प्रतीत हो उसका ग्रहण तथा जो सद्दोष प्रतीत हो उसका त्याग कर देना चाहिए। दोष निरीक्षण में सावधानी अवश्य रखनी चाहिए अन्यथा व्यक्ति में भ्रान्तियाँ, अज्ञान, आसक्तियाँ, पूर्वाग्रह इतने गहरे बैठे होते हैं कि उसे जो दोषयुक्त मार्ग है वह सर्वथा निर्दोष तथा जो दोषों से ठसाठस भरा है वह एकदम दोषरहित प्रतीत होने लगता है। **व्यक्ति को अज्ञान के कारण ही तो असंयम अच्छा लगता है तथा संयम भाररूप प्रतीत होता है।**

* * *

- आसुरी शक्तियों के राज्य को निरस्त करने के लिए एक-एक इञ्च धरती को महान् प्रतिरोध के साथ जीतना होता है।
- साधक जब अपने अन्दर देखता है तो ज्ञानमय स्थिति में रहता है, किन्तु जब बाहर देखता है तो प्रेममय अवस्था में रहता है।
- एक चतुर और बुद्धिमान् किसान घास का एक तिनका भी अपने खेत में नहीं देखना चाहता, इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधक को चाहिए कि वह अपनी अन्तःकरण रूपी भूमि में विकारों की इस घास को न जमने दे।
- साधना में प्रगति अन्तःकरण की शुद्धि पर अवलम्बित है। समस्त विकार ही अन्तःकरण को अशुद्ध करने वाले हैं।

४०४०७७७

२२. तत्कारी च भवान् तद्वेषी

भाष्यकार महामुनि पतञ्जलि किसी प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के साथ सीधी जुड़ी हुई एक बात कहते हैं कि तत्कारी च भवान् तद्वेषी। यदि पूरे मानव समाज का सर्वेक्षण किया जाए और पूरी सच्चाई के साथ वे इसका उत्तर दे सकें तो पता चलेगा कि जो कुछ वे कर रहे हैं उससे पूर्ण सन्तुष्ट व्यक्ति बहुत कम हैं। ज्यादातर शिकायत की भाषा का ही प्रयोग होता है। क्या करें, हम ऐसा करना चाहते तो नहीं, पर..... ? किसी मजबूरी, किसी परिस्थिति, किसी दुरभ्यास, किसी आदत, किसी की देखा-देखी, किसी कामना (चाहे फिर वह लोकैषणा हो या धनैषणा) किसी प्रलोभन या प्रतिक्रियावश व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है— चाहे वह आजीविका सम्बन्धी कार्य हो या अपने दैनन्दिन व्यवहार में आने वाली छोटी-मोटी बातें हों— हंसना, उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना, बात करना इत्यादि। वह अपनी इच्छा का मालिक बनकर कुछ नहीं कर रहा होता है। अन्दर विचार कुछ उठते हैं बाहर क्रिया कुछ और ही होती रहती है। यह द्वैत, यह विभाजन, यह अन्तर्विरोध मनुष्य को निरन्तर दुःख के कीचड़ में घसीटता रहता है।

बड़े से बड़े काम से लेकर छोटे से छोटे व्यवहार में जब तक मनुष्य के ज्ञान व कर्म में एकरूपता नहीं होगी, उसका यह मानसिक कष्ट बना ही रहेगा। किसी भी क्रिया-कलाप को करते हुए रस इसलिये नहीं आ रहा होता है कि उसका आन्तरिक विचार कुछ और ही होता है। बात ऐसी है कि आत्मा-मन-प्राण-शरीर व उनकी क्रियाएँ जब ये सब के सब एक रूप हो जाते हैं उसी समय आनन्द अभिव्यक्त होता है। केवल उस अवस्था में ही व्यक्ति तत्कारी और तद्वेषी नहीं होता। जब आत्मा-मन आदि का छन्द (सङ्गीत=Synergy) अनियमित हो जाता है तब ही व्यक्ति उदास, भारयुक्त, विरस, अप्रसन्न और कुछ खोया-खोया सा रहने लगता है। सुख राग के साथ व दुःख द्वेष के साथ ऐसे ही जुड़ा रहता है जैसे सूर्य के साथ प्रकाश। सो जब व्यक्ति अपनी

साधना पथ

आन्तरिक माँग के अनुसार नहीं चलता या विपरीत चलता है तो वह व्यक्ति तद्द्वेषी है ऐसा कह देते हैं। अपने कार्य का अपने ही द्वारा असमर्थन करना तद्द्वेषी होना है। द्वेष में सुख कैसा ? द्वेष में तो दुःख होता है।

इस सम्पूर्ण तथ्य को और अधिक स्पष्टता से यों समझा जा सकता है—व्यक्ति शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि विषयसुख में लीन है, मान-पद-प्रतिष्ठा के पीछे अन्धी दौड़ लगा रहा है, काम-क्रोध-लोभादि विकारों को स्थान देता है, हर समय बहस वाद-विवाद करने के लिए तैयार रहता है, मन व इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ा हुआ है, यह सब कुछ करता रहता है और जीवन के इस रूप की निन्दा भी करता रहता है अर्थात् बुरा भी बताता रहता है, तो ऐसे व्यक्ति को कहा जायेगा कि आप 'तत्कारी और तद्द्वेषी' हैं। यदि आप मानते हैं कि सचमुच ये चीजें ठीक नहीं हैं तो आपको तत्कारी के रूप में नहीं रहना चाहिए, अपने दर्शन के अनुरूप, अपने ज्ञान के अनुसार ही अपनी क्रियाओं को बना लेना चाहिए और या फिर तद्द्वेषी बनकर न रहें। अपने दर्शन को बदल लें और उसी में रस लें। जो कुछ कर रहे हैं उसमें यदि अप्रीति है तो जीवन में कभी भी रस नहीं आ सकता, जीवन भार रूप हो जायेगा। एक व्यक्ति योग मार्ग पर चल भी रहा है और उससे अप्रीति भी करता है, उससे असन्तुष्ट भी है वह कभी भी उस रास्ते में सफल नहीं हो सकता।

इस प्रकार विचार करने पर यह बात सामने आई कि विवेक का प्रयोग करके पहले हमें अपने पथ का निर्धारण कर लेना चाहिए, उसके गुण व दोष ठीक से देख लेने चाहिए। एक बार में ही सम्पूर्ण रूप से किसी चीज के बारे में पता न चल पाये तो धैर्य रखकर अपने प्रयोगों से जो अनुभव प्राप्त हुआ है या हो रहा है उसे सामने रखकर अपने निर्धारित और निर्णीत पथ पर आगे बढ़ते चले जाना चाहिए। यही वह उचित उपाय है जिसके द्वारा व्यक्ति दुःख से सर्वथा ऊपर उठ सकता है। जीवन की दो दिशाएँ हैं योग और भोग, श्रेय व प्रेय। चुनाव की हमें स्वतन्त्रता है। चुनाव के पश्चात् तद्द्वेषी नहीं रहना चाहिए। भले ही सरल मार्ग पर चल रहे हैं या कठिन मार्ग पर। मार्ग का आनन्द उसी अवस्था में लिया जा सकता है जब मन उसके साथ जुड़ा हुआ

तत्कारी च भवान् तदद्वेषी

हो। मन को अपने संकल्पित या आचर्यमाण विषय के साथ जोड़ कर रखना ही अतदद्वेषी (न तदद्वेषी) होना है। विद्यार्थी विद्या पढ़ रहा है तो उसका मन उस काम में ही लगा रहना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न किया जाता है कि किसी शुभ कार्य को करते हुए व्यक्ति का मन वहाँ से भाग रहा है तो क्या उसे वह काम छोड़ देना चाहिए या फिर उस काम को सतत जारी रखने के लिए अपने मन को समझा लेना चाहिए? अथवा इससे विपरीत परिस्थिति भी हो सकती है— किसी अशुभ कार्य में शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी रस ले रही हैं पर अन्तर्मन उसे अच्छा नहीं मानता तो क्या अन्तर्मन को अपना आग्रह त्यागकर शरीर, इन्द्रियों के पीछे चल पड़ना चाहिए? हाँ, उपर्युक्त स्थिति में कई बार मन व शरीर की एकरूपता को समाधान के रूप में प्रस्तुत किया तो जाता है पर यह समझाने के लिये कथन मात्र है। जैसे कि कई बार यह बात कहते सुनी गयी है कि तुम बड़े विचित्र हो शराब पीते भी जा रहे हो और उसे गलत भी बताते हो। या तो शराब छोड़ दो या फिर इसकी निन्दा करना और इससे परेशान होना छोड़ दो। इस कथन के पीछे वक्ता का तात्पर्य शराबी की शराब छुड़ाने में ही होता है। वक्ता अधिक जोर देने के लिये वैसी भाषा का प्रयोग कर देता है। वक्ता यह विश्वास रखता है कि यह व्यक्ति इसे गलत बताना तो नहीं छोड़ेगा। सो वास्तव में तो सर्वदा महापुरुषों की, वेदादिशास्त्रों की या अपनी निर्मल आत्मा की सहमति अथवा असहमति से सत्य को जाँच परखकर उस के अनुरूप ही अपने बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व को बनाना चाहिए। शरीर, इन्द्रियों व वाणी की माँगें सत्य के अनुकूल हैं और मन असत्य की तरफ झुक रहा है तो मन को भी शरीरादि के अनुकूल कर लेना चाहिए। दूसरी तरफ शरीरादि की माँगें मिथ्या हैं और मन की माँगें सत्य हैं तो शरीरादि को मन के अनुरूप कर लेना चाहिए। यही तत्कारी और तदद्वेषी न होने का भाव है अर्थात् आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व में पूर्ण समस्वरता (Harmony) होना, विभाजन का अन्त। शरीर, मन, प्राण, क्रिया व आत्मा का अद्वैत यही है। यही ज्ञान है, यही है स्वतन्त्रता।

२३. पुरुषो वाव यज्ञः

‘पुरुषो वाव यज्ञः’ छान्दोग्य उपनिषद् की यह सूक्ति एक गम्भीर अर्थ को अपने अन्दर समेटे हुए है। बाहर जिस यज्ञ को मनुष्य सम्पन्न करता है वो तो एक रूपक है, उसके द्वारा जीवन यज्ञ को समझाया गया है। यज्ञ में विनियुक्त अनेक मन्त्र व उनके द्वारा सम्पन्न की जाने वाली विविध क्रियायें, घृत-समिधा, जल-अग्नि व शाकल्य (सुगन्धित, पुष्ट, मिष्ट व रोगनाशक पदार्थ) ये सब की सब चीजें जीवन यज्ञ को सुगन्धमय, सुन्दर, सरस, स्वस्थ व परिपूर्ण बनाने का प्रतीकात्मक संकेत हैं। यजमान ब्रती रहता हुआ यज्ञस्थली (यज्ञशाला) को बड़े प्रयत्न और श्रद्धा से अलंकृत करता है। यज्ञ सम्पन्न कराने के लिये अपने ज्ञान के अनुसार एक योग्यतम व्यक्ति का चयनकर उसे निमन्त्रित करता है जिसे पुरोहित भी कहते हैं और उसे एक उच्च आसन पर आसीन कर देता है। पुरोहित, आचार्य, ब्रह्मा (जिस किसी भी नाम से सम्बोधित करें) को अपने यज्ञ का निर्देशक मानता हुआ सबसे पहले उनके समक्ष यज्ञ आरम्भ करने से पूर्व अपने संकल्प को दोहराता है कि मैं अमुक समय, अमुक स्थान पर, अमुक नाम का व्यक्ति, अमुक उद्देश्य से अमुक कर्म करने के लिये आपको अपने मार्ग निर्देशक के रूप में वरण करता हूँ। आपके लिए समर्पित अपने इस यजमान की प्रार्थना को आप स्वीकार करें।

पुरोहित यजमान की प्रार्थना को स्वीकृत करता हुआ ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण मन्त्रों का वाचन करके, उसे तीन बार जल का आचमन व अपने प्रमुख शरीराङ्गों को जल से स्पर्श करने के लिए संकेत देता है। आचमन व अङ्गस्पर्श की क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् दीपक जलाया जाता है। जलते हुए दीपक से अग्नि को ग्रहण कर यज्ञ कुण्ड में उस अग्नि को स्थापित किया जाता है। समिधाओं व घृत आहुतियों से उस अग्नि को प्रचण्ड किया जाता है। किसी कारण से बीच में दीपक बुझ जाए तो उसे पुनः जलाया जाता है, उधर यज्ञाग्नि मन्द पड़ जाए या कदाचित् बुझ

पुरुषो वाव यज्ञः

जाए तो यज्ञ को थोड़ा विराम देकर अर्थात् घृत, समिधा या शाकल्य की दी जाने वाली आहुतियों को रोककर पुनः अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। यजमान यज्ञीय आसन पर बैठा हुआ पूरा जागरूक व सजग रहता हुआ यज्ञ कर्म को करता रहे ऐसा पुरोहित के द्वारा निर्देश मिलता रहता है। आहुतियाँ देते समय यजमान को सचेत किया जाता है कि उसकी आँखें सदा निहारती रहें कि कोई कीट-पतंगादि अग्नि में न चला जाए, समिधायेँ स्वच्छ हों, घुनादि से विकृत की हुई न हों, घृत शुद्ध-पवित्र छना हुआ हो, जिस शाकल्य की आहुति दी जा रही है उसमें कोई कीड़े आदि पैदा न हो गये हों। यज्ञ को नष्ट करने के लिये शत्रु क्षण-क्षण में अपना काम करते रहते हैं, यजमान ने यदि थोड़ा भी प्रमाद किया तो कभी भी वे उपस्थित हो सकते हैं और यज्ञ का विध्वंस कर सकते हैं, इसलिए पुरोहित के द्वारा यजमान को बार-बार सावधान किया जाता है। मध्य में चारों ओर जल सेचन कराया जाता है। यज्ञ सम्पूर्ण होने पर यजमान सबका धन्यवाद करता है विशेषकर अपने आचार्य का और उसे दक्षिणा देता है। आचार्य उसके लिए अपने आशीर्वाद देता है और इसी के साथ यज्ञ पूरा हो जाता है।

तो इस यज्ञ के रूपक को अब हम अपने जीवन में घटाते हैं, यज्ञ चाहे भौतिक द्रव्यमय हो अथवा आध्यात्मिक अर्थात् चाहे वो बाह्य कर्मकाण्ड हो या फिर प्रतिक्षण चलते रहने वाला जीवन यज्ञ हो; दो सचेतन शक्तियाँ (यज्ञ करने वाला और कराने वाला) मिलकर उसको सम्पन्न करती हैं, तीसरी चीज होती है— साधन-सामग्री; जिसके द्वारा वह यज्ञ पूरा किया जाता है। यजमान की अपनी कोई इच्छा या चाहत होती है, उस के अनुरूप ही उसे समस्त साधन-सामग्री जुटानी होती है। इतना कार्य तो उसे ही करना होता है, इतना करने के बाद वह पुरोहित या आचार्य से दिशा निर्देश लेता है। चूँकि स्वयं यजमान ही पुरोहित को अपनी ओर से वरण करता है, अतः वह उसके प्रति पूर्ण समर्पित होता है। अब वह पुरोहित को प्रसन्न रखना अपना परम कर्तव्य समझता है। इसी कारण पुरोहित के आदेशों व निर्देशों का पालन करने

साधना पथ

में उसे परम आनन्द होता है। एक क्षण के लिए भी वे आदेश व निर्देश उसे भार रूप प्रतीत नहीं होते, अर्थात् उसके मन में कभी भी यह बात नहीं आती कि किसी ने कुछ नियम तेरे ऊपर थोप रखे हैं। जैसे कि मन्दिर में जाकर कोई अपनी इच्छा से झाड़ू लगा रहा हो या फिर कोई खिलाड़ी अपना मन चाहा खेल खेल रहा हो और उसे जो हर्ष अनुभव होवे उससे भी अधिक हर्षित यह यजमान रहता है जब वह अपने आचार्य के प्रति समर्पित हुआ उनका आज्ञापालन व उनका प्रियाचरण कर रहा होता है।

हाँ! तो अब समझने की बात यह है कि हमारा यह शरीर ही वह यज्ञशाला है, जिसमें बैठा हुआ आत्मा एक याज्ञिक की भूमिका अदा कर रहा है। यजमान स्थानी यह आत्मा चाहता है कि मैं यज्ञ करूँ, वह यज्ञ सकाम भी हो सकता और निष्काम भी, यह सब आत्मा की चाहत के ऊपर निर्भर करता है कि उसे सकाम यज्ञ करना है या निष्काम। अपनी चाहना के अनुरूप या तो वह बाहर किसी विद्वान् पुरोहित की खोज करके, उसके निर्देश में अपना यज्ञ चालू कर देता है, या फिर अपने अत्यन्त पास ही बैठे अन्तर्यामी भगवान् को ही अपना पुरोहित बना लेता है। यह आत्मारूपी यजमान जब अपने लिए पुरोहित (चाहे वो बाहर का हो या भीतर का) को चुनता है, तो उस समय उसके अपने ज्ञान के स्तर के आधार पर ही उसे पुरोहित मिलता है। बाहर जो मनुष्य के रूप में पुरोहित होते हैं, वहाँ तो यह बात स्पष्ट ही है कि विद्वानों के अनेक स्तर होते हैं पर अन्तर्यामी के तो एक होते हुए भी मनुष्य का आत्मा अपने ज्ञान के अनुसार अन्तर्यामी का स्वरूप निर्धारित कर उसका वरण कर लेता है। प्रथम श्रेणी के बालक को उसकी योग्यता के अनुसार अध्यापक मिलता है और स्नातकोत्तर (एम.ए.) श्रेणी में पढ़ने वाले को अलग योग्यता वाला, इससे भी आगे यदि कोई शोध के काम में जुट जाता है तो उससे अधिक योग्यता वाला कोई निदेशक उसकी सहायता करता है। उसी प्रकार मनुष्य जहाँ खड़ा है वहाँ से आगे की राह दिखाने वाली शक्ति को पुरोहित या आचार्य कहते हैं। सो यदि मनुष्य सच्चाई के साथ आगे बढ़ना चाहता है, तो

पुरुषो वाव यज्ञः

उसके स्तर के अनुसार अवश्य ही उसे सहायता भी प्राप्त होती है। सो इस आत्मा रूपी यजमान का अन्तिम सर्वोत्कृष्ट पौरोहित्य-कर्म कर्त्ता तो स्वयं अन्तर्यामी भगवान् ही है। शेष जो भी हैं, वे तो केवल उस का प्रतिनिधित्व मात्र करते हैं या फिर उस तक पहुँचाने के लिये माध्यम बनते हैं।

जैसे बाह्य यज्ञ को प्रारम्भ करने से पहले यजमान का यज्ञ स्थान को सब प्रकार से सुन्दर व अलंकृत करने का अधिकतम प्रयास होता है, उसी प्रकार इस जीवन यज्ञ का सम्पादयिता आत्मा भी अपने शरीर की उपेक्षा नहीं करता, इसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़, स्वस्थ व दर्शनीय रखना चाहता है। जैसे वहाँ यज्ञ वेदी में प्रतिदिन मार्जन, लेपन व स्वच्छता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी अपने इन्द्रियों व प्राणों को सर्वतोभावेन शुद्ध-पवित्र रखने का प्रयत्न चलता रहता है। जैसे वहाँ किसी भी प्रकार की थोड़ी सी भी दुर्गन्ध असह्य समझी जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह जीवन यज्ञ का साधक अपने शरीर, प्राण व इन्द्रियों को विषयों की दुर्गन्ध से बचाये रखने के लिये सावधान रहता है। जैसे वहाँ यजमान हर क्षण अप्रमत्त रहता हुआ शत्रु पर दृष्टि रखता है कि कोई यज्ञ विरोधी तत्त्व यज्ञवेदी तक न पहुँचे, वैसे यहाँ भी आसुरी भावों से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए कटिबद्ध रहता है। भौतिक यज्ञ में ब्रह्मा या पुरोहित को सबसे अधिक सम्माननीय व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। इसी कारण उसे सबसे ऊँचे आसन पर बिठाया जाता है। यहाँ भी किसी न किसी अपने से बड़ी शक्ति को स्वीकार कर, उसे अपने हृदयासन पर प्रतिष्ठित रखना होता है।

जैसे वहाँ सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड को जिस किसी भी विधि से सम्पन्न कराने की पूरी जिम्मेदारी पुरोहित के कन्धों पर डाल दी जाती है और स्वयं यजमान अपने पुरोहित का एक आज्ञापालक यन्त्र बनकर काम करता है, यजमान की अपनी तरफ से कोई चीज होती है तो वह होती है 'इच्छा या संकल्प' (मैं अमुक यज्ञ करना चाहता हूँ), विधि विधान सब पुरोहित द्वारा निर्दिष्ट व निर्धारित होता है, यहाँ भी आत्मा को यही करना होता है। जैसे कोई

साधना पथ

अविवेकी यजमान किसी को भी अपना पुरोहित चुन लेता है और ऐसी स्थिति में उसका यज्ञ असफल हो जाता है उसी प्रकार जीवन के सन्दर्भ में भी जब यह आत्मा ज्ञानी या अज्ञानी गुरु का भेद नहीं कर पाता और किसी को भी समर्पित होकर अपने जीवन को चलाने लगता है तो निश्चित ही उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। चूँकि पुरोहित, गुरु, आचार्य, ब्रह्मा या जो कुछ कहें उसका वरण यजमान करता है तो उसकी पहचान ज्ञानी व अज्ञानी के रूप में भी उसे ही करनी पड़ती है और इस चयन में भूल होने पर उसका अनिष्ट परिणाम भी उसे ही भोगना पड़ता है। स्पष्ट है जो गुरु नहीं है, पर गुरु का अभिनय कर रहा है, वह कैसे शिष्य को पार लगा पाएगा? किसी साधक ने बाहर किसी अयोग्य गुरु के चयन की भाँति अपने अन्दर भी यदि भ्रान्तिवश अपने ही अज्ञानमय अस्तित्व के एक हिस्से को अपना पुरोहित या गुरु मान लिया तो उचित मार्गदर्शन के अभाव में उसकी यह जीवन नौका इस संसार सागर को कैसे पार कर सकती है? सो जैसे योग्य पुरोहित का अन्वेषण, उसका वरण और उसके समक्ष अपने अहं का विसर्जन और सब प्रकार से उसका प्रियाचरण वहाँ आवश्यक हैं, वैसे ही यहाँ जीवन के सन्दर्भ में भी ये सब बातें उतनी ही आवश्यक हैं बल्कि उससे भी ज्यादा आवश्यक हैं।

यज्ञ प्रारम्भ करने से पहले यजमान जल के आचमन के द्वारा यह सीखता है कि यह मेरा मन जल की तरह स्वच्छ, पवित्र व शान्त बना रहे। असत्य मात्र से मन अपवित्र हो जाता है और क्रिया में, व्यवहार में, वाणी में, विचार में, भावनाओं में सत्य को ही महत्व देते रहने से मन पवित्र होता चला जाता है। जल से अपने शरीराङ्गों का स्पर्श करता हुआ यजमान उसको भी स्वस्थ, पवित्र व शान्त बनाना चाहता है। यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करता हुआ जीवन साधक या आत्म साधक अपने अन्दर भागवत संकल्पाग्नि का समिन्धन करता है। वह यह चाहता है कि मेरे मन, प्राण व शरीर की कोई अपनी अलग चाह न रहे। भागवत संकल्पाग्नि को वह श्रद्धा भावना व विचारों की समिधाओं से, प्रेम रूपी घृत की आहुतियों से बढ़ाता है। जलते हुए दीपक को देखकर अपने अन्दर ज्ञान-दीपक निरन्तर जलाये रखता है। कदाचित् यह

पुरुषो वाव यज्ञः

बाहर का दीपक वायु के तेज झोंके से बुझ भी जाता है, परन्तु उसी क्षण पुनः जला लिया जाता है वैसे ही अपने अन्दर भी यदि कभी विषयों की आंधी से ज्ञान दीप बुझ जाता है, तो उसे भी पुनः प्रज्वलित कर लेता है। वह देखता है यदि अग्नि में समिधायें न छोड़ी जाएं, घृताहुतियाँ कम लग पायें या बन्द हो जाएं तो एक समय जो अग्नि प्रचण्ड दिखाई दे रही थी वह शनैः शनैः बुझ भी सकती है। उसी प्रकार इस भागवत संकल्पाग्नि को सतत प्रयत्न व पुरुषार्थ के द्वारा ही जागरित रखा जा सकता है, अन्यथा यह भी बुझ सकती है। जैसे भौतिक यज्ञ रोग, कीटाणु व दुर्गन्ध का समूल नाश करके उसके स्थान में स्वास्थ्य, समृद्धि, सुगन्ध व प्रसन्नता को देने वाला होता है, उसी प्रकार साधक का यह अध्यात्म यज्ञ भी जीवन की समस्त कमजोरियों, अपूर्णताओं, दैन्यताओं, निराशाओं, दुःख व क्लेशों को नष्ट कर साधक की सम्पूर्ण सत्ता में अमिश्र-आनन्द, अपूर्व शान्ति, पूर्ण सामञ्जस्य, अपार उत्साह को भर देता है। साधक का जीवन भागवत प्रेम, ज्ञान, बल, व आनन्द के प्रस्फुटन का एक केन्द्र बन जाता है। जैसे भौतिक यज्ञ में यजमान अभ्यागत महानुभावों को यज्ञ का प्रसाद और अपने गुरु को दक्षिणा देकर यज्ञ का समापन करता है, उसी प्रकार इस अध्यात्म यज्ञ से प्राप्त ज्ञान, बल, आनन्द, शान्ति, अभय, स्वतन्त्रतादि को इस समष्टि में प्रसाद रूप में वितरित कर देता है और साथ में अपने पुरोहित के लिये अपने आप को ही दे डालता है। अपने आपको अर्थात् अपने अहं को त्याग देना, यही वह अन्तिम दान है, जिसे किसी भी जीवन-साधक को करना होता है।

- शास्त्र में कहा है— देवताओं ने मृत्यु से डरते हुए अपने आप को छन्दों में आच्छादित कर लिया, छन्दों में आच्छादित होते ही देवता सुरक्षित हो गये, मृत्यु उन्हें पकड़ नहीं पाया। यहाँ उक्त कथन में ज्ञान से आच्छादित होना ही छन्दों से आच्छादित होना है।
- मानव जीवन के लिए ज्ञान ही तो एक कवच है जो आसुरी शक्तियों के प्रलयकारी प्रहारों से भी व्यक्ति को बचा लेता है।

२४. दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्

मैत्रायणी संहिता में किसी सन्दर्भ में कहा गया एक वाक्य उपलब्ध होता है “दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्” देवों के लिये जो हवि तैयार की गई थी, दीर्घजिह्वी (कुतिया) आकर उसे चाट गई। शुभ प्रवृत्तियों से युक्त मन, शरीर व इन्द्रियों को देव कहा जाता है। अपने जीवन के विकास के साथ-साथ व्यक्ति इन देवों की तृप्ति के लिये उत्तम से उत्तम विचार, विविध ज्ञान-विज्ञान, दया, करुणा, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, शारीरिक ऊर्जा, कर्मण्यता, सेवा, सरलता, विनम्रतादि रूप हवि तैयार करता है। पर अकस्मात् यह लम्बी जीभ वाली कुतिया बीच में ही आ टपकती है और उस हवि को चाट जाती है। इसके परिणाम स्वरूप उधर देव भूखे मरते रहते हैं।

कामना ही वह दीर्घजिह्वी (कुतिया) है, जो इस याजक के थोड़ा सा भी प्रमाद करते ही यज्ञवेदी पर चढ़ जाती है और उस पकी पकाई हवि को खाकर तुरन्त इधर-उधर हो जाती है। इसी कारण तो यजमान को सर्वदा पूर्ण सचेत रहने के लिये निर्देश दिए जाते हैं कि वह जागरूक व अप्रमत्त रहता हुआ अपने यज्ञ व यज्ञीय सामग्री की देखभाल करता रहे। जैसे अग्नि आदि भौतिक देवों के लिये यजमान घृत-पुरोडाशादि उत्तम-उत्तम सामग्री तैयार करके भी यदि सावधान नहीं रहता, तो कोई भी कुत्तादि आकर उसे खा सकता है या झूठा कर सकता है। इसी प्रकार जीवन के प्रसंग में भी ऐसी ही कुछ घटनायें घटने की सम्भावना बनी रहती है। इस अवस्था में पश्चात्ताप के अतिरिक्त साधक के हाथ में कुछ भी नहीं रहता। यह प्रमाद ही है जो व्यक्ति को पश्चात्ताप करने की स्थिति में डाल देता है।

हाँ! तो यह कामना रूपी दीर्घजिह्वी कुतिया, जिसका कभी पेट नहीं भरता; कभी तो आँख के रास्ते से, कभी कान के, कभी स्पर्श के, कभी जिह्वा के, कभी अहंकार के इन सब विविध मार्गों से साधक के अन्दर घुस जाती है। देवों के लिए निर्मित हवि: को एक क्षण में ही खाकर वहाँ से भाग जाती है।

दीर्घजिह्वा वै देवानां हविरलेट्

कभी-कभी तो वहीं ऐसी जमकर बैठ जाती है कि किसी भी प्रकार निकाले भी नहीं निकलती। साधक पुनः पुनः हविः तैयार करने का कष्ट उठाता रहता है, और फिर वही पुनरावृत्ति होती रहती है। जो इस सत्य का अनुभव कर लेते हैं कि एक क्षण का भी प्रमाद व्यक्ति की सारी प्रसन्नता को आँसुओं में बदल देता है, वे इतने सजग रहते हैं कि कभी भी अपने जीवन में वह अवसर नहीं आने देते। सदा अप्रमत्त रहने का यही अर्थ है कि एक-एक क्षण में जिसमें कि हम अभी हैं उसमें अप्रमत्त बने रहना। एक अर्थ में वर्तमान क्षण का ही नाम तो शाश्वत है। जो इतना नहीं कर सकते हैं, उनके आँसुओं को इस धरती पर कौन रोक सकता है? कौन समाप्त कर सकता है? यही एक उपाय है, जिससे देवों के लिए पकाई गई हविः देवों को मिलती रहे, इस कामना रूपी कुतिया के मुख में न जाए। अपनी तृप्ति से संतुष्ट हुए 'देव' व्यक्ति को अपार प्रसन्नता देते हैं। इस कर्म से व्यक्ति अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है— यही परम श्रेय है।

जिस जगत् के बीच व्यक्ति रह रहा है, उसका एक तो यह रूप है, जो यह खुला आकाश, ये चाँद-तारे, ये चमकता हुआ सूर्य, यह विविध फल-फूलों से लदी हुई पृथ्वी, दूध से भरे हुए स्तनों वाली ये चरती हुई गायें, यह उमड़ता हुआ सागर, ये उड़ते हुए पक्षी, ये नृत्य करती हुई तितलियाँ, ये वृक्षों की एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूद-फाँद मचाती हुई गिलहरियाँ, ये झूमते हुए हाथी, ये कूदते हुए हिरण, ये दौड़ते हुए कुत्ते, ये खेलते हुये छोटे-छोटे बालक, ये पवित्रता की प्रतीकभूत कन्यायें, ये वनविहार का आनन्द लेते हुए युवा, ये कराहते हुए रोग-शोक और बुढ़ापे से व्याकुल वृद्ध, ये विषय सुख में डूबे हुए नव-दम्पति, शक्ति व पद प्राप्ति की दौड़ में लगे हुए ये नेता, विविध धन सम्पदा को प्राप्त करने में जुटे हुए ये व्यापारी व उद्योगपति, ऊर्जा से भरे हुए ये खिलाड़ी, अपनी बौद्धिक क्षमताओं के विकास व प्रदर्शन में लगे हुए ये विद्यार्थी, एक शब्द में कहें तो अपनी विविध कामनाओं व एषणाओं की पूर्ति में लगा हुआ यह समस्त मानव समाज।

जगत् का जो यह ऊपर वर्णित रूप है, यह दृश्य के साथ, प्रत्यक्ष के

साधना पथ

साथ प्रीति रखने वाला है, क्योंकि मनुष्य के पास जो इस जगत् को देखने व इसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाली साधनभूत इन्द्रियाँ हैं, वे दिखने वाली चीजों को ही देख सकती हैं, कारण! विधाता ने इनको बाहर देखने वाला ही बनाया है। आखिर जिसका जितना सामर्थ्य है उतना ही तो काम वह कर सकता है, सो इन इन्द्रियों का सामर्थ्य इतना ही है कि इस दिखाई देने वाले जगत् के विविध बाह्य रूपों को देखें, उनसे सम्बन्धित हों तथा उस सम्बन्ध से जो कुछ भी प्राप्त हो— सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, हर्ष या शोक— उसका भोग करें या कराएं। इसी कारण तो इन्द्रियाँ एकान्त-सुख (नित्य-सुख) का साधन नहीं बन सकतीं। चूँकि इन्द्रियों और विषयों का सम्बन्ध कभी भी नित्य नहीं हो सकता, अतः जितनी देर सम्बन्ध रहता है, उतनी देर तक वह सुख मिल जाता है। साथ में एक और विपरीत घटना घट जाती है— इन्द्रियों की भोग भोगने की शक्ति तो भोगों से क्षीण होती चली जाती है और लालसा बढ़ती जाती है। इच्छा की अपूर्ति चाहे वस्तु की अप्राप्ति से हो, चाहे सामर्थ्य की कमी से, कष्ट तो बराबर ही होता है। पर यह समझ उत्पन्न होना या उत्पन्न करना, इन्द्रियों के विषय क्षेत्र से बाहर की बात है। इन्द्रियों की पहुँच तो यहीं तक है कि वे प्रत्यक्ष को देखें, सामने जो है उससे जुड़ जाएँ, और उससे जितना रस लिया जा सकता है, रस लें, इसका परिणाम क्या होगा— इसका विचार करने वाली शक्ति हमारे अस्तित्व में दूसरी है जिसको धीः (बुद्धिशक्ति) या विवेक (Emotional Intelligence) नाम से पुकारते हैं, कोई उसे अतिमन (super mind) भी कह देता है। पर यह तो उन्हीं को प्राप्त होता है या यों कहें हमारे अस्तित्व का यह भाग तो उन्हीं के समक्ष प्रकट होता है जिनकी इस बाहर दिखाई देने वाले जगत् के विविध रूपों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान पद, शक्ति इत्यादि) व सांयोगिक सुखों में प्रीति घटने लग जाए। बल्कि उन्हें इन सुखों के साथ ही उनके पीछे सटकर बैठे हुए अनन्त दुःख भी नजर आने लग जाएँ।

सो उस पहले वाले प्रत्यक्ष जगत् से दूसरा (भिन्न) यह परोक्ष जगत् है, जो इन इन्द्रियों के द्वारा कभी भी देखा या समझा नहीं जा सकता। किन्हीं धीर

दीर्घजिह्वी वै देवानां हविरलेट्

पुरुषों में ही यह अभीप्सा जागरित होती है, जो अपने आँखादि इन्द्रियों को बाहर से बन्द कर अन्दर की तरफ मुड़ जाते हैं। इस अदृश्य जगत् को या परोक्ष जगत् को ज्ञानी पुरुष 'आत्मा का लोक' भी कहते हैं। यही ज्ञानियों का शरण स्थान है। यहीं रहते हुए उन्हें परम तृप्ति मिलती है। इसी सत्य को साक्षात् करके महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में अपना अनुभव इन शब्दों में प्रकट किया—
परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

* * *

- मनुष्य की चेतना के अभी तक हुए विकास को सामने रखकर मनुष्य का अध्ययन किया जाए तो यह पायेंगे कि मनुष्य सृष्टि में सत्य-धर्म-न्याय-शुभ-शान्ति-मङ्गल-सौन्दर्य-प्रेम का भरपूर विस्तार तो देखना चाहता है, पर अपने नाम से। 'वह संसार में अच्छाई का फैलाव चाहता है', यह बात शतप्रतिशत सत्य है, किन्तु उसके साथ वह यह भी चाहता है कि यह फैलाव मेरे ही द्वारा हो। 'मेरे' की सीमा क्षेत्र में वह स्वयं तो होता ही है, पर कहीं उसके मित्र भी होते हैं, कहीं उसकी संस्था, कहीं उसका गाँव, कहीं उसका जिला, कहीं उसका प्रान्त, कहीं उसका देश, कहीं उसके मित्र देश, ये सब इस मेरेपन की सीमा में समाहित रहते हैं। जिस किसी को भी मनुष्य ने 'अपना' मान लिया है केवल उसी को अच्छाई के फैलाव का श्रेय देने के लिये वह अभी तक राजी हो पाया है, वही कार्य कदाचित् यदि उसके प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा किया जाता है तो उससे उसको प्रसन्नता होना तो बहुत दूर, अन्दर ही अन्दर खिन्नता अनुभव होती रहती है। मानव चेतना के इस ऊर्ध्वारोहण में अगला कदम इस रूप में ही उठना चाहिए कि उससे संसार में सत्य-धर्म-न्याय-अच्छाई-शुभ व अमङ्गल प्रतिष्ठापित हो, फिर वह बेशक किसी के नाम से भी हो। मानव में शान्ति की प्रतिष्ठापना के लिए यह बहुत आवश्यक है, अन्यथा जो कुछ भी किया जायेगा अशान्ति पीछा नहीं छोड़ेगी।

- 'भक्ति' ज्ञान को जन्म देती है, उत्पन्न हुआ ज्ञान फिर भक्ति को आगे-आगे पुष्ट करता रहता है, दोनों ही एक दूसरे के लिए रेसिप्रोकल हैं, पूरक हैं।

४०४०७७७

१०१

२५. एषणा एवम् एषणा-मुक्ति

ज्ञान होने से पहले मनुष्य के अहम् की एक तीव्र मांग होती है कि लोग मुझे अच्छा समझें, मेरी प्रशंसा हो, लोगों के बीच मेरी अधिक से अधिक पहचान (Recognition) हो, संसार में किसी भी वस्तु या व्यक्ति की तुलना में मनुष्य की अपने नाम के साथ जो घनिष्ठता होती है, वह सब से गहरी व दृढ़ होती है। सोते हुए व्यक्ति के पास दूसरी कुछ बातें चलती रहें उसे कुछ पता नहीं चलता, पर जैसे ही उसका नाम उच्चारण किया जाता है तुरन्त जग जाता है। अखबार या विज्ञापन पत्र में अपने नाम को देखकर व्यक्ति को अपने अन्दर ही अन्दर एक अपार सुख की अनुभूति होती है। किसी सभा या संस्था का प्रधान बना दिए जाने पर व्यक्ति अपने आप को कितना गौरवशाली अनुभव करता है, यह तो अनुभव करके ही जाना जा सकता है। सुयोग्य पुत्रों, शिष्यों व मित्रों को पाकर व्यक्ति को बहुत अच्छा लगता है। अपनी अप्राप्त महत्वाकांक्षाओं व अपूरित कामनाओं को जब अपने पुत्र व शिष्यों के द्वारा पूर्ण किये जाते हुए देखता है तो अपने ही आत्म विस्तार को अनुभव करता है। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनने की चाह भी, अन्ततः नाम विस्तार की ही चाह है। शक्ति या ऊंचा पद तो स्पष्ट ही दूसरों से बड़ा बनकर रहने की चाह के मूर्तरूप हैं। शास्त्रकार समस्त लौकिक एषणाओं को तीन विभागों में बांट कर अपने शब्दों में इसी उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि जहाँ लोकैषणा है वहाँ पुत्रैषणा व वित्तैषणा भी होती ही हैं।

इस लोकैषणा (प्रतिष्ठा की चाह) का ही एक दूसरा रूप भी है जिसको बहुत कम लोग ही पकड़ पाते हैं, वह है अपने अन्दर किसी भी प्रकार की हीनता का अनुभव। व्यक्ति का मन जब पूर्ण सचेतन नहीं होता है तो प्रायः ऐसा सोच लेता है कि मुझमें तो कोई प्रतिष्ठा पाने की इच्छा नहीं है, मेरा तो इस तरफ कभी ध्यान ही नहीं जाता, न तो मैं लोगों पर शासन ही करना चाहता हूँ, न अन्य किसी प्रकार से लोगों का ध्यान अपनी तरफ आकृष्ट कर रहा हूँ,

एषणा एवम् एषणा-मुक्ति

और न ही मैं किसी और ऐसी कोशिश में हूँ, जिससे सब के बीच में मेरी अलग पहचान बने, न तो धन की, न पुत्रों की कोई इच्छा है। सब तरफ से सन्तुष्ट व तृप्त हूँ। इस प्रकार की शब्दावली में विचार करता हुआ व्यक्ति भी यदि उस समय दुःखी हो जाता है, जब उसकी कोई निन्दा कर रहा हो, या उस पर किसी प्रकार का कोई दोषारोपण किया जा रहा हो, या फिर दूसरों के द्वारा हीनता की दृष्टि से देखे जाने पर वह स्वयं भी अपने को हीन अनुभव करने लग रहा हो, तो भी ये ऐसे चिह्न हैं जिनसे सहज में ही अन्तःस्थित लोकैषणा प्रकट हो जाती है। किसी के द्वारा पतित समझे जाने से व्यक्ति के अपने अस्तित्व को धक्का लगता है, वह समझने लगता है कि अब तो मेरा कोई आधार ही नहीं रहा। इसी कारण किसी का कोई हितैषी व्यक्ति भी यदि सब के बीच समूह में किसी को कुछ कह दे तो उसे असह्य हो जाता है, और उसको अपना द्वेषी मानने लग जाता है। ऐसे प्रसङ्गों में, यदि लोकैषणा नहीं है, तो क्रोधित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कोई प्रशंसा करे या निन्दा करे—व्यक्ति अपनी समता में ही बना रहेगा। अहंता या हीनता लोकैषणा के ही दो विभिन्न छोर हैं या किसी सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं, जिनमें से एक के प्रति व्यक्ति का राग होता है और दूसरे के प्रति द्वेष। मान-सम्मान पाने की इच्छा लोकैषणा है तो अपमान को न चाहना या अपमानित होने पर दुःखी होना भी लोकैषणा ही है। अपमान से व्यक्ति बचता है, भयभीत है, तो इसका यही अर्थ है कि वह सम्मान का भूखा है।

लोकैषणा से प्रभावित हुआ व्यक्ति कभी भी पूर्ण सत्याचरण नहीं कर सकता क्योंकि 'जो है', उसको न तो वह स्वीकार कर सकता है न प्रकट। 'जो है' उसको छिपाना भी असत्य है और बढ़ाकर दिखाना भी क्योंकि 'जो है' यही सत्य है। 'जो है' उसमें जीना ही समता में जीना है। दिखावे का अर्थ ही यह है— 'जो है' उससे बाहर निकलना। 'जो है' वह न घटाने से घटता है, न किसी के बढ़ाने से बढ़ता है। 'जो है' का आधार व्यक्ति स्वयं है यह किसी के आश्रय से नहीं है। इसलिये 'जो है' में जो जी रहे हैं, न तो उनको किसी से भय है और

साधना पथ

न किसी से पुरस्कार या प्रशंसा की लालसा। 'जो है' वह न तो अहंता है और न ही हीनता। 'जो है' उससे मिलने वाले अनिर्वचनीय आनन्द को जिन्होंने ले लिया, वे क्यों परमुखापेक्षी, दूसरों के हाथ की कठपुतली बनकर पराधीन जीवन जीना चाहेंगे? दूसरों के द्वारा दी गयी प्रतिष्ठा को महत्त्व देने वाला व्यक्ति स्वतन्त्रता का अर्थ कभी भी समझ ही नहीं सकता। **'सर्व परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्'** कहकर ऋषियों ने एक सूत्र हमारे हाथ में दे दिया पर इसकी व्याख्या प्रत्येक को अपने जीवन के धरातल पर करनी होगी। कहाँ-कहाँ पराधीन हो जाता हूँ, यह हर क्षण सावधान रहते हुए अपने आप का निरीक्षण करना होगा। साँप के काटने पर जैसे नीम कटु होते हुए भी मीठा लगने लगता है, या फिर जैसे शराब या भांग के नशे में चूर व्यक्ति अपने आपको एक बहुत बड़ा शहंशाह समझने लगता है, उसी प्रकार संसार के विषयों से बेहोश हुआ मन कैसे स्वतन्त्रता या परतन्त्रता के अर्थ को समझ सकता है? किसी भी उपाय से यदि मन की यह मूर्च्छा हर ली जाए तो उसके पश्चात् ही यह आशा की जा सकती है कि अब इस मन को आवश्यक या अनावश्यक, सत्य या मिथ्या, सुख देने वाली या दुःख देने वाली चीजों का पूर्ण विवेक हो गया है।

* * *

- भक्ति भाव में यद्यपि कर्म का कर्ता तो आत्मा ही होता है किन्तु वह समर्पित होकर भगवान् के लिए कर्म करता है। इस अवस्था में मन अकाम हो जाता है। मन के अकाम होते ही चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, वृत्तियों का शान्त होना ही समाधि है। समाधि में स्वतः ही ज्ञान का अवतरण प्रारम्भ हो जाता है।
- 'कर्म' भक्ति से युक्त होकर भी किये जा सकते हैं और ज्ञान से युक्त होकर भी। भक्ति से युक्त होकर शरीर, मन, बुद्धि व अन्तरात्मा से किये गये कर्म यज्ञाग्नि में आहुति स्वरूप होते हैं जबकि ज्ञानी के कर्म कूटस्थ साक्षी भाव में आचरित होते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में कर्म का बन्धन नहीं होता, कर्म का लेप नहीं होता।

२६. स्वस्ति पन्थामनुचरेम

कोई व्यक्ति फूलों के बाग के पास से गुजरता है तो न चाहते हुए भी उसे सुगन्ध मिल जाती है, दूसरे व्यक्ति को गन्दगी के ढेर जहाँ मल ही मल पड़ा हो— उसके पास से निकलना पड़ जाए तो वह चाहे या न चाहे, उसे दुर्गन्ध लेनी ही पड़ेगी। यह बात अलग है कि किसी व्यक्ति की नासिका रुकी हुई है या खराब है, उसे दोनों स्थितियों में (फूलों में या गन्दगी में) सुगन्ध या दुर्गन्ध कुछ भी महसूस न हो। नासिका जिसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं जितनी अधिक स्वस्थ व संवेदनशील होती है उतना ही व्यक्ति को सुगन्ध-दुर्गन्ध का अनुभव अधिक होता है। यही बात सत्संग या कुसंग पर भी लागू होती है। मन सत्संग से लाभ लेना चाहे या न चाहे, कुछ तो लाभ अवश्य ही मिलेगा, इसी प्रकार कुसंग में पहुँचकर उसके सम्पर्क से व्यक्ति कितना भी अपने आपको बचाकर रखने का प्रयत्न करे, उसके प्रभाव से बच नहीं सकता। यह सत्संग और कुसंग उस समय तो बहुत ही अधिक प्रभावी हो जाता है जब व्यक्ति का मन स्वयं उसके लिए ग्रहण शील हो। जैसे बाहर की सर्दी-गर्मी (वायु-मण्डल) के तापमान से व्यक्ति का शरीर प्रभावित होता है, वैसे ही मनुष्य का मन भी जिस प्रकार के व्यक्तियों के बीच रहता है उनके गुण-दोषों को ग्रहण करता रहता है। वातावरण अथवा माहौल व्यक्ति के निर्माण या पतन में एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

क्रोधी व्यक्तियों के साथ रहने वाले व्यक्ति को न चाहते हुए भी क्रोध करना पड़ता है। अहंकारी व्यक्तियों के सम्पर्क से अहंकार बढ़ता है। विषयी व्यक्तियों का साथ विषयों की चाह बढ़ा देता है। साधकों के सान्निध्य से भौतिक साधनों के प्रति आकर्षण कम होकर साधना में रुचि बढ़ने लगती है। शान्त व्यक्तियों के बीच रहने से अशान्त व्यक्ति भी शान्त होने लगता है। नेताओं का संग व्यक्ति को नेता बनने के लिए प्रेरित करता है तो पहलवानों का संग पहलवान। ज्ञानवान् लोगों के मध्य रहने से स्वभावतः ही ज्ञान की

साधना पथ

भूख बढ़ने लगती है। आलसियों का सम्पर्क आलस्य और कर्मशील व पुरुषार्थी लोगों का साथ कर्मशीलता व पुरुषार्थ के भावों को निरन्तर बढ़ाता रहता है। श्रद्धालु दूसरों की श्रद्धा को और अश्रद्धालु अश्रद्धा को बढ़ा देते हैं। जहाँ गुणवान् व्यक्ति विपरीत व्यक्तियों के संग से गुणहीन हो जाता है वहाँ गुणहीन व्यक्ति भी अनुकूल संग पाकर गुणवान् होता जाता है।

जैसे अच्छे-बुरे व्यक्तियों के संग से व्यक्ति अच्छा-बुरा बनता है, उसी प्रकार व्यक्ति के अपने अन्दर ही चलते रहने वाले विचार भी सत्संग व कुसंग की भूमिका अदा करते रहते हैं। विषय-सुख का विचार कुसंग है तो संयम, सादगी, सरलता, निष्काम कर्म (सेवा), भक्ति, ज्ञान, धर्म, योग, यज्ञ, उत्साह, विनम्रता, वीरता, प्रेम, करुणादि का विचार सत्संग कहलाता है। जहाँ अश्लील विचार कुसंग के अन्तर्गत आते हैं वहाँ पवित्र विचार सत्संग के अन्तर्गत। कुसंग से अपने मन को हटाकर सत्संग में ही सदा लगाए रहने के लिए किए गए प्रयत्न का नाम 'अभ्यास' है और उसी में स्थिर बने रहने का नाम 'वैराग्य' है। करने का नाम 'अभ्यास' और हो जाने का नाम 'वैराग्य' है। जहाँ भी प्रयत्न है वहाँ अभ्यास है और जहाँ प्रयत्न का अन्त हो जाता है वह वैराग्य है। पूर्ण शान्त, विषयों के प्रति सोये हुए व परम उदासीन भाव को प्राप्त हुए मन को वैराग्यवान् कहा जाता है। विषयों में सतत दोष दर्शन व दुःख दर्शन के द्वारा जब मनुष्य उधर से अपना मुँह फेर लेता है तो शास्त्रीय भाषा में इसे ही 'वैराग्य' कह देते हैं।

विषयों के साथ जुड़ने से मन व इन्द्रियों को एक क्षण के लिए बहुत बड़ा सुख मिलता है, अतः पुनः-पुनः उस सुख को लेने की इच्छा से प्रेरित हुआ मन उन-उन इन्द्रिय विषयों के साथ बार-बार जुड़ना चाहता है। जब-जब मन व इन्द्रियों को विषयों में सुख दिखाई दे, उसी समय उस सुख के पीछे बैठे हुए अनन्त दुःख व अज्ञान को मन के सामने रख देने का नाम ही 'अभ्यास' है। यह प्रयत्न कब तक करते रहना चाहिए, इसमें कोई काल का नियम नहीं है। बस! इतना ही है जब भी मन को विषयों में सुख दिखाई दे तब-तब उसके

स्वस्ति पन्थामनुचरेम

समक्ष दुःखदायी रूप को उपस्थित करते रहना। मन के आत्मा में ही लीन रहने का नाम 'वैराग्य' है तो आत्मा में लीन करने के लिए बाहर विषयों की तरफ दौड़ते हुए मन को आत्मा द्वारा बुद्धि की शक्ति से पकड़कर वापस ले आने का नाम 'अभ्यास' है। जैसे कि छोटे बच्चे अपने घर में खेलते रहते हैं, पर कभी-कभी किसी बाहरी शब्द या रूपादि से प्रभावित होकर उसे देखने या सुनने के लिए बाहर दौड़ पड़ते हैं, उस समय माँ उन्हें तत्काल वहाँ से पकड़कर वापस ले आती है तथा समझाती भी है कि हमसे पूछे बिना चुपचाप बाहर चले जाओगे तो कोई दुर्घटना हो सकती है, कहीं चोट लग सकती है इत्यादि। मन भी उस बच्चे की तरह जब अपने हृदयरूपी घर में ही खेलता रहता है तो आत्मा को भी कोई दिक्कत नहीं होती।

मन का हृदय में खेलते रहने का अभिप्राय है— किसी भी दृश्य पदार्थ (वस्तु या व्यक्ति) के साथ आसक्तिपूर्वक न जुड़ना, विचार के स्तर पर भी उन-उन वस्तु या व्यक्तियों से सुख न लेना। पर बाह्य शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि से प्रभावित होकर या फिर किसी वस्तु, व्यक्ति, पद-प्रतिष्ठा, ऐश्वर्यादि से मोहित होकर यह अपने घर को छोड़कर अर्थात् अपनी आत्मारूपी माँ के सान्निध्य को छोड़कर बाहर दौड़ पड़ता है। आत्मारूपी माँ बुद्धि के द्वारा मन को पकड़कर वापस लाती है और समझाती है कि देखो मुझसे पूछे बिना चुपचाप कहीं नहीं जाना, अन्यथा इतना बड़ा कष्ट हो जायेगा कि फिर रोते रहोगे। कहीं भी तुम्हें जाना हो तो पहले मुझसे आज्ञा लो, कम से कम मुझे सूचित तो अवश्य ही कर दो। जो मन आत्मा के द्वारा दिए गए इन आदेशों, संदेशों व संकेतों को समझकर आज्ञाकारी बालक की तरह आचरण करता है वह स्वयं तो सुखी रहता ही है अपनी आत्मा को भी सुखी रखता है।

जब-जब भी यह मन रूपी बालक बाहर दौड़े तब-तब तत्काल इसे पकड़कर वापस ले आना और विषयों के दोष इसके समक्ष रखना इस क्रिया का नाम ही 'अभ्यास' है। यदि तत्काल ऐसा नहीं किया जाता, इस काम में थोड़ी भी देरी कर दी जाती है, तो फिर इसे वापस लाने में और

साधना पथ

समझाने में हजार गुणा अधिक शक्ति लगती है। जो लोग तुरन्त इसके पीछे दौड़ पड़ते हैं उनके समक्ष यह मन इतनी उछल-कूद नहीं करता, सरलता से कहना मान लेता है। अतः जो जीवन-साधक यह चाहते हैं कि हमारे अस्तित्व में किसी प्रकार का भी कष्ट, क्लेश या दुःख एक क्षण के लिए भी नहीं आए तो उन्हें जब-जब यह मन बाहर की तरफ भागे, उसी समय इसे पकड़ने का उपक्रम करना चाहिए, इस समय थोड़ा सा (लेश-मात्र) भी यदि प्रमाद हो गया तो फिर इसका बहुत बड़ा दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। विक्षुब्ध मन का नियन्त्रण एक अर्थ में असम्भव जैसा ही है, अतः इस सत्य को देखते हुए साधकों को इतना अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है कि विक्षुब्ध होने से पहले ही इसे समझा दिया जाए।

- ज्ञान का अर्थ है आत्मा का चिन्मय अवस्था में जीना, दूसरी तरफ ज्ञेय के साथ तदाकार होकर जीने का नाम अज्ञान है। अर्थात् ज्ञाता का लोप हो जाने का नाम अज्ञान है, ज्ञाता ही शेष रह जाये तो वह ज्ञान है।
- पदार्थ का अभाव, शुद्ध भावों (Feelings) का अभाव, ज्ञान का अभाव; अभाव का चाहे जो भी रूप हो, अभाव पीड़ादायक है। प्रभो! वर दे कि हमारे सब अभावों का अभाव हो जाये।
- अभाव किसी को भी पसन्द नहीं है किन्तु शास्त्रकार तो नेति-नेति के द्वारा सब कुछ का अभाव करने की ही सलाह देते हैं। पर वे दृश्यमान वस्तु, व्यक्ति या विचार रूप भाव का अभाव करते हुए अदृश्य भाव तक पहुँचाना चाहते हैं, जो सदा ही मौजूद है, जिसका कभी किसी उपाय से भी अभाव नहीं हो सकता।
- 'भागवत उपस्थिति का अनुभव व भागवत उपस्थिति के बारे में शास्त्र या गुरुजनों से ली गयी जानकारी' इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। जीवन की गम्भीरतम समस्याओं का हल केवल जानकारी मात्र से कभी नहीं हो सकता, यह सदा ही स्मरण रखना चाहिए।

४०४०४०४

२७. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।

जैसे मनुष्य के अन्दर भोग के संस्कार होते हैं वैसे ही कर्म करने के भी होते हैं। वह इसलिए कर्म करता है जिससे अधिक से अधिक भोग-साधन जुटाएँ जा सकें और वह अपनी भोगैषणा की पूर्ति कर सके। इसीलिए मनुष्य उन्हीं कर्मों को चुनता है जिनसे अधिकतम भोग-साधन उपलब्ध हो सकें। कर्मों का यह सकाम रूप है। कृषि, व्यापार, अध्यापन, राज-सेवायें (Services) आदि मनुष्य जो भी कुछ करता है, उस सब के पीछे एक ही उद्देश्य होता है— भोजन, वस्त्र, भूमि, भवन व यानादि साधनों की प्राप्ति। चूँकि ये सब साधन धन से प्राप्त होते हैं, अतः इन साधनों की अविच्छिन्न धारा बनाए रखने के लिए अधिक से अधिक धन इकट्ठा करना चाहता है कि जब जिस साधन को चाहूँ वह उसी समय मिल जाए। जिन पुत्र-पौत्रों व सम्बन्धी जनों से मोह होता है उनके लिए भी उन्हीं सब सुख साधनों को उपलब्ध कराना चाहता है।

मनुष्य कुछ ऐसे कर्म भी करता है जो अभी-अभी ऊपर गिनाये गए साधनों को प्राप्त करने के लिए तो नहीं होते, पर अहं की तृप्ति के लिए, मनुष्यों के बीच अपने को उन भौतिक साधनों के द्वारा कुछ विशेष प्रदर्शित करने के लिए, या फिर दूसरों पर शासन करने के लिए होते हैं, वे भी सकाम कर्म की श्रेणी में ही आते हैं। दान रूपी कर्म से व्यक्ति यदि अपने नाम को फैलाना चाहता है तो यह उसका सकाम कर्म ही कहलायेगा। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन तीनों में से किसी भी एषणा से प्रेरित होकर किए गए उत्तम से उत्तम कर्म भी सकाम कर्म ही होते हैं। सब के सब सकाम कर्म सान्त ही होते हैं, कभी भी अनन्त नहीं हो सकते अतः उनका फल भी सान्त ही होता है। कितना भी कोई धन-वैभव या सुख साधनों को एकत्रित करे उसकी कोई न कोई सीमा अवश्य होगी। इसलिए वे अनन्त सुख देने वाले कभी भी नहीं हो सकते। यह अज्ञान से मोहित हुआ समस्त संसार यद्यपि दुःखों से बचने व सुखों को प्राप्त करने के लिए ही कर्म में जुटा हुआ है, पर सकाम कर्म कभी भी दुःखों के

साधना पथ

आत्यन्तिक नाश का साधन नहीं हो सकते, क्योंकि इन सकाम कर्मों के माध्यम से दृश्य के साथ रागात्मक सम्बन्ध घनीभूत व दृढ़ होता जाता है। उस-उस कामना की पूर्ति में सुख और अपूर्ति में दुःख का चक्र चलता रहता है।

जिस-जिस वस्तु, व्यक्ति, भूमि, भवन, रुपये-पैसे आदि साधनों को बड़े परिश्रम से प्राप्त किया, उन सबको यह सकामकर्मा अपने पास ही देखना चाहता है। व्यक्ति या पदार्थ के साथ सम्बन्ध की घनिष्ठता के कारण 'मैं' और 'मेरे' का भाव पैदा हो जाता है और इसके फलस्वरूप दूसरों के सुखों का ध्यान कम व अपने सुखों के प्रति जागरूकता बढ़ती जाती है। यह सुखों की चाह ही तो है जिसके भीतर दुःखों के अनेकानेक बीज पड़े हुए होते हैं। 'वस्तु-उपलब्धि' को लक्ष्य करके किये गए कर्म के द्वारा वह वस्तु अवश्य प्राप्त हो जाएगी— यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किसी कारणवश प्राप्ति नहीं होती या कम होती है तो ऐसी स्थिति में कष्ट होता ही है, पर यदि मनचाही प्राप्ति भी होती रहे तो भी उस-उस वस्तु के साथ उत्पन्न हुए सम्बन्ध विशेष से बन्धन की एक लम्बी शृंखला चालू हो जाती है।

जड़ के साथ ज्यों-ज्यों सम्बन्ध गहरा होता जाता है त्यों-त्यों चेतन तत्त्व से व्यक्ति विमुख होता जाता है या यों कहें चेतन उससे छिपा हुआ ही रहता है। किन्हीं विशिष्ट स्त्री, पुत्र, परिवार व सम्बन्धी जनों के साथ जो सकाम सम्बन्ध होते हैं वे भी जड़ के साथ ही सम्बन्धों का एक दूसरा रूप हैं। यों तो कहने के लिए ये सब स्त्री-पुत्रादि चेतन प्राणी हैं पर व्यक्ति तो इन सब के शरीरों के साथ जुड़ा हुआ होता है, इसीलिए तो इनके वियोग में इतना भारी कष्ट अनुभव करता है। इस प्रकार समस्त सकाम कर्म जड़ के प्रति आसक्ति को दृढ़मूल करते जाते हैं। यही चित्त का दोषयुक्त होना है जो कि वह जड़ में लिप्त हो जाता है। ज्यों-ज्यों चित्त का सम्बन्ध चेतन तत्त्व के साथ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों जड़ के प्रति राग कम होता जाता है। जड़ के प्रति राग की पूर्ण समाप्ति ही शुद्ध चित्त का लक्षण है। यह तभी सम्भव है जब कर्म का लक्ष्य वस्तु या व्यक्ति की उपलब्धि न होकर एकमात्र चित्त-शुद्धि हो। क्योंकि यह तो सर्वथा

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।

असम्भव है कि व्यक्ति कर्ममात्र से उपरत हो जाए। कर्म तो उसे करना ही होगा, चाहे या न चाहे— कर्म को वह नहीं छोड़ सकेगा। हाँ! दिशा निर्धारण उसके हाथ में है— सकाम या निष्काम। सकाम कर्म भी विधि और निषेध भेद से दो प्रकार के हैं— शास्त्र या सत्पुरुषों के द्वारा समर्थित या असमर्थित। निषिद्ध कर्म तो इस समय हमारे विचार के विषय ही नहीं हैं। विहित कर्म भी सकाम भाव से किये जाएँ तो चित्त को अशुद्ध ही करते जाते हैं। हमारी खोज ने हमको यहाँ तक पहुँचा दिया है।

अब यह बात उभर कर सामने आती है कि जब कोई कामना ही नहीं रही या नहीं है तो किसलिए कर्म किया जाए? इस बात का उत्तर अभी-अभी ऊपर हमें प्राप्त हो चुका है कि चित्त को शुद्ध रखने के लिए या शुद्ध करने के लिए ही कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। व्यक्ति जिस जगत् के बीच रहता है वह अकेली इकाई के रूप में नहीं रहता, अब तक उसने समष्टि से सेवायें लेकर ही यह ज्ञान की स्थिति प्राप्त की है। माता-पिता, गुरु-आचार्यों ने उसे भौतिक और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध बनाया। समस्त समाज ने समय-समय पर उसके लिए अपनी हवियाँ दीं, और अब भी शरीर धारण के लिए इस विशाल जड़-चेतन जगत् से सहयोग लेता है या ले रहा है, सो अब जो भी दुःखी जीव उससे सहयोग लेना चाहें तो कैसे वह अपनी आँखें बन्द रख सकता है? यह तो ठीक है कि ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने सुख के लिये किसी से भी कोई अपेक्षा नहीं रखता पर बेशक सहज भाव से ही सही— सेवा के सम्बन्ध को इस दृश्य जगत् से नहीं तोड़ सकता। सब सुखी हों (सर्वे भवन्तु सुखिनः) यह मानसिक कर्म या भाव तो उसका सदा बना ही रहता है। कोई दुःखी व्यक्ति किसी ज्ञानी पुरुष के पास अपना दुःख निवारण करने के लिये पहुँचे और वह उपेक्षा का व्यवहार करे— यह असम्भव है। उपेक्षा तो स्वार्थ का मूर्तरूप है, स्वार्थी व्यक्ति को दूसरों से क्या लेना-देना? उसका अपना स्वार्थ पूरा होना चाहिए। स्वार्थी व्यक्ति का हृदय अत्यन्त कठोर होता है। इसके विपरीत ज्ञानी का हृदय बेशक अपने लिए वज्र से भी कठोर हो, पर दूसरों के लिए तो फूलों से भी कोमल

साधना पथ

होता है। वह सदा अपने ही जैसी आत्मा दूसरों में भी देखता रहता है। इस प्रकार कभी भी उसमें एक क्षण के लिये भी किसी के प्रति उपेक्षाभाव नहीं आता। इसलिए कर्म तो उसे अवश्य करना है पर उसका उद्देश्य लौकिक पुरुष से सर्वथा भिन्न होता है।

या तो यह समझा जा सकता है कि दृश्य के साथ जुड़कर इस कर्म (सेवा) की प्रक्रिया से व्यक्ति के अपने चित्त का अध्ययन होता रहता है कि उसके राग, द्वेष किस स्तर पर हैं? जड़ के प्रति आकर्षण कितना शेष है? कर्म के प्रवाह में रहते हुए व्यक्ति को अपनी 'समता' और 'असमता' का बोध होता रहता है। या फिर यह समझा जा सकता है कि कर्म ज्ञानी पुरुष के अन्तरात्मा की माँग है, उसके प्रेम का विस्तार ही उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करता रहता है, न कि जड़ तत्त्व की उपलब्धि का आकर्षण। ऐसे कर्म चित्त को बांधने वाले नहीं होते। जैसे छोटे-छोटे बच्चे मिट्टी में बैठे हुए खेलते रहते हैं— मिट्टी का एक सुन्दर सा घर बनाते हैं और कुछ देर बाद उसे छोड़कर या तोड़कर चल देते हैं, कभी उनके मन में यह नहीं आता कि हमने देर तक मेहनत करके जो घर बनाया उसे छोड़कर जा रहे हैं, क्योंकि उन्होंने कर्म का आनन्द कर्म करते हुए ही ले लिया, पीछे के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। यही वास्तविक सृजन है।

जब किसी उपलब्धि के लिए कोई कर्म किया जाता है तो सफलता-असफलता, लाभ-हानि आकर उसके साथ जुड़ जाते हैं और कर्म के सारे रस को ही समाप्त कर देते हैं। सकाम भाव से किया गया कर्म उसके कर्त्ता पर एक आसक्ति पूर्ण प्रभाव छोड़ देता है, कर्त्ता उस प्रभाव से बंधा हुआ उस-उस कर्म को करता है, मुक्त होकर नहीं कर सकता। निष्काम कर्म तो वही है जहाँ कर्म तो हो रहा है पर अहंभावापन्न कर्त्ता लुप्त है। निष्काम कर्म ही शुद्ध कर्म है। शुद्ध कर्म ही व्यक्ति को बन्धन से छुड़ाने वाले होते हैं अर्थात् ये शुद्ध कर्म ही शुद्ध ज्ञान और शुद्ध उपासना (भक्ति) को जन्म देकर व्यक्ति को पूर्णशुद्ध कर देने वाले होते हैं। 'जड़ और चेतन का अलग-अलग दिखाई देते रहना' यही तो शुद्ध ज्ञान का स्वरूप है। और केवल मात्र चेतन के साथ सम्बन्ध होना या

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।

चिन्मय होकर रहना ही शुद्ध उपासना है। दूसरी तरफ जड़ और चेतन का मिश्रित बोध ही अज्ञान है या फिर जड़ को ही चेतन समझ लेना और चेतन से सर्वथा अपरिचित बने रहना भी अज्ञान (अशुद्ध ज्ञान) का ही एक रूप है। जड़ को चेतन समझकर उसके साथ हर वक्त सोते जागते सम्बन्धित बने रहने का नाम अशुद्ध उपासना है, अर्थात् जड़ को ही सम्पूर्ण महत्त्व देकर मन से उसके साथ जुड़ जाना। निष्काम कर्म जड़ के साथ बनी हुई गहरी आसक्ति को ढीला कर देता है जिसके परिणामस्वरूप समस्त नाम-रूप से व्यक्ति का चित्त हटने लगता है। दृश्य के साथ बड़ी हुई यह आसक्ति ही तो है जिसने व्यक्ति को ऐसा कसकर बाँध रखा है कि एक इंच भी आगे नहीं सरकने देती, इसी के कारण तो व्यक्ति का मन किसी चेतन तत्व की खोज के लिए उत्सुक नहीं हो पाता। सो निष्काम कर्म एक मात्र जड़ के साथ बंधे हुए मन को खोलने में अत्यन्त सहयोग करता है।

यह तो स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति को जड़ के साथ रहने से या जड़ के द्वारा किसी भी प्रकार का सुख मिल रहा है तो वह क्यों उन चीजों की खोज करना चाहेगा जो उस सम्बन्ध को समाप्त करने वाली हों। इस खोज की आवश्यकता तो केवल उन्हीं लोगों को होती है जिनको इस जड़ जगत् से सुख मिलना तो बहुत दूर की बात है उल्टा इसमें अनेकानेक दुःख व क्लेश छिपे हुए नजर आ रहे होते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि चाहे निष्काम कर्म हो या शुद्ध ज्ञान हो या शुद्ध उपासना हो, इनमें से कोई भी जड़ के साथ व्यावहारिक सम्बन्धों को समाप्त करने-कराने में निमित्त नहीं बनते, बल्कि निष्कामकर्मा ज्ञानी या उपासक का जड़ के साथ व्यवहार उन लोगों से कहीं बेहतर होता है जो जड़ के साथ पूर्णतः आबद्ध हैं व जड़ को ही सब कुछ मानकर अपने जीवन की गाड़ी चला रहे हैं। केवलमात्र अन्तर जो आता है वह है भाव का।

एक सांसारिक व्यक्ति जो अज्ञान में ही रचा पचा रहता है उसके सामने कोई भी आवश्यकता या कामना होती है और उसको पूरा करने के लिए शारीरिक, वाचिक या बौद्धिक कोई न कोई प्रयत्न करता है। प्रयत्न के सफल होने पर हर्ष तथा असफल होने पर दुःख— यही होता है उसका जीवन। ज्ञानी के

साधना पथ

कर्म का प्रेरक हेतु उसकी अपनी अन्तरात्मा की प्रसन्नता होती है। अज्ञानी के समक्ष चूंकि जड़ ही सुखोपलब्धि का सारतत्त्व होता है और इन्द्रियाँ तो जड़ को ही देख पाती हैं या देख सकती हैं अतः इन्द्रियों से प्रेरित हुआ ही समस्त कर्म करता है। उधर ज्ञानी इन चीजों को अन्तिम नहीं मानता, उसकी दृष्टि इस आवरण का भेदन कर मूलतत्त्व पर पहुँच जाती है, इस कारण वही मूल चेतन तत्त्व उसका आधार या शरण स्थान हो जाता है। बाह्य उपलब्धि या अनुपलब्धि से अछूता रहता हुआ वह अपनी अन्तरात्मा में कर्मों की आहुति देता रहता है। यही होता है उसका ध्येय— जिसको पूरा करने में शान्तमना होकर जुटा रहता है। कर्म के इस विशुद्ध रूप को जान कर जो इसके लिए अपने आपको समर्पित कर देते हैं उनके अस्तित्व में से सब प्रकार के कष्ट, क्लेश, बाधाएँ, निराशाएँ समाप्त हो जाती हैं।

* * *

- जो मनुष्य अपने अन्दर से खोखला होता है, जिसने अपने अन्तर्निहित भागवत-पूर्णता को साधना रूप पुरुषार्थ से जगाया नहीं, वह अपनी रिक्तता को भरने के लिए बहुत सारा झूठा दिखावा, व्यर्थ क्रियाएँ, व्यर्थ चेष्टाएँ, व्यर्थ वार्तालाप करता रहता है। ऐसे में कभी वह बड़ा मकान बनाता है, कभी बड़ी गाड़ी खरीदता है, अपने शरीर पर स्वर्ण आभूषण धारण करता है, मीडिया के माध्यम से प्रसिद्धि पाना चाहता है, अखबार में अपना विज्ञापन देता है, अपने बारे में व्यर्थ की डींगें मारता है, मन्दिर-मस्जिद-चर्च-गुरुद्वारा जाता है, सुरापान-जुआ-पिकनिक इत्यादि तुच्छ मनोरञ्जन में अपना अमूल्य समय गँवाता है, दूसरे से सम्मान की भिक्षा माँगता है ऐसे अनेक क्रिया कलाप रिक्त जीवन के संकेत के रूप में प्रकट होते रहते हैं। जो अपने अन्दर से भरा-पूरा होता है उसे यह सब कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। तृप्त व्यक्ति बाह्य दिखावा, बाह्य सम्मान आदि से सर्वथा निरपेक्ष रहता है। न व्यर्थ की बातें करता है और न ही व्यर्थ की चेष्टा। किन्तु यह तृप्त अवस्था तभी प्राप्त होती है जब व्यक्ति को अपने अन्दर भागवत उपस्थित (Divinity) का अनुभव हो गया हो या हो रहा हो।

२८. दो दृष्टियाँ— लौकिक व आध्यात्मिक

जीवन को देखने की दो दृष्टियाँ हैं— लौकिक व आध्यात्मिक। इन्हीं को उपनिषद् के ऋषि ने प्रेय या श्रेय नाम से पुकारा है। ज्ञानियों का पथ आध्यात्मिक या श्रेय होता है जबकि अज्ञानी लौकिक अथवा प्रेय पथ पर चलने वाले होते हैं। आध्यात्मिक जीवन के मूल्य लौकिक जीवन से एकदम अलग ही होते हैं। अब हम इसी की छानबीन करते हैं कि इन दोनों दृष्टियों में कहाँ-कहाँ भेद और अभेद है?

व्यवस्था, सौन्दर्य, शुभ को तो दोनों ही मार्गों पर चलने वाले चाहते हैं पर एक सदा सर्वदा अन्दर की तरफ देखते हैं, दूसरे बाहर की तरफ, अर्थात् श्रेय पथ के पथिक आन्तरिक सौन्दर्य-व्यवस्था व शुभ पर बल देते हैं दूसरे बाह्य व्यवस्था पर। एक व्यक्ति के सुधार को ही मूल बताते हैं दूसरे समाज के सुधार को। लौकिक पक्ष वाले सदा समाज के बारे में ही सोचते रहते हैं कि समाज में ऐसी कोई भी बुराई या कुरीति नहीं होनी चाहिए जिससे व्यक्ति को उसका दुष्फल भोगना पड़े या कष्ट उठाना पड़े। चूंकि आध्यात्मिक लोग व्यक्ति के आन्तरिक विकास पर सम्पूर्ण बल देते हैं अतः उनका कहना है कि व्यक्ति को ऐसा जीवन-दर्शन और ऐसी स्थिति को प्राप्त करने में अपनी समग्र शक्ति लगानी चाहिए जिससे जीवन में दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाए। किसी भी देश, काल, परिस्थिति या घटना से मनुष्य का मन प्रभावित न हो; वह सदा शान्त एकरस बना रहे; समस्त संयोग-वियोग, लाभ-हानि, मान-अपमान, हर्ष-शोक के प्रसंगों में अपनी समता को न खोए; अपने विचार या इच्छा का स्वयं मालिक बनकर रहे; काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष का एक क्षण के लिए भी आक्रमण न हो, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-ऐश्वर्यादि से मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो; कोई भी प्रलोभन विचलन पैदा न करे। उनका मानना है कि सामाजिक बुराइयों का अन्त भी व्यक्ति के सुधार में ही निहित है। अपने प्रति सच्चा व जागरूक व्यक्ति कैसे

साधना पथ

चोरी-जारी व रिश्वतादि समाज विरोधी कार्य कर सकता है? और कैसे वह दूसरे के धन-वैभव को लालच की दृष्टि से देख सकता है? वे देखते हैं जैसे-जैसे व्यक्ति अपने अन्दर प्रवेश करना प्रारम्भ करता है वैसे-वैसे अर्थ और काम के आकर्षण ढीले पड़ते जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अर्थ और काम के कारण पैदा होने वाली विकृतियों से व्यक्ति का सहज ही बचाव हो जाता है।

एक आध्यात्मिक व्यक्ति जड़ को सदा चेतन के साधन के रूप में देखता है, इसलिये वह कभी भी चेतन की बलि जड़ के ऊपर नहीं चढ़ाता। उसकी दृष्टि में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर व समस्त भूत भौतिक जगत् का यह विविध रूप चेतन का उपकार करने के लिए होता है, इसलिए वह कभी भी अपनी आत्मा को मन, शरीर व इन्द्रियों की माँगों को पूर्ण करने में विनियुक्त नहीं करता। इन्द्रियों पर पूर्ण वशित्व, मन की शान्ति, तनाव व किसी भी आग्रह से मुक्त सहज स्थिति ही उसके लिए सारभूत चीज होती है। इसी स्थिति को प्राप्त करने व सदा बनाए रखने के लिए उसकी सब की सब साधनाएँ होती हैं। असफलता उसके लिए और अधिक तेजी से आगे बढ़ने के लिए एक संकेत मात्र होती है। प्रतिकूल से प्रतिकूल स्थिति में भी धैर्य उसका सच्चा साथी बना रहता है। उसकी प्रतिस्पर्द्धा किसी अन्य के साथ न होकर अपने ही साथ होती है। 'कल से आज अच्छा' इसे अपने जीवन का अंग बनाकर वह अपने द्वारा अपना ही निरन्तर अतिक्रमण करता रहता है। यही है एक अध्यात्म-साधक की जीवनी।

दूसरी तरफ लौकिक व्यक्ति का सारा झुकाव एक ही बात में होता है कि वाणी और शरीर के द्वारा किया जाने वाला समस्त बाहर का व्यवहार शुद्ध व ठीक-ठाक रहे। उसकी सजगता बाह्य क्रियाकलाप के प्रति तो पूरी होती है, पर वह अपने मन के प्रति तो सोया हुआ ही होता है। अपने अन्दर मन में प्रतिक्षण चल रहे उतार-चढ़ाव से उसका कोई लेना-देना नहीं होता। सफलता में सुखी और असफलता में दुःखी तो होता रहता है, पर इस अन्वेषण में प्रवृत्त नहीं होता कि क्या इस दुःख का पूर्ण अन्त भी सम्भव है? किसी भी प्रकार के

दो दृष्टियाँ— लौकिक व आध्यात्मिक

अपमान को वह अपनी सामाजिक मौत के रूप में लेता है, अतः मान को अमृत जैसा और अपमान को विष के तुल्य समझता रहता है। उसके सभी कर्म एषणात्रय से प्रभावित होकर होते हैं, न कि स्वान्तःसुखाय। एक अर्थ में उसके लिये जीवन का समस्त सार इन्द्रिय सुख व लोक प्रतिष्ठा में निहित होता है। चूँकि वह मन के प्रति अजागरूक होता है अतः मन व उसके स्वरूप को समझने में तथा उससे भी किसी बड़ी शक्ति को पहचानने में उसका कोई प्रयास नहीं होता। मन से परे के किसी उच्च विधान को न जानने के कारण अहंभावमयी चेतना में रहता हुआ ही अपनी जीवन नौका को आगे धकेलता है। चूँकि अहं का अर्थ ही विभाजन या द्वैत है अतः अहंप्रेरित होकर किये गये कर्म, जहाँ तक 'अहं' या 'मम' का दायरा बनाया गया होता है वहीं तक उसकी श्रीवृद्धि करने वाले होते हैं, उस दायरे से जो शेष रह गया उसके प्रति या तो व्यक्ति उदासीन रहता है या फिर उसको किसी भी उपाय से पीछे धकेल कर स्वयं आगे निकलना चाहता है। यही कारण है कि लौकिक स्तर पर खड़ा व्यक्ति सदा दूसरों के साथ प्रतिस्पर्द्धा में जीता है।

‘अहं के द्वारा व्यक्ति अपने अस्तित्व की अनुभूति करता हुआ अपने अन्दर विद्यमान ऊर्जा को एक उचित दिशा में विनियुक्त करता है’। यहाँ तक तो ठीक है, पर जब यह अहं विकृत होकर अपने आप को विशेष और दूसरों को अविशेष देखना शुरू कर देता है या फिर दूसरों को नीचा और अपने को किसी भी दृष्टि से ऊँचा सिद्ध करने के फेर में पड़ जाता है तो उन तमाम कठिनाइयों को जन्म दे देता है जिनसे एक दुःखी समाज का निर्माण होता है। यह सब देखकर ही तो आध्यात्मिक लोग ऐसा कह देते हैं कि केवल लौकिक दृष्टि मनुष्य को साधन सम्पन्न बना सकती है, कला और शिल्प का विकास भी कर सकती है, किसी सीमा तक शरीर से किए जाने वाले चोरी-जारी-रिश्वतखोरी व हिंसादि अपराधों को रोक सकती है, अपने बुद्धिचातुर्य व परिश्रम से एक हद तक सर्दी-गर्मी आदि भौतिक कष्टों को दूर करने में समर्थ हो सकती है, पर मनुष्य-मनुष्य के बीच सौहार्द्य व प्रेम उत्पन्न नहीं कर

साधना पथ

सकती। मनुष्य को अपने विचारों का और अपनी इन्द्रियों का मालिक नहीं बना सकती; सुख के प्रति तो व्यक्ति के लगाव को बढ़ाती रहती है या बढ़ा देती है पर दुःखों व क्लेशों का सर्वथा बीज नाश करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित नहीं करती; व्यक्ति में गति तो पैदा कर देती है पर जहाँ रुकना चाहिए वहाँ रुकने की युक्ति नहीं सिखाती; लोभ को तो जगा देती है पर असली लाभ या हानि का बोध व्यक्ति को नहीं करा पाती। यह लौकिक दृष्टि ही तो है जिसके कारण व्यक्ति जीवन भर रुपया-पैसा-भवन-जमीन-जायदाद-प्रतिष्ठा व स्त्री-पुत्र की उपलब्धि में अपने बहुमूल्य जीवन को भेंट चढ़ाता रहता है और बदले में समस्त विकारों को अपने अन्दर भर कर रोता-पछताता हुआ इस संसार से विदा हो जाता है।

* * *

- विद्यायें दो हैं— पराविद्या व अपराविद्या। अपराविद्या हमारे जीवन की बाह्य पूर्णता के लिए आवश्यक है, जबकि पराविद्या आन्तरिक पूर्णता के लिए। विकास के नाम पर आज जो कुछ भी शुभ घटित हो रहा है, वह सब अपराविद्या के अन्तर्गत आता है। पराविद्या के बारे में जो जानकारीयाँ हम शब्दों में उपलब्ध करते हैं वह भी अपराविद्या ही है।
- अपराविद्या से हमारा कार्मिक जीवन सुन्दर बनता है जबकि पराविद्या से दिव्यता आती है। जीवन में शान्ति, प्रेम, करुणा, धीरता, वीरता, उदारता, आन्तरिक ज्ञानमय स्थिति पराविद्या से ही उपलब्ध होती है।
- पराविद्या से हम अपने अन्दर भागवत उपस्थिति का अनुभव कर पाते हैं। एक अर्थ में अपराविद्या का सम्बन्ध जीवन की 'गति' से है, चाहे वह मशीनरी की गति है या हमारे मन-बुद्धि-प्राण व शरीर की गति। दूसरी तरफ पराविद्या का सम्बन्ध है— मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों व शरीर की 'स्थिति' से यह तभी हस्तगत हो पाती है जब हम अपने भीतर मन-बुद्धि-शरीर से पार भावगत उपस्थिति या अपनी अन्तरात्मा का साक्षात् अनुभव कर लेते हैं।

२९. स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

गीताकार ने किसी प्रसंग में परधर्म की तुलना में स्वधर्म को विशेष स्थान दिया है और यहाँ तक कह दिया कि बेशक स्वधर्म उतना अच्छी प्रकार अनुष्ठित न हो पा रहा हो जितना परधर्म, फिर भी स्वधर्म का ही अनुष्ठान करते रहना चाहिए। यहाँ अब यह अन्वेषणीय है ये 'स्व' या 'पर' क्या हैं? हमारी अन्तःसत्ता का धर्म ही 'स्वधर्म' है तथा इससे अतिरिक्त बहिर्मुखी मन, विकृति को प्राप्त हुए अहं व इन्द्रियों की विविध मांगों को 'परधर्म' के अन्तर्गत गिना जा सकता है। मनुष्य के कर्म या तो स्वधर्म के अनुसार होते हैं या फिर परधर्म के अनुसार। अन्य कोई तीसरा बिन्दु नहीं है जो कर्म प्रवाह के पीछे बैठा हो यह सदा स्मरण रखना चाहिए।

व्यक्ति का मन अथवा अहंकार जब अपने से परे अपनी अन्तःसत्ता (चैत्य पुरुष) की खोज कर उसी के अनुसार कर्म करने के लिए उद्यत होता है तो कहा जाता है कि यह व्यक्ति 'स्वधर्म' के अनुष्ठान में निरत है, इसके विपरीत जब वह मन चैत्यपुरुष (अन्तरात्मा) को न जानकर या न पहचानकर अथवा पहचानने पर भी उसकी उपेक्षा करके इन्द्रियों व बाह्य जगत् से युक्त हो जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि यह व्यक्ति 'परधर्म' में जी रहा है। स्वधर्म में जीने वाले व्यक्ति को ही 'स्वतन्त्र' कहा गया है या कहा जाता है। स्वतन्त्र शब्द अपने मूल में इसी अर्थ को धारण किए हुए है- 'स्व=आत्मा; तन्त्र=प्रधान, अर्थात् आत्मा प्रधान है जिसका' उसको ही स्वतन्त्र कहते हैं। स्वतन्त्र का विलोम (Opposite) शब्द परतन्त्र है, जिसका अर्थ है- 'पर=मन व इन्द्रियाँ और उनके विषय प्रधान हैं जिसके'। जिस जीवन में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि इन्द्रिय-विषयों की तथा अहं को प्रिय लगने वाले मान-प्रतिष्ठा-शक्ति की प्रधानता होती है, वह चाहे बाह्य लौकिक दृष्टि से कितना भी स्वतन्त्र समझा जाए पर वस्तुस्थिति को यदि एक तथ्य के रूप में देखा जाए तो जो जितना अधिक इन विषयों में लीन है वह उतना ही अधिक परतन्त्र है।

साधना पथ

वैसे यह भी बात है— इन उपर्युक्त विषयों की स्वल्पता या अधिकता से यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकाला जा सकता कि किसी को इन्द्रिय-विषय कम मिल रहे हैं तो वह कम परतन्त्र है और अधिक मिल रहे हैं तो अधिक परतन्त्र। यह चीज तो पूर्णरूप से व्यक्ति के मन के साथ जुड़ी हुई है। तत्त्वतः इन सब विषयों का व्यक्ति के मन पर असर है या होता है, और वह जितना होता है उसी अनुपात में व्यक्ति को परतन्त्र समझा जाना चाहिए। पूर्ण स्वतन्त्र तो वही है जिसके मन पर छोटे से छोटे व बड़े से बड़े किसी भी लौकिक विषय का असर नहीं होता। स्वतन्त्र व्यक्ति ही स्वधर्म को पहचान सकता है। मनुष्य का मन एक ऐसा मध्यस्थ है जब वह बाहर जड़ तत्त्व के साथ जुड़ता है तो भोग उपलब्ध करा देता है और वही जब बाहर से हटकर अन्दर की तरफ झुकता है तो अन्तःस्थित चैत्य पुरुष (हृत्पुरुष) से सम्बन्ध जोड़ देता है। भागवत संकल्प-ज्योति-शक्ति व आनन्द का आधार बना हुआ यह चैत्यतत्त्व मनुष्य-मात्र के अस्तित्व के केन्द्र में है। पर अधिकतर लोग उससे अपरिचित रहते हुए ही जीवन जीते रहते हैं, यही परधर्म में जीना है। चैत्य तत्त्व के प्रभाव में ही रहते हुए जब मन इन्द्रियों से जुड़कर बाह्य जगत् को देखता है तो यही स्वधर्म में स्थित जीवन हुआ करता है। स्वधर्म में जीने का परिणाम— क्लेशों का पूर्ण अन्त, भागवत ज्ञान-बल-आनन्द की प्राप्ति, सदा निर्भयता व पूर्ण सुख। परधर्म में जीने वाला सदा क्लेशों से प्रताड़ित, भयाकुल, अशान्त रहता हुआ जैसे-तैसे इस जीवन को ढोता रहता है।

- जीवन के लिए सर्वोत्तम वस्तु क्या है? शुद्धबुद्धि। वह किसी को न मिले तो? शुद्धबुद्धि वालों का संग। वह भी किसी को उपलब्ध न हो तो? स्वयं की जिज्ञासा। यदि यह भी नहीं तो अध्यात्म की यात्रा एक इञ्च भी तय नहीं हो सकेगी।
- विचार के द्वारा भी जीवन के आवश्यक गुणों की साधना की जाती है, किन्तु यह अपराविद्या के क्षेत्र की ही चीज है। 'दिव्यता सहज स्वभाव बन जाये' इसके लिए तो पराविद्या की ही शरण लेनी पड़ती है। पराविद्या का परम साधन है 'अन्तर्मुखता'।

३०. प्रकृति का रूपान्तरण सम्भव है या असम्भव ?

जीवन के अनेक महत्वपूर्ण व विचारणीय विषयों में एक आवश्यक विषय है— क्या प्रकृति का परिवर्तन सम्भव कार्य है अथवा असम्भव ? जीवन जन्म-जन्मान्तरों की लम्बी यात्रा का एक प्रवाह है, इस प्रवाह में से गुजरता हुआ यह यात्री अनेक चीजों को चखता, देखता, अनुभव करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। इस लम्बी जीवन शृंखला में जो विभिन्न प्रभाव उसके मन पर पड़ते हैं और जिन-जिन को वह ज्यादा महत्व देता है वे सब के सब प्रभाव उसके मन के अविभाज्य अंग जैसे बन जाते हैं और 'प्रकृति' इस नाम से समझे जाने लगते हैं। लम्बे भूतकाल में जो उसकी प्रकृति बन गई है वह आगे के भावी जीवन क्रम में उसको उसी दिशा में खींचकर ले जाती रहती है। इस प्रकार मनुष्य की पूर्व प्रकृति और अधिक दृढ़ से दृढ़तर होती जाती है।

वर्तमान जीवन में एक व्यक्ति खिलाड़ी है तो आगे भी खिलाड़ी, विद्याप्रिय है तो आगे भी विद्याप्रिय, क्रोधी है तो और अधिक क्रोधी, लोभी है तो लोभी, संयम और साधना में रमा हुआ है तो बलात् अपनी प्रकृति से खिंचकर उसी दिशा में चलता रहता है। जैसे रात को सोकर उठने के बाद व्यक्ति प्रायः उन्हीं कार्यों को करता है जो गत दिनों में कर रहा था। या फिर पहले साल जिन बातों पर जोर दे रहा था, इस समय और आगे भी उन्हीं बातों पर जोर देता हुआ देखा जाता है। यौवन में जो कुछ कर रहा होता है वही कुछ बुढ़ापे में भी प्रायः करता है। एक लाख बच्चों का सूक्ष्मता से निरीक्षण-परीक्षण किया जाए तो जो-जो उनमें भिन्नता दिखायी देती है वह प्रकृति भेद के कारण ही तो है। एक शराबी अपने बच्चों को कष्ट देता हुआ और स्वयं अपमानित होता हुआ भी क्यों शराब पीता है ? क्योंकि उसने अपनी प्रकृति वैसी बना ली है या वैसी बन गयी है।

निन्दा करने के स्वभाव वाला सदा शिकायत करता हुआ ही मिलेगा। कम बोलने के स्वभाव वाला सदा कम ही बोलता है और अधिक बोलने

साधना पथ

वाला अधिक। कुछ योग मार्ग पर, दूसरे भोग मार्ग पर इन दो अलग-अलग राहों पर क्यों चल रहे हैं? क्यों एक सहनशील है और दूसरा असहनशील? क्यों एक धन कमाने में ही व्यस्त है दूसरे को उसमें कोई अभिरुचि नहीं? क्यों एक को पढ़ने में ही रुचि लगती है दूसरे को खेल-कूद में? एक सदा दूसरों को सुख ही देना चाहता है भले ही उसे स्वयं को कष्ट ही मिलता रहे, दूसरा सुख देने की बात तो बहुत दूर की है— अधिक से अधिक दुःख ही देता रहता है, ऐसा क्यों? एक इन्द्रियों को खुली छूट देने में आनन्द मनाता है, दूसरा उनको रोकने में? एक कला प्रेमी है दूसरा साहित्य प्रेमी, तीसरा संगीत प्रेमी, यह भिन्नता क्यों? एक को एक-एक क्षण इतना मूल्यवान् लगता है कि तीनों लोकों में उसके समान उसे कुछ दिखाई ही नहीं देता, दूसरा इस विषय में एकदम से सोया पड़ा है। एक बहुत गम्भीर रहता है दूसरा बहुत चञ्चल। एक शान्तिप्रिय है और दूसरा संघर्षप्रिय। प्रायः सब के सब बच्चों की अभिरुचियाँ तो एक जैसी सी ही लगती हैं— वही खेलना, कूदना, खाना-पीना, सोना; पर फिर भी कुछ बालकों में तो स्पष्ट ही उनकी अपनी पसन्द दूसरों से अलग-थलग प्रकट हो जाती है। बचपन को पार करते-करते जो-जो स्वभाव उभर कर व्यक्ति के साथ जुड़ जाते हैं या जुड़े हुए दिखाई देते हैं, वे ही प्रायः जीवनपर्यन्त साथ रहते हैं। इस प्रकार मानव जीवन का समग्रता के साथ किया गया अध्ययन हमारे समक्ष इस तथ्य को प्रकट करता है कि प्रकृतियों की भिन्नता के कारण मनुष्य का व्यवहार, जीवन पद्धति व क्रियाकलाप एक-दूसरे से पृथक् तो होता ही है साथ में निर्धारित भी होता है। उस-उस व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार ही इस संसार रूपी रंग-मंच पर अपना खेल खेलना होता है।

अब हम यह खोज करना चाहते हैं कि मनुष्य अपनी प्रकृति का स्वामी है या दास? जो भी उसकी प्रकृति बन गयी है क्या उसे उसका एक मूक यन्त्र बनकर यह जीवन जीना होता है या इसमें वह कुछ फेर-बदल भी कर सकता है? क्योंकि एक मात्र इस गम्भीर प्रश्न के उत्तर में ही मनुष्य का दौर्भाग्य या सौभाग्य छिपा हुआ है। यदि यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि प्रकृति का

प्रकृति का रूपान्तरण सम्भव है या असम्भव ?

परिवर्तन असम्भव है तो फिर निम्न प्रकृति से उच्चप्रकृति में कभी भी नहीं पहुँचा जा सकता। कारण— भगवान् ने इन्द्रियों को बाहर देखने वाला बनाया है, जब इन्द्रियाँ बाहर देखती हैं तो मन भी उनके साथ एकीभूत होकर उनकी लय में लय मिला देता है। इसी प्रकार जब वह मन अहं के साथ एक हो जाता है तो उसे पद-प्रतिष्ठा-शक्ति-ऐश्वर्य में ही रमण करना अच्छा लगता है। निरन्तर इस अभ्यास के कारण मनुष्य प्राकृत भोगों को ही सब कुछ मानता हुआ उनमें रस लेने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति को भोगों के इस महान्धकारमय क्षेत्र में एक बार तो अवश्य ही प्रवेश करना होता है। आज जो भोगों से ऊपर उठे हुए प्रकाशमान पुरुष दिखाई देते हैं वे भी इस अन्धरे को पार करके ही आए हैं। पर जिसने यह मान लिया कि प्रकृति जो एक बार बन गई सो बन गई अब उसका बदलना असम्भव है वह कैसे कोई भी उपाय खोजने का साहस करेगा ? लेकिन जो इस समस्या पर गम्भीर होकर विचार करते हैं, वे ये देखते हैं कि आज हम जो भी जिस रूप में भी हैं वह पूर्व का ही परिणाम है। हमने अपने शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान के अनुसार कुछ कर्म किए, कर्मों ने फिर वैसे ही संस्कार बनाए, संस्कारों ने फिर उन-उन कर्मों में हमको प्रेरित किया— यह चक्र चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप आज हम एक ठोस ढाँचे में ढले हुए ठीक या गलत एक निश्चित दिशा में बहने वाले प्राणी के रूप में दिखाई दे रहे हैं। यह पूर्ण सत्य तो है, पर मनुष्य इस कुचक्र से बाहर हो सकता है।

मनुष्येतर जितने भी प्राणी हैं उनको तो ऐसी ठोस इकाई के रूप में गिना जा सकता है कि जैसा उनको बना दिया गया है या वे बन गये हैं मरणपर्यन्त वे वैसे ही रहेंगे। एक शेर को जीवन भर मांसाहारी ही रहना है और हाथी या गाय को शाकाहारी ही। ऋतु अनुसार उन्हें सन्तति पैदा करनी ही है इत्यादि। वे अपनी-अपनी प्रकृति का अतिक्रमण नहीं कर सकते, लेकिन मनुष्य को उसी श्रेणी में नहीं खड़ा किया जा सकता है। मनुष्य को 'मन' नाम की एक ऐसी विशेष शक्ति प्राप्त है कि वह जहाँ खड़ा है उससे बहुत नीचे भी जा सकता है और बहुत ऊँचा भी उठ सकता है। यदि प्रकृति का परिवर्तन या रूपान्तरण

साधना पथ

सर्वथा असम्भव कार्य हो तो शिक्षा, ज्ञान व योगादि साधनों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। मन का अपना एक स्वभाव है जिस विषय को भी 'गुण अथवा दोष के रूप में' बार-बार इसके समक्ष रखा जाता है वैसा ही यह उसको ग्रहण कर लेता है। बस आवश्यकता इस बात की रहती है कि व्यक्ति में अनन्त धैर्य हो और रूपान्तरण की चाह हो फिर जिन चीजों का त्याग करवाना है उसके दोषों को पुनः-पुनः मन के सामने प्रस्तुत किया जाए, दूसरी तरफ जिस-जिस सत्य को प्राप्त कराना है, उसके सौन्दर्य व सुखद परिणाम को भी निरन्तर समझाया व दिखाया जाए। आन्तरिक उत्साह के साथ दीर्घकाल पर्यन्त जब सतत यह दोहरा अभ्यास किया जाता है तो यह मन अपनी पूर्व प्रकृति का त्याग कर दूसरी को ग्रहण कर लेता है। शास्त्रकार तो यह सब कहते ही हैं, व्यक्ति का अपने व दूसरों के सम्बन्ध में जो निज अनुभव है, वह भी यही सिद्ध करता है।

एक व्यक्ति अपने जीवन के पूर्व काल में अलग ही स्वभाव वाला है सर्वथा असंयमित, अनियमित व व्यसनों से परिपूर्ण जीवन जी रहा होता है और वही उत्तरकाल में अपने महान् प्रयत्न व पुरुषार्थ से ज्ञान की जीती जागती ज्योति बन जाता है। पूर्व स्वभाव तो एकदम से झड़ जाते हैं और अन्य ही उसके जीवन के अविभाज्य अंग के रूप में देखने को मिलते हैं। जैसे तीव्र चाह व प्रयत्न व्यक्ति को निम्नप्रकृति से उच्चप्रकृति में पहुँचा देते हैं वैसे ही यदि व्यक्ति से प्रमाद हो जाता है या कर बैठता है तो उच्चप्रकृति निम्नप्रकृति में बदल जाती है। यद्यपि जीवन में वे क्षण भी आते हैं कि व्यक्ति विकास करते-करते परमोच्च पद को प्राप्त कर लेता है और वहाँ से नीचे गिरने की सम्भावना पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है पर जब तक वह पद नहीं प्राप्त होता तब तक तो प्रमाद होते ही कभी भी नीचे आ सकता है। इस प्रकार प्रकृति का बदलना उच्च से निम्न में और निम्न से उच्च में कोई अस्वाभाविक कार्य नहीं है। हाँ! जहाँ कोई प्रयत्न नहीं है और कोई चाह भी नहीं है फिर तो गत जन्मों के लम्बे प्रवाह में व्यक्ति ने जो कुछ अर्जित किया है वही उसके साथ रहता है और वह उसी दिशा में आगे से आगे बढ़ता रहता है। किसी बहती हुई तेज जल

प्रकृति का रूपान्तरण सम्भव है या असम्भव ?

धारा का रुख बदलने के लिए जैसे एक तरफ मजबूत बांध और दूसरी तरफ भूमि को नीचा करने के लिए महान् प्रयत्न करना पड़ता है, इसके बिना यह कार्य सर्वथा असम्भव ही रहता है, इसी प्रकार इन दो उपायों से जिन्हें शास्त्र में 'अभ्यास' और 'वैराग्य' ये दो नाम दिये हुए हैं, व्यक्ति अपनी जीवन धारा को बदल सकता है।

यदि उसे विषय भोगों से ऊपर उठकर ज्ञान के मार्ग पर चलने की इच्छा है तो भोगों की तरफ से अपनी आँखें बन्द करनी होंगी और जब-जब वे आँखें उन्हीं चीजों से चिपटना चाहें जिनमें निरा-निरा दुःख देखकर उससे अलग होने का निश्चय कर लिया था तो बार-बार उन आँखों, कानों या मन को शिक्षा देने का प्रयत्न रूप कष्ट उठाना होगा। पूर्ण शान्ति के साथ किसी भी प्रकार का भार न मानते हुए यदि यह पुरुषार्थ किया जाता है तो निश्चित रूप से यह मनुष्य का मन ज्ञान से आलोकित हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति का परिवर्तन असम्भव तो नहीं था पर कठिनतम कार्यों में से एक है, यह तो सुनिश्चित ही है।

- जीवन की गभीरतम समस्याओं में से एक है— 'आलम्बन के अनुरूप प्रतिक्रिया'। जिस व्यक्ति का उसकी जो अपनी गति है उससे तो परिचय है किन्तु उसका अपनी आन्तरिक स्थिति (ठहराव) से परिचय नहीं है, वह कभी भी प्रतिक्रियामुक्त नहीं हो सकता। ये सब प्रतिक्रियाएँ ही हैं— सुन्दर रूप से प्रभावित होना, किसी के वाग्बाणों को सहन न कर पाना और क्रोध में आ जाना, किसी प्रसंग के उपस्थित होने पर धन का लालच आ जाना। इन तीनों स्थितियों को शास्त्रीय भाषा में 'काम, क्रोध, लोभ' इन नामों से जाना जाता है।

- अपने अन्दर भागवत उपस्थिति का अनुभव करना ही अपनी आन्तरिक स्थिति (ठहराव) से परिचित होना है। यह जीवन की असाधारण उपलब्धियों में से एक है। गति और स्थिति दोनों से ही जीवन में सर्वांग पूर्णता आती है, एक से नहीं। स्थिति के लिए किये गये प्रयासों का नाम ही साधना है।

४०४०४०४

३१. साधक और असाधक का दृष्टि-विभेद

यह एक व्यक्ति है, जो सब शास्त्रों का ज्ञाता है, प्रवचन भी करता है, अपने आपको साधक भी समझता है, सन्त-महात्माओं का सत्संग भी करता है, समय को भी व्यर्थ नहीं करता, अपने काम में लगा रहता है। अकस्मात् क्रोध में भरकर कोई दूसरा व्यक्ति आता है और इसे भला-बुरा कहना शुरू कर देता है। उसके कथन में कुछ बातें तो सत्य होती हैं पर शेष सब तो मिथ्या-आरोप ही होते हैं। जैसा कि प्रायः होता है— मिथ्या बातों या मिथ्या आरोपों को सुनकर कोई भी व्यक्ति विचलित हो जाता है, अपने स्वरूप में नहीं रह पाता, धैर्य और क्षमा को खो बैठता है; विद्वान् समझा और माना जाने वाला यह व्यक्ति भी प्रत्युत्तर में उसी भाषा का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है, सारा अस्तित्व क्रोध से जल उठता है, वाणी और मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ जाता है, मुखाकृति सौम्यता का त्यागकर क्रूरता में परिवर्तित हो जाती है। अब देखना यह है कि क्या साधक और असाधक, विद्वान् या अविद्वान् इन दोनों व्यक्तियों में कुछ अन्तर रह गया ? या फिर एक ही हो गए ?

पढ़े लिखे और अनपढ़ व्यक्ति का केवल मात्र इतना ही तो अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक ने बहुत सारी सूचनाएँ अपने मस्तिष्क में इकट्ठी कर रखी हैं, दूसरे ने नहीं। एक कई भाषाओं में दूसरों के समक्ष अपने भावों की अभिव्यक्ति कर सकता है, और विभिन्न भाषा-भाषियों की बातें उन्हीं की जुबान में सुन या समझ सकता है, दूसरा ऐसा नहीं कर सकता। एक सुन्दर भवनादि निर्माण करने की विद्या में पारंगत है, दूसरा नहीं। एक ने अपनी बुद्धि को विकसित कर यह सीख लिया है कि अधिक से अधिक धन कैसे कमाया जा सकता है, दूसरे के पास यह हुनर नहीं है। एक में बड़ी-बड़ी जनसभाओं को सम्बोधित करने की क्षमता है, दूसरा सभा में खड़ा ही नहीं हो सकता। एक अपने विद्या और बुद्धिबल से किसी भी ऊँचे से ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होने की सामर्थ्य रखता है दूसरा इस सौभाग्य से वंचित है; एक बड़े-बड़े उद्योग लगा

साधक और असाधक का दृष्टि-विभेद

सकता है, पहाड़ों के बीचों-बीच सुरंग निकाल सकता है, सागर की छाती को चीरता हुआ तल में पड़े हुए हीरे-मोती-माणिक्य को निकाल कर बाहर ला सकता है, आकाश में उड़ सकता है, सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-चन्द्र, पृथ्वी आदि की गति व इनकी दूरियों को जान सकता है, प्रकृति के सूक्ष्म व जटिल नियमों को जानकर दुनियाँ को चकित कर देने वाले नये-नये आविष्कारों को प्रकाश में ला सकता है, यहाँ बैठे-बैठे ही आकाश में उपग्रह भेजकर वहाँ की सब जानकारियाँ ले सकता है, समाज का नेता बनकर लाखों-करोड़ों लोगों को अपने पीछे चला सकता है, एक या अनेक पुस्तकों का लेखक हो सकता है, अष्टाध्यायी-महाभाष्य जैसी विशिष्ट कृतियों का एक कुशल प्रवक्ता हो सकता है, अधिकतम भोग-साधनों या भोगों को उपलब्ध करने-कराने में नये-नये मार्गों का अन्वेषण कर सकता है, दूसरे बेचारे अनपढ़ व्यक्ति के भाग्य में ये सब बातें नहीं हो सकतीं या नहीं होतीं।

यदि इन दोनों व्यक्तियों में केवल इतना ही अन्तर है तो एक लौकिक दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए तो यह बहुत बड़ी बात हो सकती है पर तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो इतने मात्र से मनुष्य की सब समस्याओं का समाधान नहीं होता। एक पढ़े-लिखे विद्वान् पुरुष का गौरव तो इस बात में है कि वह अपनी इन्द्रियों, भावनाओं (Emotional Reactions) व विचारों का स्वयं ही मालिक हो। बाहर से आकर उसके साथ टकराने वाले प्रतिकूल से प्रतिकूल शब्द भी; सौन्दर्य व शृङ्गार से परिपूर्ण नवयौवन भी; बड़े से बड़े भोगों के लुभावने आकर्षण भी; सत्ता-शक्ति व पद-प्रतिष्ठा का बड़े से बड़ा मोह भी और निर्धनता की पराकाष्ठा भी; मित्रों-सम्बन्धियों व सांसारिक लोगों की बड़ी से बड़ी नाराजगी भी; वैभवशाली और लौकिक जनों की घृणापूर्ण दृष्टि भी उसके अन्दर कोई हलचल पैदा न करे। अनुकूल की तरफ खिंचाव व प्रतिकूल से किसी प्रकार का कोई भय या विकर्षण न हो, सम्पत्तिशालियों और सत्ताधारियों की विपुल सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य को देखकर भी किसी प्रकार की कोई हीनभावना पैदा न हो। ये ही कुछ बातें हैं जिनकी पढ़े लिखे लोगों से

साधना पथ

अपेक्षा की जा सकती है। पढ़ लिख लेने पर भी यदि यह चीज नहीं प्राप्त हो पाई तो यही समझना चाहिए कि पढ़ाई का असली लाभ अभी नहीं मिला है। विद्या का वास्तविक लाभ यही है कि मनुष्य अपनी इन आन्तरिक कमजोरियों व दुर्बलताओं को समझकर उन पर वश प्राप्त कर ले।

लौकिक-बुद्धि व्यक्ति की आन्तरिक हानि को कम महत्व देती है और बाह्य धन-वैभव व प्रतिष्ठा की हानि को अधिक। सो यदि लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो भी व्यक्ति को कभी भी किसी निर्बलता का शिकार नहीं होना चाहिए। एक बार भी कोई व्यक्ति किसी के सामने काम-क्रोध-लोभ-मोह व अहंकार के वशीभूत हो जाता है तो दूसरे व्यक्ति के मन में उसका वही चित्र बैठ जाता है। उस व्यक्ति को वह कभी अक्रोधी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो सकेगा। अतः अपनी आन्तरिक व बाह्य दोनों ही हानियों का विचार करते हुए व्यक्ति को विद्या, विचार व अपने अनुभव के बल से कोई ऐसी युक्ति खोजनी चाहिए जिससे दुर्बलता को एक क्षण के लिये भी अवकाश ही न मिले। पर फिर भी यदि कोई दुर्घटना हो जाती है (क्योंकि कोई कितना भी सावधान चालक हो, अकस्मात् कोई गड़वा आ सकता है या अपना पूरा बचाव रखने पर भी दूसरा ही टक्कर मारकर हानि पहुँचा सकता है) तो ऐसी विषम परिस्थितियों का भी मुकाबला करने के लिये पहले से ही तैयारी रखनी चाहिए। जीवन के ऐसे जटिल प्रसंगों में कदाचित् व्यक्ति को क्रोधादि आ भी जायें तो निराश न होकर अपनी भूल को स्वीकार करके पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

‘भूल को स्वीकार करना और उसके लिये स्वतः ही प्रसन्नता के साथ दण्ड लेना’ ये कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे व्यक्ति की जागरूकता में वृद्धि होती है। ये क्रियायें भी यदि दूसरे लोगों को दिखाने के लिये की जाती हैं तो फिर इनसे भी कुछ लाभ नहीं मिलता। यह दिखावा तो व्यक्ति का यहाँ तक पीछा करता रहता है कि मेरे अन्दर कुछ भी दिखावा नहीं है इसका भी एक दिखावा हो सकता है, जैसे कि कई बार किसी प्रकार के अभिमान का न होना भी एक अभिमान का रूप धारण कर लेता है। जिस किसी दुर्बलता के कारण व्यक्ति

साधक और असाधक का दृष्टि-विभेद

की सामाजिक प्रतिष्ठा चली गई, उसे स्वीकार करते हुए, व्यक्ति यदि इच्छुक है तो अपनी भावी अशुद्धि को तो रोक ही सकता है। जिस समय भी यह शुद्धि व्यक्ति के जीवन का अंग बनने लगती है उसी समय इसका लाभ मिलना प्रारम्भ हो जाता है। इस बात को कभी भी कोई अनुभव करके देख सकता है।

साधना के मार्ग में प्रवृत्त हुए व्यक्तियों की अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियां हो सकती हैं। उनमें से कुछ एक की यह भी एक दृष्टि होती है कि मैं लोक में साधना के नाम से सबसे आगे बढ़ा हुआ समझा जाऊँ, इसी के द्वारा मेरी पहचान हो। सम्भव है यह व्यक्ति अन्य लोगों से अच्छा हो, एक ऊँचे स्तर का नैतिक हो। पर इस विचार से प्रेरित हुआ-हुआ पूर्ण रूप से अभय व स्वतन्त्र तो नहीं हो सकता। इस मार्ग पर चल रहे वे ही साधक निर्भान्त समझे जा सकते हैं जो सदा अशुद्धि का नाश और ज्ञान की उपलब्धि करते हुए पूर्णता की ओर अग्रसर हैं। इस दर्शन को प्राप्त जीवन-साधक अपने बारे में अन्य लोगों की सम्मतियों के प्रति पूर्ण उदासीन होते हैं। बाहर से ज्यादा महत्वपूर्ण चीजें उन्हें अपने अन्दर ही मिल जाती हैं। जिनको अभी अपने अन्दर कुछ नहीं मिला है, केवल वे ही बाह्य दृश्यों से मोहित होते हैं। साधक कभी फिसल भी जाता है तो मात्र लोगों को प्रभावित करने के लिये अपनी भूल स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपनी शुद्धि व पूर्णता के लिये वैसा करता भी है। ज्यों-ज्यों साधक की अन्तर्दृष्टि खुलने लगती है त्यों-त्यों समस्त दिखावे मात्र से उसे उपरति होने लगती है। किसी कुलवधू की तरह वह अपनी साधना को गुप्त ही रखना चाहता है। यह बात अलग है कि उसके शुद्ध, शान्त व आनन्दमय जीवन से दूसरे लोग बहुत प्रभावित होने लगते हैं, पर वह अपनी तरफ से प्रभावित करने के लिये कोई प्रयास नहीं करता।

यह साधना कोई एकान्त स्थान खोजकर सम्पादित करने की वस्तु नहीं है, इसे सिद्ध तो सब सम्बन्धों के बीच रहते हुए ही किया जाता है— साधक को जो कुशलता बरतनी है वो यही है कि जहाँ-जहाँ भी यह अहं दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिए अपनी गर्दन उठाए, उसी समय उसको काट दे। विद्या-बुद्धि-बल-सद्गुण-धन-वैभव-सत्तादि के द्वारा तो सब लोग प्रभाव जमाते ही हैं, पर सरलता-सादगी-नम्रता-निरहङ्कारिता-उपासना-भक्ति-यज्ञ-योगादि के द्वारा भी

साधना पथ

व्यक्ति दूसरों पर अपनी छाप छोड़ना चाहता रहता है, लौकिक दृष्टि से उस छाप छोड़ने का कोई न कोई लाभ हो सकता है, वह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण चीज हो सकती है, पर जब साधना या अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जा रहा है, तो यह इस रास्ते की बहुत बड़ी रुकावट है। यह बिल्कुल सत्य है कि साधना की आरम्भिक अवस्था में यह अहं व्यक्ति की बहुत बड़ी सहायता करता है। अपने आप को मनुष्यों के बीच विशेष देखने का भाव व्यक्ति में अपार उत्साह भर देता है। जिससे मार्ग का कष्ट दुःखदायी या भाररूप प्रतीत नहीं होता, पर आगे चलकर तो इससे सर्वथा मुक्त होना ही पड़ता है।

आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए भी उसी प्रकार विशेष प्रयत्न करना होता है जैसे लौकिक चीजों को पाने के लिए व्यक्ति को महान् प्रयत्न करना पड़ता है, वे चीजें जितनी अधिक मूल्यवान् होती हैं प्रयास भी उतना ही उग्र करना होता है। एक अध्यापक बनने के प्रयास में और आई.ए.एस. बनने के लिए किए गए प्रयास में कितना अन्तर होता है, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एक व्यक्ति को केवल एम.एल.ए. बनना है, दूसरे को मुख्यमन्त्री, तीसरे को प्रधानमन्त्री उन सब के प्रयत्न अलग-अलग होते हैं। एक किसी खेल में अपने प्रान्त में प्रथम आना चाहता है, दूसरा ओलम्पिक में तो परिश्रम का अन्तर होगा ही। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि उन-उन व्यक्तियों का सामर्थ्य ही उतना होता है कि उसी चीज की प्राप्ति से उन्हें सन्तोष मिलता है। कम सामर्थ्य वाले को छोटी चीज के लिए भी बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामर्थ्य अलग-अलग होता है, पर सामर्थ्य भी तो विकसित होकर ही आज उस-उस रूप में दिखाई दे रहा है। सो साधना और साधना से मिलने वाली उपलब्धि— जिसे जीवन की परिपूर्णता कहा है 'समस्त दुर्बलताओं, कमजोरियों, न्यूनताओं पर पूर्ण विजय, मन की पूर्ण शान्ति, पूर्ण प्रसन्नता और अपने अन्दर स्थित खजाने से परिचय', असामान्य प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकती है। क्षण-क्षण में सजग रहते हुए अपने समूचे अस्तित्व को सम्भाल कर रखना होता है।

३२. शरीर वाणी व मन का परिपाक

जब मनुष्य आँख उठाकर इस संसार को देखता है तो चारों तरफ उसे सभी लोग अपने-अपने काम में व्यस्त दिखाई देते हैं। जानना-मानना व करना ये तीन चीजें मनुष्य में इकट्ठी पराकाष्ठा में रहती हैं, जो मनुष्येतर किसी भी प्राणी में देखने को नहीं मिलेंगी। मनुष्य अपनी रुचि-प्रकृति व सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक जानना, अधिक से अधिक मानना, अधिक से अधिक करना चाहता है। पर उसके इस जानने, मानने व करने में दिशा निर्धारण कराने वाले अपने स्वयं के संस्कारों के साथ-साथ बाह्य वायुमण्डल, समाज, माता-पिता, गुरु-आचार्यों का सान्निध्य व उनके साहित्य का प्रभाव ये सभी निमित्त बनते हैं। यह जानना, मानना व करना शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। इनके शुद्ध होने से ही सच्चा सुख मिलता है। अशुद्ध ज्ञान, अशुद्ध कर्म व अशुद्ध मान्यताओं का परिणाम अत्यन्त दुःखदायी होता है, और व्यक्ति को उसके वास्तविक लक्ष्य से दूर-दूर ही ले जाता रहता है। अशुद्ध ज्ञान ही अज्ञान है।

मन व इन्द्रियों से व्यक्ति जो कुछ भी अनुभव करता है वह ज्ञान की ओर भी ले जा सकता है और अज्ञान की ओर भी। जैसे व्यक्ति आंखों से कुछ देखता है तो उन विभिन्न दृश्यों के विभिन्न प्रभाव व्यक्ति पर पड़ते रहते हैं। उनमें से कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो व्यक्ति में कामभाव को पैदा कर देती हैं, किन्हीं को देखते ही तत्क्षण क्रोध आ जाता है। किन्हीं वस्तुओं-भूमि-भवन-वस्त्र-पुस्तक या अपने को अच्छे लगने वाले व्यक्तियों को देखकर मन में लोभ आ जाता है कि ये सब हमें प्राप्त हो जाएं या इन पर हमारा अधिकार रहे। अपने ऐश्वर्य-रूप-यौवन-विद्या-बल, मधुर-कण्ठ अथवा योग्य शिष्य व पुत्र को देखने लगता है तो अहंकार जागरित हो जाता है कि मेरे पास वे चीजें हैं जो दूसरों के पास नहीं हैं। जिन चीजों को व्यक्ति ने अपने परिश्रम से प्राप्त किया है उन वस्तुओं को तथा स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धीजनों व शिष्यों को देखते ही मोह

साधना पथ

उत्पन्न हो जाता है। प्रतिकूल व्यक्ति या उसके ऐश्वर्य को देखते ही ईर्ष्या पैदा हो जाती है। इसी प्रकार जिन लोगों ने किसी भी प्रकार का कष्ट दिया है, किसी सन्दर्भ में अपमान किया, वस्तु चुरा ली, किसी भी रूप में पराजित कर दिया, किसी विषय पर बहस करते समय चुप कर दिया, अपशब्द कहे तो ऐसे व्यक्तियों को देखते ही मन में द्वेषभाव आ जाता है। उन अलग-अलग दृश्यों से जो मन पर प्रभाव पड़ रहा है वह व्यक्ति को अज्ञान की ओर ले जाता रहता है। सन्त-महात्माओं को, सद्गुरुओं को, प्रकृति के अपूर्व सौन्दर्य को भी व्यक्ति इन्हीं आंखों से निहारता है, जिनको देखने से ज्ञान की ओर अग्रसर होने में अत्यन्त सहयोग मिलता है।

ये ही सब बातें कानों के साथ जुड़ी हुई हैं। किन्हीं शब्दों से काम, किन्हीं से क्रोध, किन्हीं से लोभ, किन्हीं से मोह, किन्हीं से अहंकार, किन्हीं से ईर्ष्या, किन्हीं से द्वेष जग उठता है। दूसरी तरफ ज्ञानोपलब्धि का अनन्य साधन भी शब्द ही हैं। श्रवण-मनन-निदिध्यासन व साक्षात्कार के क्रम में सबसे प्रथम स्थान श्रवण को ही दिया गया है। इसके बिना मनुष्य पशु ही बना रहता है।

ठीक ऐसा ही व्यक्ति के मन के साथ घटित होता रहता है। मनुष्य के मन में जो विचार उठते हैं उनकी भी दो धाराएं हुआ करती हैं। वे विचार भी दर्शनेन्द्रिय व श्रवणेन्द्रिय की भांति मनुष्य को ज्ञान तथा अज्ञान की तरफ खींचते रहते हैं। जब भी मन में भौतिक वस्तुओं की स्पृहा, नास्तिकता, अश्रद्धा, द्रोह, काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-द्वेष सम्बन्धी विचार उठते हैं तो मनुष्य अज्ञान वाली धारा में बहने लगता है। इसके विपरीत जब मन में शान्ति, स्नेह, त्याग, दया-करुणा, मनोवाक्कायरूप त्रिविधसंयम, धैर्य, क्षमा, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम व वैराग्य के भाव आते हैं तो उस समय मनुष्य ज्ञान की धारा के साथ होता है।

बाह्य शब्द या बाह्य रूप से यदि व्यक्ति में अज्ञान अर्थात् काम-क्रोध, लोभादि बढ़ते हैं तो, या तो वहाँ से हट जाना चाहिए, या फिर अपनी आँख-कान को उस तरफ से बन्द कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के मन में अनन्त

शरीर वाणी व मन का परिपाक

जन्मों की प्रक्रिया में जो उस-उस सुख के रागात्मक संस्कार और उस-उस दुःख के द्वेषात्मक संस्कार पड़े हुए हैं वे अनुकूल आलम्बन को पाकर वैसे ही उदबुद्ध हो जाते हैं जैसे कि भूमि में पड़ा हुआ बीज पानी मिलते ही अंकुरित हो उठता है।

संस्कारों के समूल नाश करने में जुटे हुए साधक को यहीं से अपनी यात्रा का प्रारम्भ करना होता है कि वे संस्कार शरीर व इन्द्रियों को प्रभावित न कर पाएं। आलम्बन को पाकर वे संस्कार शरीर व इन्द्रियों के स्तर पर आ जाते हैं और ऐसा होते ही उन संस्कारों की जड़ें और भी अधिक मजबूत हो जाती हैं। ज्ञानपूर्वक अभ्यास के बल से यही किया जाता है कि सड़क पर तेजी से दौड़ती हुई गाड़ी एक क्षण के लिए भी इधर-उधर न भागे अर्थात् जब-जब सड़क से नीचे उतरने लगे तो उसे साधे रखना, नीचे न उतरने देना। 'संस्कार' मन से शरीर पर पहुँच जाएं तो समझना चाहिए कि साधना रूपी गाड़ी अपनी पटरी से नीचे उतर गई है। अब कल्पना की जा सकती है कि जब गाड़ी सड़क से नीचे उतर जाती है तो उसके क्या परिणाम हुआ करते हैं? एकक्षण का प्रमाद सर्वनाश में बदल जाता है। असाधारण रूप से जो जागरूक हैं या रहते हैं वे ही इस कठिन व दुर्धर्ष कार्य को कर पाने में समर्थ हो पाते हैं, शेष तो प्रतिदिन टूटते-फूटते रहते हैं, कष्ट पाते रहते हैं, किसी बड़ी दुर्घटना के होने पर कुछ दिन के लिए सावधान हो जाते हैं और फिर वही पूर्व वाला क्रम बार-बार दोहराया जाता है। बस! यही होती है इस सम्पूर्ण जीवन की एक दुःखदायी कहानी।

जीवन में ये जो छोटे-बड़े दुःख आते रहते हैं, यदि व्यक्ति इनको ध्यान से देखता रहे या अनुभूति करता रहे, साथ में जिन कारणों से ये दुःख प्राप्त होते हैं उन सब का भी सूक्ष्मता से अवलोकन करता रहे, दुःख से जो परेशानी, कष्ट या बाधा होती है, उसका एक चित्र लेकर अपने पास रख ले और समय-समय पर उसे देखता रहे तो यह दुःख दर्शन ही उस दुःख से सदा-सदा के लिए पीछा छुड़ाने हेतु कोई न कोई उपाय खोजने की ओर प्रवृत्त कर देगा। यह

साधना पथ

सर्वथा ही असम्भव है कि व्यक्ति दुःखों में जी सके। यह मानव मन इतना अधिक विस्मृतिशील है, जिन-जिन निमित्तों से महान् दुःख उठाया है उनको भी एकदम से भूल जाता है। ये छोटे बच्चे तो अग्नि में एक बार हाथ जलने पर पुनः नहीं डालते, पर ये बड़े बच्चे पुनः-पुनः उन्हीं चीजों से अपने हाथ जलाते रहते हैं, यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है।

व्यक्ति को अपने जीवन को सर्वतः परिपूर्ण बनाने के लिए अनेक साधनाएं करनी होती हैं— शरीर की साधना, वाणी की साधना, इन्द्रियों की साधना, मन की साधना, बुद्धि की साधना व व्यवहार की साधना इत्यादि। साधना शब्द का मूलधात्वर्थ है— ‘साध संसिद्धौ’। किसी चीज को अच्छी प्रकार सिद्ध करना अर्थात् पकाना। पकाने का अर्थ है किसी भी चीज के कच्चेपन को हटाने के लिए अपेक्षित पुरुषार्थ करना। जब तक कोई भी वस्तु कच्ची होती है उसमें रस नहीं भरता। रस की निष्पत्ति वस्तु के पक जाने पर ही होती है। सो जब तक शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व व्यवहार में कच्चापन रहता है, जीवन रस से शून्य ही रहता है।

किसी व्यक्ति के शरीरादि अभी कच्चे हैं या पक गए हैं— इस बात को अनेक प्रकार से जांचा, परखा व आंका जा सकता है। शरीर में आलस्य या भारीपन का होना, स्फूर्ति का न होना, रोगों से शीघ्र प्रभावित हो जाना, बल का न्यून होना इत्यादि अपरिपक्व शरीर के लक्षण हैं। कठोरता, मिथ्यात्व, व्यर्थ वार्ता, दोष चर्चा, जहाँ धीमे बोलने से ही काम चल रहा हो— वहाँ ऊँची व तेज आवाज में बोलना इत्यादि को वाणी का कच्चापन जाना व माना जा सकता है। विचारों का अमर्यादित व अनियंत्रित रूप से आना-जाना, असंवेदनशीलता, भूतकालिक स्मृतियों में खोए रहना, काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष-द्रोह, समता का अभाव, भीड़ का अच्छा लगना व एकान्त अच्छा न लगना, नास्तिकता, अश्रद्धा, ज्ञान में अरुचि, जड़ के प्रति आकर्षण इत्यादि मन की अपरिपक्वता के चिह्न हैं। बुद्धि की अपरिपक्वता के फलस्वरूप व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय नहीं कर पाता, अनेकानेक संशयों से

शरीर वाणी व मन का परिपाक

घिरा रहता है, सूक्ष्म विषयों को समझने व ग्रहण करने में असमर्थ बना रहता है। व्यवहार की अपरिपक्वता के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने आचरण से अपने ही निरे-निरे शत्रु तैयार कर लेता है। किसी का प्रिय या विश्वासपात्र नहीं बन पाता। ऐसे व्यक्ति से सभी लोग बचकर निकलना चाहते हैं।

शरीर की अपरिपक्वता को दूर करने के लिए व्यक्ति को उचित खान-पान, उचित सोना-जागना, उचित व्यायाम (शारीरिक श्रम) व ब्रह्मचर्य इन चार साधनों का प्रयोग करना होता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भोजन के विषय में हितभुक्-मितभुक्-ऋतभुक् ऐसा कहकर तिसूत्री कार्यक्रम दिया। हितभुक् अर्थात् अपनी प्रकृति-अवस्था-देश-काल व पदार्थ की सात्त्विकता-असात्त्विकतादि का विचार करके खाने वाला। सब व्यक्तियों को सब भोज्य पदार्थ अनुकूल नहीं होते, अतः शास्त्र व अनुभवी लोगों से सहायता लेकर, साथ में अपने स्वयं के भी अनुभवों से लाभ उठाकर व्यक्ति को यह निर्धारण करना चाहिए कि मेरे लिए कौन सा भोजन हितकारी है और कौन सा अहितकारी। दूसरा मितभुक् से तात्पर्य है परिमित मात्रा में खाने वाला, क्योंकि सात्त्विक और हितकारी पदार्थ भी अधिक मात्रा में सेवन किया गया तामसिक हो जाता है। तीसरा है 'ऋतभुक्' अर्थात् सत्य कमाई का खाने वाला। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी जांच-पड़ताल की जा सकती है। 'कितना' 'कब' और 'क्या' इन तीनों प्रश्नों को ध्यान में रखकर जो भोजन किया जाता है वह अवश्य ही शरीर के हित में होगा। 'जल्दी सोना, जल्दी उठना व दिन में न सोना' ये तीन बातें निद्रा के विषय में ध्यान रखने की हैं।

योगासन-प्राणायाम-दौड़ना-तैरना, खेत में काम करना, कस्सी से भूमि खोदना इत्यादि व्यायाम के अनेक रूप हैं जो अपनी प्रकृति-रुचि व सामर्थ्य के अनुसार निर्धारित किए जा सकते हैं। अर्थात् चौबीस घण्टे में कम से कम एक बार तो पसीना निकलना ही चाहिए। शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक चतुर्थ साधन है— आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य (मन की सहज शान्ति, निर्मलता, पवित्रता, निर्विकार स्थिति का बने रहना), इन चारों साधनों के

साधना पथ

सतत अनुष्ठान करते रहने से शरीर अच्छी प्रकार सध जाता है। बोलते समय बोलने वाला छान-छान कर यदि शब्दों को बोले और मन के साथ सदा वाणी का योग बना रहे तो वाणी के विषय में 'सिद्ध' हो सकता है। वाणी तो अपना काम कर रही होती है, पर मन उससे युक्त नहीं रहता— उस समय वाणी के द्वारा सब अनर्थ पैदा किये जाते हैं। ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त में यही तो कहा गया है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।

जैसे चालनी से सत्तू को छानते हैं वैसे ही धीर पुरुष मन के साथ अर्थात् होश में रहते हुए वाणी का प्रयोग करते हैं। वे वाणी के सखा हुए-हुए मित्रता के नियमों को जानते हैं। इस रूप में जिन्होंने वाणी की साधना की है उनकी वाणी में समस्त शोभा का वास हो जाता है। जैसे शरीर की साधना में व्यक्ति शारीरिक दुःखों से बचने के लिए प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार बिना साधी हुई वाणी से मिलने वाले दुःखों का सूक्ष्मता से अवलोकन व्यक्ति को 'वाणी की साधना' करने हेतु आन्तरिक रूप से तैयार कर देता है। **साधक जब पुनः पुनः इस बात को देखता है कि शरीर के फिसलने से तो केवल हड्डी ही टूटती है, पर वाणी के फिसलने से तो सब कुछ ही टूट जाता है तो इस विषय में उसकी सजगता निरन्तर बढ़ती जाती है।** मन की अपरिपक्वता को हटाने के लिए साधक अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधानादि योग साधनों का अनुष्ठान प्रारम्भ करता है। योग-दर्शन, उपनिषद् व अन्य सभी आध्यात्मिक महापुरुषों के आदेश-उपदेश व निर्देश इसी मन की साधना में सहयोग करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। साधक जब अपने सामने मन की साधना करने वाले और न करने वाले दोनों व्यक्तियों को देखता है तो उसे एक का जीवन अत्यन्त क्लेशमय और दूसरे का आनन्दमय दिखाई देता है। इस मार्ग पर कदम बढ़ाने से जो थोड़ा सा स्वयं का अनुभव उसे प्राप्त हुआ है उसके कारण भी वह इस साधना को जीवन का परमावश्यक भाग समझ कर इसके लिए अधिकाधिक अपना प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है। उत्तम से उत्तम वस्तु, प्रेम से भरे हुए व्यक्ति,

शरीर वाणी व मन का परिपाक

ऊंचे से ऊंचे विचार भी व्यक्ति को कुछ सुख नहीं दे पाते यदि मन सधा हुआ नहीं है— साधक इस बात को बार-बार अनुभव करता है।

शास्त्र-श्रवण-मनन-निदिध्यासन व सुविचार के द्वारा बुद्धि निरन्तर परिपक्व होती जाती है। परिपक्व बुद्धि में संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जीवन को ठीक से समझने व देखने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। इस हेतु बुद्धि की साधना को महत्त्व देता हुआ साधक इसे भी अपने लिए परमावश्यक चीजों में से एक समझता है।

इसी प्रकार व्यवहार की साधना करता हुआ साधक दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करता है जो किसी को भी अखरता नहीं है। सब के साथ माधुर्ययुक्त, राग-द्वेषरहित, सम्मान, विनम्रता व सहयोग सहित व्यवहार रखता हुआ सबका प्रिय बना रहता है। जो कर सकता है वही बोलता है, कभी बढ़-चढ़कर बातें नहीं करता। अपनी हानि करने वालों से सावधान तो रहता है पर कभी भी किसी भी अवस्था में उनका अहित नहीं चाहता।

* * *

• अध्यात्मविद्या क्या है? जिस विद्या के द्वारा आत्मज्ञान होता है, आत्मा का अनुभव होता है वह अध्यात्मविद्या है। सामान्यतः व्यक्ति को बाह्य जगत्, जिसको कि हम इन्द्रियों के द्वारा जान रहे हैं, उसका अनुभव होता है। वह विविध प्रकार के मानसिक व शारीरिक सुखों व दुःखों को जानता है, दूसरों से मिले सम्मान और अपमान को जानता है, अच्छी बुरी परिस्थितियों को जानता है, इन्द्रिय संवेदनाओं को जानता है, अर्थात् जो उसकी पहुँच के भीतर है उसे वह जान लेता है किन्तु कुछ अदृश्य चीजें, कुछ अदृश्य तत्त्व भी हैं जिन्हें वह नहीं जानता। उन्हीं अदृश्य चीजों में से आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल, कर्मसंस्कार, सम्प्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि, परवैराग्य, विप्लवरहित विवेक-ख्याति इत्यादि कुछ रहस्यमय तत्त्व हैं। जिस विद्या से इन अज्ञात तत्त्वों को जानने का मार्ग प्रशस्त होता है वह है 'अध्यात्मविद्या'।

३३. संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

कुछ व्यक्ति जो अपने-अपने क्षेत्र में अग्रणी जाने या माने जाते हैं, एक-दूसरे के समक्ष अपनी-अपनी उपलब्धियाँ रख रहे हैं। उनमें से यह एक उद्योगपति है जिसका कहना है कि कैसे-कैसे मैं एक सामान्यावस्था से आगे बढ़ा। आज मैं संसार भर में उद्योग जगत् का पहला व्यक्ति माना जाता हूँ। मेरे पास इतनी फैक्टरियाँ हैं, उनमें लाखों श्रमिक काम कर रहे हैं। मुझे अपने कार्य से करोड़ों रुपये प्रतिदिन आय होती है। पर इतना सब होने पर भी या करने पर भी मैं अन्दर से सन्तुष्ट नहीं हूँ। जैसे एक निर्धन व्यक्ति कामनाओं का मारा हुआ अपनी जीवन यात्रा को पूरा करता है— वही हाल मेरा भी है। अपने कार्यकर्त्ताओं से निरी-निरी अपेक्षाएँ मुझे रहती हैं। जो उन्हें पूरा करने के लिये कोशिश करते हैं उनके प्रति राग और बाकी के प्रति द्वेष हो जाता है। अपार सम्पत्ति होते हुए भी जब कभी किसी फैक्टरि में घाटा आ जाता है तो अत्यन्त कष्ट होता है। अभी हाल में एक फैक्टरि में कार्यकर्त्ताओं की असावधानी से आग लग गयी और परिणामस्वरूप अरबों रुपये की सम्पत्ति जलकर राख हो गयी। उसके कारण से अभी कुछ दिन से मेरा यह मन इतना अशान्त हो गया है कि कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। सदा भय बना रहता है कि कभी कोई मुझसे आगे न निकल जाए, कार्यकर्त्ता हड़ताल न कर दें, बाजार-भाव नीचे न आ जाए, सरकार का छापा न पड़ जाए। मित्रगण या राजनेताओं की नाराजगी से मन बहुत खिन्न हो जाता है। पैसों के द्वारा जिन समस्याओं का हल हो सकता है उनका तो तुरन्त समाधान हो जाता है पर मनोवैज्ञानिक स्तर की समस्याएं तो समस्याएं ही बनी रहती हैं और जब मन समस्याओं से घिरा हुआ है तो कल्पना की जा सकती है— कैसा सुख ?

उद्योगपति के द्वारा अपना असन्तोष प्रकट कर दिए जाने पर यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का राजनेता अपनी रामकहानी कहना प्रारम्भ करता है— मैं जब पहले-पहल राजनीति में आया तो ग्राम-सरपंच से मेरे इस राजनीतिक

संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

जीवन की शुरुआत हुई। उसके बाद विधायक, मन्त्री, मुख्यमन्त्री, एम.पी., प्रधानमन्त्री बनता हुआ आज मैं यू.एन.ओ. का अध्यक्ष हूँ, अन्तर्राष्ट्रीय नीति निर्धारण करते समय मेरी सलाह ली जाती है, जनता मुझे एक बहुत सच्चे व ईमानदार राजनेता के रूप में देखती है। जहाँ भी जाता हूँ मुझे बहुत सम्मान भी मिलता है। प्रतिदिन लगभग बीस-पच्चीस जगह तो अखबार में मेरा नाम आ ही जाता है। मेरी बातें संसार भर के नेतागण बहुत ध्यान से सुनते हैं। हर क्षण मेरा व्यस्तता में गुजरता है। पर ये सब होते हुए भी मैं सदा अपने को तृप्त अनुभव नहीं करता। जैसा कि प्रतिकूलताओं में सामान्य व्यक्ति अपना सन्तुलन खो देता है, वैसा ही मेरे साथ भी होता है। जो मेरा विरोध करते हैं उन पर मुझे बहुत क्रोध आता है। जिन मेरे प्रतिद्वन्द्वियों ने मुझे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाया है, चुनाव में मेरा विरोध किया या मेरे साथ चुनाव लड़ा— मेरा मन उन सबके प्रति प्रतिशोध के भाव से भरा रहता है। मैं अपने आपको अनेकानेक दुर्बलताओं से घिरा हुआ पाता हूँ। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से मुझ पर भी वे ही प्रतिक्रियायें होती हैं जो अन्य लोगों पर। सत्ता छिन जाने का भय तो कभी मन से हटता ही नहीं। संयोग-वियोग में सुखी-दुःखी होता हुआ कभी आशा तो कभी निराशा के झूले में झूलता रहता हूँ।

राजनेता के द्वारा अपने सब खट्टे-मीठे अनुभव प्रस्तुत किए जाने पर यह एक ओलम्पिक में निरन्तर तीन बार स्वर्णपदक विजेता अपना विषय प्रस्तुत करना प्रारम्भ करता है— मैंने एक खेल प्रेमी माता-पिता के घर में जन्म लिया। बाल्यकाल से ही मुझे ऐसा वायुमण्डल मिला कि मेरी शारीरिक क्षमतायें बहुत विकसित हो गयीं। टेनिस को मैंने अपना कार्य क्षेत्र चुना। बड़ी-बड़ी स्पर्धाओं में मैंने भाग लिया। विद्यालय स्तर से आगे बढ़ता हुआ आज मैं विश्वभर में टेनिस चैम्पियन के नाम से विख्यात हूँ। विश्व के सभी नेता, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, प्रथम श्रेणी के उद्योगपति-व्यापारी सब मुझसे मिलने के लिए आते हैं। अपने आवास पर मुझे भोजन के लिये निमन्त्रित करते हैं, मेरे साथ भोजन करने में उनको बहुत गौरव अनुभव होता है। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ

साधना पथ

करोड़ों रुपये खर्च करके मेरे नाम से टी.वी. में अपना विज्ञापन देती हैं। सार्वजनिक सभाओं में मेरा लाखों लोगों के बीच सम्मान होता है। किसी भी प्रकार का भोग मुझे अनुपलब्ध नहीं है। अरबों रुपये देश-विदेश से मुझे प्राप्त हुए। मेरे गुण-कर्म-स्वभाव से मिलती हुई महिला से मेरी शादी हुई। हम दोनों में कभी कोई टकराव भी नहीं होता। पर फिर भी अन्दर से मैं अपने को अशान्त ही अनुभव करता हूँ। खेलों के सन्दर्भ में मैं एक बार भी कभी पराजित नहीं हुआ पर कामनाओं और भावनाओं के क्षेत्र में प्रतिदिन कई बार मैं अपने आपको असफल हुआ पाता हूँ। काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार-ईर्ष्या-द्वेष बराबर मुझे कष्ट देते रहते हैं। किन्हीं-किन्हीं वस्तुओं व व्यक्तियों के साथ बहुत तीव्र आसक्ति बनी हुई है; किसी भी वियोग की स्मृति-मात्र से मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व भय से भर जाता है। मन में कितने सारे विचार ऐसे-ऐसे भी आते रहते हैं जिनको मैं कभी नहीं चाहता। विषयरूपी आलम्बन को प्राप्त कर मेरी इन्द्रियाँ इतनी चञ्चल हो उठती हैं जैसे कि किसी कुत्ते को खरगोश दिखाई देते ही उसके पीछे दौड़ना प्रारम्भ कर देता है। अपने अन्दर के राज्य में अपने आपको अत्यन्त दीन-हीन-कमजोर व असहाय अनुभव करता हूँ। इस सब पर विजय पाने के लिए बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई उपाय नहीं मिल रहा है।

खिलाड़ी जब अपनी सम्पूर्ण व्यथा कह चुकता है तो यह एक उच्च कोटि का लेखक अपना सुख-दुःख सुनाना प्रारम्भ करता है— मैं जब पाँच वर्ष का था, मेरे पिता ने मुझे दार्जिलिंग में एक विशेष विद्यालय में भेज दिया। दो वर्ष मैं वहाँ रहा, फिर वहाँ से मुझको विदेश भेज दिया गया। एक अत्यन्त सहृदय परिवार में मुझको छोड़ दिया गया। मेरी बुद्धि बहुत कुशाग्र देखकर वे मुझसे प्रेम करने लगे। बहुत शीघ्र ही मैं अनेक भाषाओं को पढ़ गया। २१ वर्ष की छोटी अवस्था में ही मैंने I.C.S. परीक्षा पास कर ली। इस प्रकार लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच व अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का पूरा विद्वान् होकर मैं भारत लौटा। यहाँ आने पर किसी राजा ने मुझे अपना सलाहकार नियुक्त कर लिया। विद्या से लगाव होने के कारण अब भी मैंने अपने अध्ययन को जारी

संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

रखा। भारतीय भाषाओं में संस्कृत को प्रमुख जानकर उसको सीखना प्रारम्भ कर दिया। पाँच वर्ष तक अथक परिश्रम करके इस भाषा की कुञ्जी अष्टाध्यायी-महाभाष्य व निरुक्त को पढ़कर वेद-उपनिषद्-आरण्यक-महाभारत आदि पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते एक दिन अन्तःप्रेरणा हुई कि अब कुछ लिखना चाहिए। मैंने अपनी लेखनी उठाई— तीन वर्ष तक निरन्तर लिखता रहा। सब लोगों ने मेरे लेखों को बहुत पसन्द किया। मैं एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् के रूप में जाना-पहचाना जाने लगा। मुझे अपने शोधकार्य पर नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया। विश्व में मेरी ख्याति फैल गयी। दूर-दूर से लोग मुझसे मिलने के लिये आने लगे। मान-सम्मान, धन-वैभव भी पर्याप्त मिला। पर यह सब प्राप्त करके भी अन्दर से अपने आपको पूर्ण सुखी अनुभव नहीं कर पा रहा हूँ। जैसे एक सामान्य व्यक्ति का जीवन होता है— कभी हर्ष, कभी शोक, कभी प्रसन्न, कभी अप्रसन्न; वही मेरे साथ भी हो रहा है। जैसे एक अनपढ़ व्यक्ति वासनाओं और संस्कारों के द्वारा जिधर चलाया जाता है उधर ही चलता रहता है, वह अपनी प्रकृति और विचारों का मालिक नहीं होता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अभिरुचियों, इच्छाओं या कामनाओं का दास बना हुआ हूँ। यह जानते हुए भी कि यह सब जो तेरे द्वारा किया जा रहा है— परिणाम में दुःख ही देने वाला होगा। मैं अपने आपको इससे अलग नहीं कर पाता। Expectation leads to sorrow किसी भी प्रकार की अपेक्षा हमें दुःख की ओर ही ले जाती है— यह बात तो समझ आ रही है। पर उस अपेक्षा से मुक्ति पाने की युक्ति नहीं प्राप्त हो रही। जिन-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्धित हूँ, उनका वियोग असह्य हो जाता है। प्रतिकूल वाणी से मुझ में भी वे ही प्रतिक्रियाएं होती हैं जो एक बिना पढ़े-लिखे हुए व्यक्ति में हुआ करती हैं। जड़ के प्रति आकर्षण मन से निकल ही नहीं पाता। इस प्रकार अन्दर ही अन्दर जलता रहता हूँ और अपने आपको बहुत अशान्त अनुभव करता हूँ।

इस चर्चा में एक मठाधिपति भी सम्मिलित हैं वे भी अपनी आप-बीती सुनाना आरम्भ कर देते हैं— मैं जब बालक ही था, मुझे मेरे पिता ने एक महन्त

साधना पथ

की गद्दी पर चढ़ा दिया। हमारे गुरुजी के पास मेरे जैसे ही और भी हजारों बच्चे रहते थे, मैं भी उनके साथ रहने लगा। कालचक्र में हम सब विकसित होते रहे—अन्त में मेरे व्यक्तित्व और विनम्रतादि से प्रभावित होकर गुरुजी ने मुझे ही अपना उत्तराधिकारी चुन लिया। मठ के पास लाखों एकड़ भूमि और अरबों-खरबों की सम्पत्ति थी, उस सब का मुझे मालिक बना दिया गया। अब मठ में जो भी कुछ होता था मुझसे पूछकर आज्ञा लेकर ही किया जाने लगा। मैंने अपनी क्षमताओं का उपयोग करके मठ को और भी अधिक समृद्ध कर दिया। मठ को शिक्षा जगत् से जोड़कर इंजीनीयरिंग कालेज और मेडिकल कालेज भी बनवाया। अरबों रुपये खर्च करके एक वैज्ञानिक रिसर्च सैन्टर का भी निर्माण कराया। आज उसमें समस्त संसार से चुने हुए लोग आकर नयी-नयी खोज करने में जुटे हुए हैं। मठ की उपलब्धियों को देखकर सारा संसार चकित हो गया। सब ओर से इस विशिष्ट कार्य का श्रेय मुझे ही दिया जाने लगा। पर मैं यह देखता हूँ कि मेरी अन्तरात्मा के लिये मैंने आज तक कुछ भी नहीं किया। वह मेरे अन्दर ही अन्दर तड़फ रही है, इसको शब्दों में रखा ही नहीं जा सकता। लाखों लोग मेरे चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। और जब मैं अपने आपको उनके ही जैसा पाता हूँ तो मेरा कष्ट चरम सीमा पर पहुँच जाता है। मुझे लगता है कि मैं इन करोड़ों लोगों को धोखा दे रहा हूँ। मेरी अतृप्त ऐन्द्रियिक कामनायें मुझे पूरा अशान्त रखती हैं। लोग मेरे लिए गुरुजी, स्वामीजी जैसे बड़े-बड़े पूज्य शब्दों का प्रयोग करते हैं और मैं अपने आपको अपने मन व इन्द्रियों का दास पाता हूँ। जब आन्तरिक कष्ट बढ़ जाता है तो कई बार सोचता हूँ कि यह सब छोड़-छाड़कर सामान्य लोगों की तरह रहने लगूँ पर भोगों का सुख फिर बाधक बन जाता है। 'साँप के मुँह में छछुन्दर' (सुनसुनया) वाली कहावत को चरितार्थ करता हुआ, रोता पछताता हुआ, जैसे-तैसे इस जीवन को पूरा कर रहा हूँ।

मठाधिपति के पश्चात् एक उच्च कोटि के चित्रकार को अपने अनुभव

संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

सुनाने की बारी आती है— बचपन से मुझे चित्र बनाने में गहरी रुचि थी, खाना-पीना भूलकर मैं घण्टों इस काम में लीन रहता था। धीरे-धीरे इस विषय का मुझे बहुत अनुभव हो गया और मैं एक बहुत अच्छा चित्रकार बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय चित्र प्रदर्शनी में मैंने अपने बनाए हुए चित्र रखे। मेरे चित्रों को बहुत सराहा गया। सबके मुख से एक ही बात निकल रही थी कि कितने सजीव हैं ये चित्र। विश्वभर में मेरी ख्याति फैल गयी। एक-एक चित्र के एक-एक करोड़ रुपये देने के लिये कई पार्टियाँ मेरे पास आयीं। आज मेरे पास किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं है। पर फिर भी न जाने क्या कारण है— शान्ति व सन्तोष अनुभव नहीं होता। अनेकानेक इच्छायें बलात् मुझे खींचकर इधर से उधर घुमाती रहती हैं। जब मैं अपना स्वयं का अवलोकन करता हूँ तो ऐसा लगता है कि मैं अपनी इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकता, केवल प्रकृति का एक यन्त्र जैसा बना हुआ हूँ। किसी भी व्यक्ति के मुँह से कोई हलकी बात अपने बारे में सुन लेता हूँ तो बहुत परेशान हो जाता हूँ। वह अपमान का विचार मेरा पीछा ही नहीं छोड़ता। काम-क्रोधादि सब के सब मुझे चारों तरफ से खाते रहते हैं। मेरा एक बहुत सुन्दर पुत्र था, उसका अकस्मात् निधन हो गया— उसके बाद तो यह सारा संसार एकदम नीरस-सा लग रहा है। मेरे सम्बन्धी मेरे विचार में सहयोग नहीं देते हैं तो मुझे बहुत ही बुरा लगता है। बस ऐसी ही कुछ है मेरे जीवन की दुःख भरी कहानी।

इनके बाद एक ऐसा व्यक्ति खड़ा होता है जो सामाजिक कार्यकर्ता है, आयु से बहुत वृद्ध प्रतीत होता है, वह भी अपने जीवन के सुख-दुःख से भरे अनुभव प्रस्तुत करना आरम्भ करता है— मैं विद्यालय में पढ़ते समय अत्यन्त मेधावी छात्रों में से एक था। गाँवों के परिवेश में ही मेरा पालन-पोषण हुआ। जब मेरी पढ़ाई कॉलेज स्तर पर पहुँची तो एक महानगर के सबसे अच्छे महाविद्यालय में मुझे प्रवेश दिला दिया गया। विद्यार्थी काल में ही मुझे नगर व ग्राम दोनों ही प्रकार के जीवन और उनकी समस्याओं से परिचय हो गया। स्नातकोत्तर परीक्षाएँ पास करने पर मैं आई.ए.एस. के लिये तैयारी करने

साधना पथ

लगा। प्रथम बार में ही मैंने सर्वोच्च अंक प्राप्त करके सारे देश भर के विद्यार्थियों को चकित कर दिखाया। अखबार व कई पत्र-पत्रिकाओं में चित्र सहित मेरा परिचय छपा। प्रशासनिक सेवाओं के अपने कार्यकाल में मैंने बहुत सारे लोकोपकार के कार्य भी किये। जनता मुझे देवता की तरह पूजती थी। पदोन्नति होते-होते मैं चीफ कमिश्नर बन गया और वहीं से सेवानिवृत्त होकर जो कि मेरी पहले से ही रुचि थी, समाज सुधार के कार्य में जुट गया। देश-विदेश में मुझे इसके माध्यम से बहुत मान-सम्मान मिला। जगह-जगह मैंने सैकड़ों संस्थाएँ बनायीं और उनमें कुशल प्रबन्धक नियुक्त किये। आज वे सब की सब संस्थाएँ बहुत अच्छी सेवा कर रही हैं। मुझे प्रधानमन्त्री के पास जाना नहीं पड़ता, वे ही मेरे पास आते हैं, योग्य सेवा के लिये मुझसे पूछते हैं। यह सब करने-कराने पर भी बीच-बीच में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं कि मैं अपने दुःखभरे आंसुओं को नहीं रोक पाता। अपने आपको वश में रखने की विद्या से मेरा परिचय नहीं हुआ। अपने बारे में अच्छा सुनता हूँ तो अच्छा लगता है, बुरा सुनता हूँ तो बुरा। क्योंकि इस दुनियाँ में रहते हुए यह तो असम्भव है कि सब के सब अच्छा ही अच्छा कहें। कोई बुरा भी कह ही देता है, उस समय जो कष्ट होता है उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। मैंने सब कुछ किया पर अपने आन्तरिक मनोवैज्ञानिक जीवन को समृद्ध बनाने के लिये न कोई प्रयत्न किया और न ही ध्यान दिया। यह आवश्यक कार्य छूट गया, इसलिए असन्तोष अतृप्ति अनुभव होती है। अब भी कोई मार्ग, कोई दिशा मिल जाए तो उपाय किया जा सकता है।

इन सभी व्यक्तियों की गोष्ठी में एक अत्यन्त प्रशान्त, पूर्ण सन्तुष्ट व तृप्त व्यक्ति भी बैठा हुआ था। जिसको देखने से ही लगता था कि इन्हें जीवन में किसी प्रकार की कोई समस्या शेष नहीं रह गयी। सबने मिलकर इनसे निवेदन किया कि आप बहुत देर से मौन भाव से बैठे हुए हम सब की बातें बहुत ध्यान से सुन रहे हैं। कृपया आप भी कुछ कहिए। उन सबकी प्रार्थना को सुनकर वह व्यक्ति बोलना आरम्भ करता है— देखिए! आप सभी लोग

संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

अपने-अपने विषय के शीर्षस्थ पुरुष हैं। आप सब की उपलब्धियाँ असाधारण हैं इसमें कोई शक नहीं। पर आप लोगों ने अपनी सारी ऊर्जा को एक ही दिशा में लगा दिया है, जिसके फलस्वरूप वह पक्ष तो अत्यन्त समृद्ध हो गया लेकिन दूसरा पक्ष कमजोर पड़ गया। बाह्य परिपूर्णता— विविध भाषाओं का ज्ञान, विज्ञान की चरम उपलब्धियाँ, शरीर-बल, धन-वैभव, सुन्दर रूप, समाज सेवा, कला का विकास, सत्ता की प्राप्ति, विपुल-सम्मान, समस्त भोगों की उपस्थिति— जीवन केवल इतना ही नहीं है; जितना यह बाहर का जगत् है उससे भी कहीं विशाल और जटिल यह अन्दर का जगत् है— मन-बुद्धि-चैत्य (हृत्पुरुष) आत्मा। जैसे बाह्य उपलब्धियों के लिए भारी लगन तथा दृढ़ अध्यवसाय की जरूरत होती है, उससे भी कहीं ज्यादा इस अन्दर के संसार को समझने के लिए अपरिमित धैर्य और साहस तथा मन की तीव्र चाह (अभीप्सा) का होना आवश्यक है।

क्षण-क्षण में सजग रहते हुए समस्त सम्बन्धों के बीच मन में उठने वाली प्रतिक्रियाओं को देखना होता है। सतत प्रयत्न करते हुये मन को वर्तमान काल के साथ ('जो है' के साथ) रखना होता है। इन्द्रियों व अहं की आसक्तिपूर्ण मांगों में छिपे हुए दुःख को बार-बार देखते हुए, उन मांगों को प्रयत्नपूर्वक अस्वीकार करना होता है। अपने आत्मा को (आत्मा के नाम पर मन को नहीं) किसी भी चीज की तुलना में अधिक सम्मान देना होता है। आत्मा के लिए ही यह सब कुछ है, न कि सब के लिये आत्मा— इस दर्शन की आवश्यकता और महत्ता अपने मन को समझानी होती है। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म व शुद्ध उपासना (शुद्ध भक्ति) का स्वरूप ठीक से समझकर मन को इसी के साथ रहना सीखना होता है। विषयों में मिलने वाले सुख व दुःख दोनों का स्पष्ट चित्र सदा अपने पास रखना होता है। अपेक्षाओं से मिलने वाले कष्टों को बार-बार अनुभव करना होता है। वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ परिणाम में दुःख न उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध स्थापित करने होते हैं, अर्थात् जिस-जिस भी सम्बन्ध में दुःख पैदा होता है उसे त्याग ही देना होता है। आत्मा के

साधना पथ

समक्ष मन का समर्पण न कि मन का ही विभाजन करके एक मन का दूसरे मन के समक्ष समर्पण— अपने अनुभव के द्वारा ठीक से समझना होता है। मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने की युक्ति अपने सतत अन्वेषण के द्वारा प्राप्त करनी होती है। चैतन्य व बुद्धि का भेद स्पष्टता से अपने ज्ञान में देखना होता है।

ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप बार-बार अपने मन के सामने रखना होता है। दुःख के कारणों का निरन्तर अवलोकन करते हुए यदि अशुद्ध ज्ञान के कारण दुःख आता है या आ रहा है तो उसे; अशुद्ध कर्मों के कारण दुःख आता है तो उसको और अशुद्ध उपासना के कारण दुःख आता है तो उसको तुरन्त ठीक कर लेना होता है। ‘संयोग का होना नित्य नहीं है, पर वियोग का होना तो एकदम सुनिश्चित है’ इस सत्य को पुनः पुनः समझना होता है। ‘कर्म चित्तशुद्धि के लिए होता है, न कि वस्तु उपलब्धि के लिए’ इस महान् विचार को अपने अन्दर बिठाना होता है। ‘कर्म करते हुए ही कर्म का सम्पूर्ण आनन्द ले लिया जाये, बाकी के लिए कुछ भी न छोड़ा जाये’ इस कर्म विषयक विशुद्ध दृष्टि को प्राप्त करके मन को परिणाम के प्रति अनाग्रही या उदासीनता के भाव में रहने के लिए तैयार करना होता है। केवल कर्मफल के प्रति ही नहीं बल्कि कर्म के प्रति भी मन को अनासक्त रखना होता है, अपने बारे में बाह्य सम्मतियों या असम्मतियों की बजाय पूर्ण सच्चाई युक्त अपनी ही सम्मति को अधिक गौरवशाली मानना सिखाना होता है।

संसार में विधाता ने सबको अलग-अलग योग्यताओं से भरपूर करके भेजा है, सो किसी भी विषय में किसी के साथ प्रतिस्पर्द्धा की व्यर्थता को समझकर मन को पूर्ण अभय रहने का शिक्षण देना होता है। मनुष्य के अस्तित्व के भीतर वर्तमान ईश्वरीय ज्ञान-बल-आनन्द से परिचय प्राप्त करने के लिए अपनी खोज को सतत जारी रखना होता है। बड़ी से बड़ी असफलताओं में भी न घबराकर मन को निरन्तर अपने पथ पर अडिग बने रहने की शिक्षा देनी होती है। जब-जब भी यह मन माया के लुभावने आकर्षण से प्रभावित होकर उधर खिंचने लगे, उसी क्षण असाधारण रूप से सजग हो जाने की विद्या को

संसार भर के शीर्षस्थ व्यक्तियों का असन्तोष

अन्तहीन धैर्य के साथ सीखना होता है। स्वतन्त्रता का वास्तविक स्वरूप और उससे मिलने वाले अनन्य सुख को मन के समक्ष बार-बार रखना होता है। जो इस विद्या को ठीक से समझ लेते हैं वे ही, केवलमात्र वे ही इस दुःख बहुल संसार में ज्ञान-बल-आनन्द की जीती-जागती मूर्ति बने हुए पूर्ण तृप्त व सन्तुष्ट जीवन जीते हैं। इतना कहकर वह तत्त्ववेत्ता ऋषि मौन हो गया।

उस महान् पुरुष की इस सारगर्भित वाणी को सुनकर उनके चरणों में सब के सब प्रणाम करने लगे और अपने जीवन को सार्थक करने के लिए इसी क्षण सबने जीवन को नये ढंग से जीना आरम्भ कर दिया।

* * *

- यह विज्ञानमय पुरुष (जीव) ज्ञान और कर्म के द्वारा पुनर्जन्म की इस अनादि शृंखला में से गुजरता आ रहा है, इसका आश्रय वह परमपुरुष तो इच्छा से, जन्म-परम्परा से, सुख-दुःख से, सदा ही निरपेक्ष रहता है।
- साधक! तू कहता है कि मुझे परम शांति चाहिए, शुद्धज्ञान चाहिए, भीतर का पूर्ण स्वराज्य चाहिए, अविकृत प्रेम चाहिए, पूर्ण निर्भयता व विनम्रता चाहिए, परम सन्तोष व तृप्ति चाहिए, धीरता-वीरता-उदारता और विशालता चाहिए, पूर्ण सहजता व सरलता चाहिए, सत्ता के सभी भागों में पूर्ण सामञ्जस्य व सन्तुलन चाहिए, अन्तर्विरोध का अन्त चाहिए तो तू जो चाहता है वह सब कुछ मिलेगा किन्तु अपनी चाहत में तुझे एक तरफ होना होगा। अपनी चाहत को मिलावट से मुक्त करना होगा। जो कुछ या जितना कुछ तुझे मिलेगा वह तेरी चाहत के अनुपात में मिलेगा, न उससे ज्यादा और न उससे कम। चाहत में अनन्यता यह किसी भी सत्य की उपलब्धि हेतु अत्यावश्यक प्रथम व अन्तिम सूत्र है।
- लाभ व हानि, सुख-दुःख, हर्ष-शोक प्रतिकूलताएँ व अनुकूलताएँ, मान-अपमान जब व्यक्ति को एक समान प्रतीत हों तो समझ लो कि इस नर देह में नारायण ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया है।

४०४०४०४

१४७

३४. योगयुक्त मन

योग विषयक कई परिभाषायें प्राचीन शास्त्रों में मिलती हैं—

‘समत्वं योग उच्यते’ (गीता)। समता ही योग है।

‘योगः कर्मसु कौशलम्’ (गीता)। कर्मों में कुशलता ही योग है अर्थात् कर्म तो करें पर वे हमारे लिए बन्धन न बनें।

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ (योगदर्शन)। चित्तवृत्तियों को रोकना ही योग है।

‘युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः’ (यजुर्वेद)

ज्ञानी, विद्वान् महान् परमेश्वर में अपने मन व अपनी बुद्धि की वृत्तियों को युक्त करते हैं ।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। (कठोपनिषद्) विद्वान् लोग उस स्थिति को योग नाम से जानते हैं जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तब साधक प्रमाद रहित हो जाता है, योग शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों के नाश का नाम है।

ये सभी परिभाषायें अपने-अपने ढंग से योग के स्वरूप पर बड़ा ही उत्तम प्रकाश डालती हैं। जब यह कहा जाता है— ‘समता ही योग है’ तो इसका यह तात्पर्य होता है कि वस्तु-व्यक्ति व विचार के द्वारा प्रभावित हो रहे मन को बचाकर रखना, सन्तुलन में रखना, मन को उन प्रभावों से सर्वथा मुक्त रखना। जिन चीजों से सुख मिलता है उनके प्रति राग और जिन से दुःख मिलता है उनके प्रति द्वेष हो जाता है। कभी उस-उस वस्तु व्यक्ति व विचार से जुड़ा हुआ, उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ-हुआ उसे ही अपना स्वरूप समझकर उसकी वृद्धि में अपनी वृद्धि और उसकी हानि में अपनी हानि समझने लगता है। इस संसार में रहते हुए कभी मृत्युभय, कभी प्रतिष्ठा के चले जाने का भय, कभी सत्ता के छिन जाने का भय, कभी व्यापार में घाटा आ जाने का भय, कभी किसी के नाराज हो जाने का भय, कभी रोग भय, कभी

योगयुक्त मन

चोरभय, कभी सहयोग न मिलने का भय, इत्यादि अनेकानेक भयों से आक्रान्त होकर मन अपनी शान्ति खो बैठता है। अविवेक के कारण शब्द-स्पर्शादि विषयों में महान् सुख देखता हुआ उनको पाने के लिए चञ्चल हो उठता है तथा उनके न मिलने पर या जितना चाहता है उतनी मात्रा में न मिलने पर, जब चाहता है उस समय न मिलने पर अथवा जितने उत्तम प्रकार का चाहता है उतने उत्तम प्रकार का न मिलने पर अत्यन्त क्लेश अनुभव करता है। जिससे अपनी समता को खो बैठता है।

सो उस उपाय-विशेष का नाम योग है जिससे इन विविध प्रसंगों में मन की समता भंग न हो। वह उपाय व्यक्ति को अपने अन्दर अपने ही सतत प्रयास से खोजना होता है। ऊंचे से ऊंचे शास्त्र या महापुरुष केवल उसके लिये संकेत कर सकते हैं और किये भी हैं, पर वे उस उपाय को हमारे हाथ में नहीं पकड़ा सकते। जैसे अग्नि है तो उसके साथ ताप और प्रकाश भी है, उसी प्रकार चित्त है तो उसमें अच्छी बुरी वृत्तियों का प्रवाह भी अवश्य होगा। सो साधक को यहीं से अपनी साधना की शुरुआत करनी होती है कि चित्त में चल रही उन वृत्तियों को अशुभ से हटाकर शुभ की ओर एक उचित दिशा दे दी जाए। यह शुभ वृत्ति है या अशुभ, इसका निर्धारण करने में शास्त्र, महापुरुष, योगीजन, अपनी अन्तरात्मा (न कि आत्मा के नाम पर मन) तथा अपना स्वयं का अनुभव ये सभी मदद करते हैं। जो इनके द्वारा समर्थित या इनके अनुकूल होता है वह शुभ तथा जो इनसे असमर्थित या इनके प्रतिकूल है वह अशुभ नाम से जाना पहचाना जाता है। ‘योगो हि प्रभवाप्ययौ’ कहकर उस उपाय की ओर ही संकेत किया गया है जिससे अशुभ संस्कारों का नाश (अप्यय) होता है व शुभ संस्कारों की वृद्धि (प्रभव) होती है।

मन व इन्द्रियाँ जब पूर्ण रूप से स्थिर होते हैं, तो उसी अवस्था में व्यक्ति को अप्रमत्त (प्रमादरहित, जागरूक, सजग) कहा जाता है, और यह स्थिति योग के द्वारा ही उपलब्ध की जाती है, की जा सकती है। अपने ही प्रवाह में यदि विचारों का मन में आना-जाना हो रहा है या इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों

साधना पथ

को ग्रहण करने में रुचि ले रही हैं तो समझ लेना चाहिए कि वे स्थिर नहीं हैं। कल की घटना से यदि आज भी मन प्रभावित हो रहा है, बार-बार वे ही बातें मन में घूम रही हैं, व्यक्ति उन्हें छोड़ नहीं पा रहा है, तो यह चञ्चल तथा अस्थिर मन का ही लक्षण कहा जायेगा। और दूसरी तरफ मन पूर्ण स्थिर तब कहा और समझा जा सकता है जब कितनी भी बड़ी घटना घट जाये पर अगले ही क्षण मन उसके प्रभाव से मुक्त रह सके। वस्तुओं, व्यक्तियों व विचारों की दुनिया में रहता हुआ व्यक्ति, यदि वह चाहे तो प्रतिक्षण अपनी जांच-पड़ताल कर सकता है कि उसका मन हर्ष-शोक, हानि-लाभ, मान-अपमान में स्थिर रहता है या अस्थिर हो जाता है।

यदि इन प्रसंगों के घटित होने पर अगले क्षण भी इनकी याद आती रहती है, अभी जो अपमान हुआ वह पाँच मिनट बाद भी स्मृति में पुनः पुनः आ रहा है, इसी क्षण हुई-हुई हानि या शोक व्यक्ति का पीछा ही करते चल रहे हैं, तो यही समझना चाहिए कि अभी मन अस्थिर ही है। जो जितना शीघ्र इन प्रभावों को हटा देने में समर्थ होता है, वह उतना ही बड़ा योगी-सिद्ध या ज्ञानी पुरुष होता है। इस सारे विवेचन से यही बात उभर कर आई कि स्थिर मन में ही भूतकाल से मुक्त रहने की क्षमता होती है, मन जितना अस्थिर होता है उतना ही अधिक भूतकाल में उसका भ्रमण चलता है।

एक दूसरे बिन्दु से भी मन की स्थिरता-अस्थिरता का आकलन किया जा सकता है, वह है— भविष्य की कल्पनाएं। अस्थिर मन में भविष्य के विचार अधिक आते रहते हैं। भविष्य के विषय में कोई सुस्थिर निर्णय लेने के लिए विचार करना— एक अलग बात है, मार्ग या लक्ष्य का निर्धारण तो होना ही चाहिए। उसमें कुछ हानि नहीं है बल्कि बल ही मिलेगा, पर जो यह मन बहुधा व्यर्थ ही भावी योजनाओं में अपने को खोए रखता है, कुछ दिन बाद दूसरी ही योजनाएं आ जाती हैं, फिर तीसरी, फिर कुछ और। मन की अस्थिरता के कारण ही यह सब होता रहता है। वर्तमान क्षण का नाम ही शाश्वत है। ज्ञानपूर्वक उसके साथ रहने वाला मन ही शान्त व स्थिर कहा जा सकता है।

योगयुक्त मन

वर्तमान क्षण में यदि मन किसी वस्तु व्यक्ति या विचार के साथ आसक्तिपूर्वक जुड़कर उससे सुख ले रहा है तो उस मन को भी शान्त नहीं कहा जा सकता। अत्यन्त जड़ता से युक्त तमोग्रस्त मन का भी, फिर बेशक वह वर्तमान क्षण में ही रहे— शान्त व स्थिर इन शब्दों से कथन नहीं होता। यों तो पूर्ण निद्रा में अथवा किसी नशे की अवस्था में या फिर पागल अवस्था में मन का वर्तमान क्षण में रह पाना सम्भव है, पर इन सब स्थितियों से गुजर रहे मन को शान्त नहीं कह सकते। किसी भी अभीष्ट वस्तु या व्यक्ति के साथ मिलन समय में भी मन पूर्णरूप से भूत और भविष्यत् से हटा हुआ होता है, फिर भी शान्त नहीं होता। सो वर्तमान क्षण में भी रहे, पर पूर्ण ज्ञान के साथ, केवल मात्र उसी अवस्था में मन को 'शान्त' इस उपाधि से विभूषित हुआ-हुआ माना जा सकता है।

ये अभी-अभी ऊपर प्रदर्शित मन की सब की सब स्थितियाँ तो अज्ञानमय ही होती हैं। अतः उन स्थितियों से युक्त वर्तमान क्षण में भी रहने वाला मन अशान्त या अस्थिर ही कहा जायेगा। इस प्रकार पूर्ण सचेतन व जागरित रहते हुए मिथ्या ज्ञान से मुक्त वर्तमान क्षण में मन की ज्ञानमय स्थिति को 'स्थिर-मन' यह नाम दिया जा सकता है। यही वैराग्य है। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए किये गए समस्त प्रयत्नों का नाम अभ्यास है। वैराग्य तो निश्चित रूप से मन की सहज शान्त ज्ञानमय स्थिति का नाम है, अतः उस अवस्था में तो किसी भी प्रकार के भार या कष्ट का अनुभव होने का प्रश्न ही नहीं उठता, पर उस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए किया गया मार्ग का श्रम, चाहे वह कितना भी कठिन तथा साथ में कितने भी लम्बे समय तक करना पड़े, जिन व्यक्तियों में किञ्चित् मात्र भी थकावट लाने वाला व ऊब (Boredom) पैदा करने वाला नहीं होता, केवल मात्र ऐसे लोग ही इस दुर्धर्ष कार्य को कर पाने में समर्थ होते हैं। पराजय की कठिन घड़ी में भी जिनके पैर नहीं डगमगाते, कठिनाइयों को देखकर उनसे डरने या घबराने की बजाय उनका मुकाबला करने के लिये और अधिक उत्साह-साहस व वेग जुटा पाने में समर्थ होते हैं, तपस्या के कष्ट को जिन्होंने अपनी आत्मा का भोजन ही बना लिया है, केवल एक मात्र ऐसे लोग ही इस मार्ग में टिक पाते हैं, अन्त में सफलता उनके चरण चूमती है।

३५. श्रद्धा भक्ति प्रेम

ये एक माता हैं जो साधु-महात्माओं के प्रति बहुत श्रद्धा रखती हैं। एक बार उन्होंने एक बहुत बड़े सन्त को अपने घर भोजन के लिये निमन्त्रित किया। प्रातः बहुत शीघ्र ही उठकर रसोई में लेपन आदि करने के बाद अत्यन्त श्रद्धा व मनोयोग के साथ भोजन बनाने में जुट गयी। लगभग बीसियों प्रकार के व्यञ्जन बनाए और सब के सब एक से एक स्वादिष्ट। इन सबको बनाने में समय लगा सात घण्टे। निर्धारित समय पर स्वामी जी आ पहुँचे। आसन लगा दिया गया तथा श्रद्धापूर्वक भोजन परोस दिया गया। माता बहुत प्रसन्न है कि आज स्वामी जी से एक-एक व्यञ्जन पर खूब प्रशंसा प्राप्त होगी। पर इन महात्माओं की मौज का क्या ठिकाना? स्वामीजी ने सब व्यञ्जनों को जितना अपने लिए पर्याप्त समझा, एक ही जगह इकट्ठा कर लिया और खाने लगे। स्वामीजी उनकी श्रद्धा व श्रम से पूर्ण सन्तुष्ट थे, पर माता को एक विशेष सीख देना चाहते थे, अतः प्रशंसापरक एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया।

स्वामीजी के इस व्यवहार को देखकर माता थोड़ी उदास हो गयी, भोजन परोसने से पहले जो उत्साह था वह मन्द पड़ गया। स्वामीजी ने माता की उदासी को भाँप लिया और कहने लगे— “देखो! यदि हम इसलिए देना चाहते हैं कि हमें भी कुछ मिले तो यह देना नहीं बल्कि व्यापार हो जाता है और देना जब ‘विशुद्ध देना’ होता है तो वह समर्पण हो जाता है। देने वाला जब कुछ भी अपेक्षा रखकर देता है और वह अपेक्षा उसकी पूरी नहीं होती तो देने का सारा रस ही समाप्त हो जाता है। यदि हम सेवक हैं और सेवा के बदले कुछ चाहते हैं तो वह सेवा सेवा न रहकर एक सान्त फल को देने वाला कर्ममात्र रह जाती है। उस सेवा से प्राप्त फल के द्वारा हम अपने मन-इन्द्रियों व शरीर को, अधिक से अधिक अपने अहं को तृप्त कर सकते हैं, उस फल के द्वारा कभी भी हमारी अन्तरात्मा तृप्त नहीं हो सकती।

यदि हम भक्त हैं किसी मूर्त फल के लिये भजन कर रहे हैं तो वह भक्ति बहुत सम्भव है निराशा में बदल जाए। कोई सच्चे अर्थ में सेवक,

श्रद्धा भक्ति प्रेम

भक्त या दाता है तो वहाँ निराश होने के लिए एक क्षण का भी अवकाश नहीं। यही बात एक सच्चे प्रेमी या श्रद्धालु पर घटती है। श्रद्धा-भक्ति-प्रेम ये सदा बढ़ने वाली ही चीजें हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब इनके पीछे कोई भी लौकिक हेतु नहीं होता। लौकिक सम्बन्धों के प्रसंग में जब इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो इनको कम होते हुए और घटते हुए भी देखा जाता है। संसार में यह बहुधा सुनने को मिल जाता है—जैसा पहले अमुक व्यक्ति के प्रति मेरा श्रद्धा-भक्ति-प्रेम था वैसा अब नहीं रहा, उसका कारण यही है कि वहाँ कोई न कोई इच्छा या अपेक्षा एक साथ रहती है। वह जब पूरी नहीं होती तो प्रेम कम हो जाता है, श्रद्धा टूट जाती है। अतः ऐसा लगता है—अन्तरात्मा (चैत्यपुरुष) ईश्वर या शाश्वत के संदर्भ में ही इन शब्दों का प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप से ये चीजें बढ़ने वाली ही होंगी। वहाँ भी यदि मन में कोई लौकिक इच्छा रखकर ईश्वर को समर्पित हो रहा है तो उसका समर्पण दिनों दिन बढ़ता ही रहेगा—यह असम्भव है।

किसी भी प्रकार की लौकिक कामना (धन-वैभव, प्रतिष्ठा, सत्ता-शक्ति, पुत्र-शिष्यादि) से मुक्त होकर जो अपने आप को समर्पित कर देता है, भक्ति में जुट जाता है, प्रेमी हो जाता है तो निश्चित रूप से ऐसे ज्ञानी की श्रद्धा-भक्ति-प्रेम बढ़ते ही रहेंगे। इस बात को कोई किसी भी समय अनुभव करके देख सकता है। अतः जो चाहते हैं कि उनकी श्रद्धा-भक्ति-प्रेम अब भी और आगे भी अर्थात् कालान्तर में भी निराशा में बदलने वाले न हों, उन्हें लेने के लिए नहीं देना चाहिए, बल्कि देते ही रहना चाहिए और कुछ लेते भी हैं तो वह, भी देने के लिए ही होना चाहिए। व्यक्ति के द्वारा अपनी आत्माग्नि में कर्म के रूप में आहुतियाँ दी जाती रहें तो इस प्रक्रिया से कर्म व कर्मफल की आसक्ति से मिलने वाले दुःख से बचा जा सकता है, क्योंकि उस अवस्था में कर्त्ता को कर्म के द्वारा कुछ पाने की चाह नहीं होती है।

• वह 'निरपेक्ष' है, किन्तु हम जीव चाहें तो उससे युक्त होकर रह सकते हैं और अपनी समस्त समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

• 'प्रार्थना' है हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व की एक ही माँग, हमारी अन्तिम आवश्यकता, हमारे परम गन्तव्य का संज्ञान।

३६. ब्रह्मचारी-विषयचारी का भेद

आज हमारी खोज का विषय है— मनुष्य का ब्रह्मचारी होना सहज है या विषयचारी? अर्थात् ब्रह्म, ज्ञान, आत्मा या स्वस्वरूप में स्थित रहना सहज है अथवा स्त्री-पुत्र-परिवारादि दूसरे में? इस प्रश्न का हल ढूँढने के लिये हमें थोड़ा सा पीछे से चलना पड़ेगा। इस संसार में दो प्रकार के लोग देखने में आते हैं— एक ब्रह्मचारी दूसरे विषयचारी। ब्रह्म में विचरण करने वाला, किसी विद्या विशेष में रमण करने वाला, किसी बड़ी चीज के लिए प्रयत्नशील, जीवन की सार्थकता को ढूँढने में लगा हुआ, अपने मनोवैज्ञानिक स्वरूप को समझने के प्रयत्न में जुटा हुआ, अपने और दूसरों के लिये सदा प्रसन्नता देने वाले कर्तव्य कर्मों की खोज में निरत व्यक्ति 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है। इसके विपरीत जो इन सब कामों में रुचि न लेकर अपने मन व इन्द्रियों की मौज को पूरा कर रहा है; व्यर्थ वार्ता और व्यर्थ के कामों में रस ले रहा है; किसी तरह समय पास करने के लिए ताशादि खेलने में मस्त रहता है; टी.वी., रेडियो या अखबार जैसी उथली चीजों से अपने अकेलेपन को भरना चाहता है; उच्च पद, शक्ति व प्रतिष्ठा पाने में ही जीवन की सार्थकता समझ रहा है; मनोरंजन या हंसी-मजाक से अपने आपको प्रसन्न रख रहा है; अन्दर की बजाय बाहर से अपने आपको परिपूर्ण देखना चाहता है; एक-शब्द में वर्तमान में सुख व परिणाम में दुःख देने वाले क्रियाकलाप व व्यवहारों में अपनी ऊर्जा का अपव्यय कर रहा है तो ऐसे व्यक्ति को 'विषयचारी' इस नाम से जाना पहचाना जाता है।

जब व्यक्ति ब्रह्मचारी होता है तो वह विषयचारी नहीं होता और जब विषयचारी होता है तो ब्रह्मचारी नहीं होता। एक ही समय में एक साथ दोनों चीजें नहीं होतीं। हाँ! यह तो हो सकता है कि कुछ व्यक्ति ब्रह्मचारी अधिक रहते हैं, विषयचारी कम और दूसरे विषयचारी अधिक होते हैं, ब्रह्मचारी कम। कुछ ऐसे भी होते हैं जो सदा विषयचारी बनकर ही सम्पूर्ण जीवन बिता देते हैं,

ब्रह्मचारी-विषयचारी का भेद

उन्हें ब्रह्मचारी रहने और उसके आनन्द लेने का सौभाग्य नहीं मिलता। परम सौभाग्यशाली तो वे लोग होते हैं जो सदा-सर्वदा सर्वथा ब्रह्मचारी ही रहते हैं, जब से वे जग जाते हैं, एक क्षण के लिए भी उसके बाद अपने जीवन में विषयचारी बनने का अवसर नहीं आने देते। ऐसे तपःपूत महान् आत्माओं ने ही जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझा है। आनन्द, दया, प्रेम, शक्ति, ज्ञान, पवित्रता, शान्ति, अभय व स्वतन्त्रता के मूर्त रूप बने हुये वे लोग दुःखों में जल रहे मानव समाज को सही दिशा देने में समर्थ हो पाते हैं। अर्थ और काम में अन्धे हुए जन समुदाय को ये लोग ही आँखें प्रदान कर उन्हें तृप्त कर देने वाले होते हैं। इन लोगों को देखकर ही विश्वासियों का विश्वास दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है कि मनुष्य के अन्दर अपार शक्तियाँ छिपी हुई हैं, केवल उन्हें प्रकट करने वाले चाहिए। चूँकि इन लोगों ने अपनी तीव्र अभीप्सा, समस्त अशुभ के अस्वीकार व समर्पण से अपनी सम्पूर्ण सत्ता में अपने मन, प्राण, शरीर व इन्द्रियों में भगवान् के दिव्य ज्ञान, बल व आनन्द को उतार लिया है अतः वे 'अवतार' इस नाम से पुकारे जाने लगते हैं।

किन्तु क्या कारण है कि मनुष्य स्व-जीवन के आरम्भकाल में अपने स्वरूप में, अपने शुद्ध ज्ञान में या ब्रह्म में स्थित न होकर स्त्री-पुत्रादि में स्थित होना चाहता है? सम्पूर्ण चेतन और अल्पचेतन या अर्द्धचेतन समझी जाने वाली सृष्टि अर्थात् मनुष्य, पशु व वृक्ष जगत् की मूल प्रवृत्तियों की जांच-पड़ताल की जाती है तो मुख्य रूप से दो चीजें सामने आती हैं— स्वरक्षा और स्वजाति की रक्षा। अन्य जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे इन्हीं दो में ही समाविष्ट हो जाती हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-द्वेष इत्यादि इन दो के ही विविध रूप हैं। बच्चा पैदा होते ही दूध क्यों पीना चाहता है? क्यों रोता है और क्यों हँसता है? थोड़ा बड़ा होते ही क्यों खेलना चाहता है? क्यों विविध इन्द्रिय-भोगों में अपना मन लगाता है? क्यों मकान बनाता है? क्यों वह अपार धन सञ्चय करना चाहता है? क्यों वह नेता बनकर दूसरों का नेतृत्व करना चाहता है? क्यों वह विद्या पढ़ता है? क्यों दूसरों को पढ़ाता है? क्यों विविध योजनाएँ बनाता है? क्यों वृक्षारोपण करता है, क्यों उन्हें काटता है? क्यों अन्न पैदा करता है? क्यों

साधना पथ

चोरी करता है? क्यों भ्रष्टाचार करता है? क्यों पशुपालन करता है? क्यों मजदूरी करता है? जीवन के जो भी रूप हो सकते हैं— 'पर' या 'अवर'। इन सब के मूल में एक ही बात है— 'हमारा अस्तित्व बना रहे'। जो लोग केवल मात्र अपने भौतिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपने-अपने कर्म में या अपने व्यापार में निरत हैं वे ही हैं, 'विषयचारी'। अर्थात् अपनी और अपनी जाति की नस्ल को जीवित रखना और आगे बढ़ाना तथा अपने को जीवित रखने के लिए जो भी आवश्यक साधन सामग्री है उसे जुटाना। उपर्युक्त सूची में कुछ कर्म शुभ की श्रेणी में आते हैं, कुछ चोरी इत्यादि अशुभ की। कहना अनावश्यक है कि शुभ कर्म यदि स्वार्थ रहित होकर, समष्टि (सह-अस्तित्व) के हित की दृष्टि से किए जाते हैं तो वे सब कर्म करते हुए व्यक्ति को 'ब्रह्मचारी' ही कहा जाएगा।

- जीवात्मा का यह सामर्थ्य है कि वह चाहे तो प्रकृति के साथ एकरूप होकर रहे और वह चाहे तो परम-आत्मा के साथ एकत्व में रहे। यह स्वाभाविक है कि दोनों स्थितियों में परिणाम अलग-अलग होंगे। प्रकृति के साथ एकरूप होने में सुख, दुःख व मोह तीन चीजें मिलती हैं जबकि परमात्मा के साथ एकत्व में अमिश्र आनन्द, शुद्ध ज्ञान, विशुद्ध प्रेम, परम शान्ति, अन्दर की माँग तथा बाह्य जीवन के बीच सन्तुलन अर्थात् कर्म के बीच रहते हुए भी निर्लिप्तता, दुःखों का अन्त या अन्तर्विरोध का अन्त, निर्भयता, समग्र दृष्टि, विशालता, सरलता इत्यादि।
- स्तुति है उसका महिमागान। स्तुति ही वह साधन है जो हमें उस अदृश्य तत्त्व की अनुभूति करने के लिए तैयार कर देती है।
- उपासना है उपास्य के साथ एकरूपता, अभिन्नता। वह चिन्मय अवस्था जहाँ द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, भोक्ता-भोग्य के अविद्यायुक्त का अन्त हो जाता है।
- हम भौतिक रूप से सुरक्षित हैं, सभी प्रकार के अभावों से मुक्त हैं, तो अवश्य ही कोई न कोई हमारे लिए अपने जीवन की आहुति दे रहा है।

३७. पारस्परिक समस्याओं का समाधान

यह एक गुरुकुल है। बहुत सारे नौजवान ब्रह्मचारी यहाँ पढ़ते हैं। युवावस्था में शरीर, मन व इन्द्रियों में गति (क्रिया) की अधिकता का होना स्वाभाविक है। सांख्य का सिद्धान्त है जब मन में अव्यवस्थित गति (चञ्चलता) की अधिकता होती है तो प्रकाश और स्थिति कम हो जाती है। प्रकाश की कमी होने पर व्यक्ति को यह पता नहीं चलता कि कितना बोलना चाहिए, कितनी ऊँची आवाज में बोलना चाहिए, कब क्या बोलना चाहिए, सत्य और असत्य में से सत्य को ही चुनना चाहिए, अन्य इन्द्रिय विषयों के बारे में भी इसी दिशा से समझ लेना चाहिए। सो ब्रह्मचारी परस्पर कभी-कभी ऊँची आवाज में झगड़ पड़ते हैं। एक दिन किसी ब्रह्मचारी के बारे में दूसरे ब्रह्मचारियों ने मिलकर उनके आचार्य से शिकायत की कि अमुक ब्रह्मचारी झगड़ा करता रहता है। उनके आचार्य ने उनको कहा— देखो! मनुष्य का जीवन अहंकार आधारित (Ego-based) है। ऐसे में समाधान के दो रास्ते हैं— एक है शक्ति का, दूसरा ज्ञान व प्रेम का। या तो आप उससे शक्तिशाली बनकर उसका नियन्त्रण करें या ज्ञान और प्रेम के द्वारा अपने और उसके अहंकार को विगलित कर दें। शक्ति के समक्ष अहंकार तब तक ही झुक कर रह सकता है जब तक उसकी मजबूरी है। कभी-कभी तो अपना सर्वनाश करके भी झुकना नहीं चाहता। स्थान छोड़ना पड़े तो छोड़ सकता है, युद्ध करना पड़े तो युद्ध कर सकता है। अहंकार को एक ही चीज से भय रहता कि मैं पराजित न हो जाऊँ, शेष सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है। डार्विन ने सब जातियों का अध्ययन करके जो यह नियम निकाला कि Survival of the fittest (योग्यतम की उत्तरजीविता) यह शब्दान्तर से अहंकार का ही चित्रण प्रस्तुत किया है। हाँ! ज्ञान या प्रेम के समक्ष अहंकार अवश्य ही अपना अस्तित्व खो बैठता है।

सत्य को सत्य के रूप में जानने का नाम ज्ञान है और दूसरे को महत्व देने का नाम प्रेम है जबकि अपने को महत्व देना अहंकार है। ज्ञान व प्रेम के

साधना पथ

सामने अहंकार ऐसे ही तिरोहित हो जाता है जैसे प्रकाश के समक्ष अन्धकार। प्रेम के माध्यम से अहंकारी के निकट पहुँचा जा सकता है, और प्रेम के साथ उसके अहंकार की यथार्थता का उद्घाटन किया जा सकता है। किन्तु इस प्रक्रिया में ध्यान रखने की बात यही है कि हमारे अहंकार से दूसरे का अहंकार आहत न हो।

अपनी बात को जारी रखते हुए आगे आचार्य कहते हैं— यदि कोई सच्चाई के साथ चाहता है कि यह सृष्टि संघर्ष, कलह, झगड़ा व समस्त विकारों से मुक्त हो जाए तो उसे पहले अपने अन्दर इस बात को देखना होगा की इन सब का मूल क्या है? कारण की खोज करनी होगी। जैसे कि वैद्य लोग सबसे पहले रोग के कारण को ढूँढ़ते हैं, आयुर्वेद की भाषा में इसे 'निदान' कहा गया है। निदान हाथ लगने पर रोग का उपचार हो ही जाता है।

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ संघर्ष का तो एक ही कारण है— 'अहंकार', दूसरे शब्दों में 'प्रेम का अभाव'। जहाँ प्रेम है वहाँ अहंकार को कोई स्थान है ही नहीं, इसी प्रकार अहंकार के रहते प्रेम को स्थान नहीं। अपने मूल में तो मनुष्य प्रेममय है और प्रेम में एकत्व है, किन्तु मूल से बिछुड़ने पर व्यक्ति को सब इकाइयाँ अलग-अलग दिखाई देती हैं। उनके बीच परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं दिखता अर्थात् उन सब इकाइयों में व्यक्ति किसी भी प्रकार के परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव एवं उपजीव्य-उपजीवक भाव को नहीं देख पाता। यहीं से समस्या शुरू हो जाती है। किन्तु प्रेम को ये इकाइयाँ एक दूसरे की पूरक दिखाई देती हैं, इसलिए प्रेम के लिए कोई समस्या नहीं। अहंकार में भेद है— प्रेम में अभेद है। व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि जगह-जगह एक बात बहुत कहते रहते हैं 'यथाऽभेदस्तथाऽस्तु'। हमारा लक्ष्य है— अभेद। अभेद है एकत्व। संसार के सभी गम्भीर लोग एकत्व के ही उपासक होते हैं। एकत्व में पूर्ण विश्राम है। द्वैत में संघर्ष अवश्यंभावी है। एकत्व में ही शान्ति है।

३८. साधक का सुरक्षित स्थान

पाणिनि-व्याकरण में एक उदाहरण देखने को मिलता है— ‘अयानयीनः शारः’। व्याकरणभाष्यकार के समय में एक खेल द्यूत-क्रीड़ा के रूप में खेला जाता था। आमने-सामने दो खेलने वाले बैठ जाते हैं— बीच में एक द्यूतफलक रखा होता है। उसमें बहुत सारे खाने बने होते हैं। एक द्यूतकार की अपेक्षा से शार (गोटे) का प्रदक्षिण गमन (दाहिने हाथ की ओर) होता है जिसे ‘अयः’ कहते हैं। और दूसरे की अपेक्षा से उसी शार का प्रसव्य (बायें हाथ की ओर) गमन होता है जिसे रूढिवश ‘अनयः’ कहा जाता है। ‘शार’ यह एक अन्वर्थ संज्ञा है— शृणन्त्येभिर्द्यूतकारा परस्परमिति शाराः’ अर्थात् द्यूतकार जिनके द्वारा परस्पर एक दूसरे के शारों (गोटों) को मारते हैं, पीटते हैं वह वस्तु ‘शार’ नाम से कही जाती है। एक ऐसा भी स्थान विशेष होता है जहाँ पहुँचने पर एक के शार प्रतिद्वन्द्वी के शारों को पीट नहीं सकते। सव्य-अपसव्यगामी शारों की वैसी गति के द्वारा ‘प्राप्त-स्थान’ विशेष शारयुगादि स्थान को अयानय शब्द से कहा जाता है। यद्यपि अयानय शब्द गतिविशेषवाची है तो भी लक्षणा से स्थान विशेष को भी कह दिया जाता है। जो शार परशार भय से सुरक्षित स्थान में पहुँचाने योग्य होते हैं वे ‘अयानयीनाः शाराः’ कहे जाते हैं। भाष्यकार के शब्द हैं— प्रदक्षिणप्रसव्यगामिनां शाराणां यस्मिन् परैः पदानामसमावेशः स अयानयः। (भा० ५.२.९) अयानयं नेयः— अयानयीनः शारः। अर्थात् द्वितीय द्यूतकारसम्बन्धी शारों के द्वारा स्थानविशेषों के मध्य जिस स्थानविशेष में असमावेश=अनध्यासन=अनतिक्रमण=अतिक्रमण का अभाव होता है वह स्थान अयानय है। या तो ‘अयसहितोऽनयः’ इस उत्तरपदलोपी तत्पुरुष के रूप में ‘अयानय’ को समझ सकते हैं या फिर ‘अयश्चासावनयः— अयानयः’ कर्मधारय समास के रूप में। कौन सा है वह स्थान विशेष जहाँ शार मारा नहीं जाता, इसके उत्तर में कहा जाता है कि द्यूतकारों की यह एक विशेष मर्यादा है—

साधना पथ

ससहायस्य शारस्य परैर्नाक्रम्यते पदम् ।

असहायस्तु शारेण परकीयेण बाध्यते ।।

जब कोई भी शार किसी स्थान विशेष में ससहाय (दूसरे के साथ) होता है तो उन ससहाय शारों को दूसरे द्यूतकार से सम्बन्धित शार नहीं मार सकते, नहीं पीट सकते। किन्तु यदि कोई असहाय शार है तो दूसरे के शार के द्वारा बाधित हो जाता है, मारा जाता है।

इस व्यवस्था के साथ द्यूतकारों की यह भी एक मर्यादा है कि द्यूतफलक के केन्द्र में तथा गोटों (शार) के गमन मार्ग में चार स्थानों पर कुछ ऐसे सुरक्षित स्थान बने हुए होते हैं जहाँ पहुँचने पर किसी भी शार को मारा नहीं जा सकता। किसी शार के केन्द्र में पहुँचने पर 'अयानयीनः शारः' इस शब्द का प्रयोग होता है, इसका अर्थ किया गया है— 'फलकशिरसि स्थिता इत्यर्थः' अर्थात् शार द्यूतफलक के केन्द्र (सुरक्षितस्थान) में पहुँच गया है।

यह तो हुआ एक दृष्टान्त या रूपक। इससे हम दार्ष्टान्त या निरूपणीय विषय पर आते हैं। हम जीवगण हैं खिलाड़ी। सम्पूर्ण अस्तित्व है द्यूतफलक। दो पक्षों में विभाजित शुभ और अशुभ वृत्तियाँ हैं द्यूतक्रीड़ा के साधन शार।

द्यूतकारों की मर्यादा हमने ऊपर दर्शायी— कोई भी शार जब ससहाय हो जाता है तो वह दूसरे शार के द्वारा नहीं मारा जाता। हमारे चित्त की शुभवृत्तियाँ जब दूसरी शुभवृत्तियों के साथ रहती हैं अर्थात् जब वे सत्य के साथ, भगवान् के साथ, धर्म के साथ, सत्य शास्त्रों के साथ, समर्थ गुरु आदि के साथ होती हैं तो अशुभवृत्तियों के द्वारा मारी नहीं जा सकतीं। कोई भी शुभ वृत्ति जब अकेली पड़ जाती है तो अशुभ वृत्ति उसे तत्काल मार डालती है। अशुभ वृत्ति भी जब अकेली होती है तो शुभ वृत्ति के द्वारा आसानी से मार डाली जा सकती है। पर प्रायः कोई भी अशुभ वृत्ति अकेली नहीं आती— अपने पूरे दल बल के साथ, अपने पूरे गिरोह के साथ आती है। जैसे 'काम' कभी अज्ञान के साथ, कभी लोभ के साथ, कभी मोह के साथ, कभी ईर्ष्या के साथ, कभी अहंकार के

साधक का सुरक्षित स्थान

साथ आता है अतः उसे खदेड़ना, मारना मुश्किल हो जाता है। सो असत्य अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ जब कभी सत्य पर धावा बोले तो आवश्यकता है सत्य को अपना सुरक्षित स्थान खोज लेना चाहिए। अवश्य ही हमारे अस्तित्व के केन्द्र में वैसा सुरक्षित स्थान है जैसा कि द्यूतफलक के केन्द्र में एक ऐसा स्थान होता है जहाँ पहुँचने पर प्रतिद्वन्द्वी शार का आक्रमण निष्क्रिय हो जाता है। जीवन में भी शुभवृत्तियों या अक्लिष्टवृत्तियों को अशुभवृत्तियों अथवा क्लिष्टवृत्तियों की चपेट से बचाने के लिए यह करना ही होगा। यही एक उपाय है, और कोई रास्ता नहीं – ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’।

• हमारे अन्दर दो आत्माएँ हैं। एक आत्मा तो व्यष्टिरूप है जिसमें इच्छा पैदा होती है, जो प्रयत्न करता है, जो सुखी-दुःखी होता है, जो ठीक या गलत को जानता है, जो अभी बन्धन में है, ये आत्मायें संख्या में अनन्त हैं, न बढ़ती हैं न घटती हैं। दूसरा है समष्टिगत (सर्वगत) आत्मा जो सदा ही एकरस अनादि अनन्त है, समस्त प्रपञ्च से मुक्त है, जो कि सब व्यष्टिरूप आत्माओं में ‘व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध’ से वर्तमान है, ‘यह’ व्याप्य है, ‘वह’ व्यापक है। व्यष्टि आत्माओं के साथ उस व्यापी आत्मा का ‘उपास्य-उपासक सम्बन्ध’ भी है, ‘यह’ उपासक है और ‘वह’ सबका उपास्य। एक और भी सम्बन्ध है जिसे ‘आश्रय-आश्रयिभाव सम्बन्ध’ नाम दिया गया है। व्यष्टि आत्मा का ‘वह’ आश्रय है, ‘यह’ व्यष्टिरूप आत्मा उस परम आत्मा पर आश्रित है। इस व्यष्टिरूप आत्मा को जीव या जीवात्मा भी कहते हैं। इनमें से ‘यह’ सकाम, ‘वह’ अकाम है। ‘वह’ सदा ज्ञानमय है, ‘यह’ कभी ज्ञानी कभी अज्ञानी। ‘वह’ सदा आनन्दमय, ‘यह’ कभी सानन्द कभी निरानन्द है। ‘वह’ असीम है, ‘यह’ परिच्छिन्न। ‘वह’ सदा प्रेममय है ‘यह’ कभी प्रेमी कभी द्वेषी। ‘उसका’ ज्ञान सदा एक रस रहता है, ‘इसका’ ज्ञान बदलता रहता है। उपनिषद् साहित्य में इसे विज्ञानमय पुरुष कहा गया है, ‘वह’ तो केवल ज्ञानरूप है ज्ञान के सिवाय कुछ है ही नहीं।

४०४०४०४

३९. श्रवण-मनन-निदिध्यासन

इस सृष्टि में मनुष्य एक ऐसी इकाई है जो स्वयं को यथार्थरूप में जानना चाहती है, अन्तःसत्य को समग्रता से समझना चाहती है। परन्तु उस ज्ञान की चरमोपलब्धि तक पहुँचने में तीन बाधाएँ हैं— पहली बाधा है 'असम्भावना' दूसरी है 'विपरीतभावना' और तीसरी है 'परोक्षता'। इन बाधाओं को समझकर जब तक इनके निराकरण का उपाय नहीं खोजा जायेगा तब तक सत्य उपलब्ध नहीं होगा। इसलिए आइये! इनके स्वरूप तथा इन बाधाओं को कैसे दूर किया जाये— इस विषय में कुछ चर्चा करते हैं।

अन्तिम आधारभूत सत्य क्या है? मैं कौन हूँ? ब्रह्म क्या है? मोक्ष का क्या स्वरूप है? धर्म और उसका फल क्या है? स्वर्ग क्या है? यदि व्यक्ति को इन सब अतीन्द्रिय विषयों के बारे में शास्त्रवचन या गुरुजनों की वाणी सुनने को न मिले तो उसे ये सब विषय असम्भव दिखाई देते हैं, इसी कारण उसके मन में इस प्रकार के प्रश्नों के लिए खोज या जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होती। उसके समक्ष कभी ऐसी चर्चा चल भी जाये तो अन्दर से यही प्रतिक्रिया होती है कि 'अरे! कुछ नहीं सब बकवास है', उसे ये सब विषय काल्पनिक लगते हैं। निरन्तर शास्त्र अथवा महापुरुषों की वाणी को सतत श्रद्धापूर्वक सुनने से असम्भावना रूप बाधा हट जाती है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि शास्त्रकार असम्भव बातों का उपदेश नहीं करते। अब व्यक्ति इन सब विषयों को असम्भव कहना तो छोड़ देता है किन्तु उसके समक्ष सन्देह, संशय या विपरीतभावना रूप दूसरी बाधा आ खड़ी होती है। व्यक्ति इस भाषा में सोचने लगता है कि ये सब चीजें हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं। इस बाधा को हटाने के लिए व्यक्ति को मननशील होना पड़ता है। मनन करने से, विचार करने से व्यक्ति के संशय धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं, उसे अब यह निश्चय हो जाता है कि शास्त्रकारों ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण सत्य है, वे लोग भ्रान्तिरहित अनुभूत सत्य का ही कथन करते हैं। किन्तु अब भी व्यक्ति के

श्रवण-मनन-निदिध्यासन

लिए ये सब उपर्युक्त चीजें परोक्ष बनी रहती हैं, प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं होतीं। इस परोक्षतारूप बाधा को दूर हटाने के लिए व्यक्ति को ध्यानसम्पन्न (अन्तर्मुख) होना होता है। इस सब को एक श्लोक के द्वारा इस रूप में कहा गया है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ।।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं— ‘आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति।’ सरलार्थ यह है कि जो आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं उन्हें धैर्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, तप-ब्रह्मचर्य-विद्यापूर्वक श्रवण-मनन व निदिध्यासन (चित्त की अन्तर्मुखीन वृत्ति=ध्यान) का सतत अभ्यास करना चाहिए, सतत अवलम्बन लेना चाहिए।

• कर्मकेन्द्रित व्यक्ति सृजन नहीं कर सकता। सृजन तो केवल ज्ञानी ही कर सकता है। सृजन से तात्पर्य है कर्म करते हुये ही कर्म का सम्पूर्ण आनन्द ले लेना, जैसे कि कोई चित्रकार एकान्त में अपने भावों को चित्रित कर रहा हो। पुरस्कार पाने की कामना या किसी प्रलोभन से किया गया कर्म सृजन के अन्तर्गत नहीं आता।

• हमारे व्यक्तित्व के मूल में दो चीजें हैं— पुरुष व प्रकृति, (स्थिति व गति)। पुरुषनिष्ठ स्थिति के धरातल पर प्रकृतिनिष्ठ गति कार्यरत है। स्थिति का आश्रय लेने से शान्ति व ज्ञान (निश्चयेयस) मिलता है, आन्तरिक जीवन पूर्ण होता है। गति के आश्रय से जीवन में पुण्यसञ्चय होता है, बाह्य जीवन पूर्ण होता है। पुण्यों का फल लौकिक सुख (अभ्युदय) के रूप में प्रतिफलित होता है जबकि ज्ञान का पर्यवसान मुक्ति या वैराग्य (किसी भी वस्तु-व्यक्ति-विचार-घटना-परिस्थिति में रागरहितता) में होता है। सभी महान् आत्माओं की स्थिति तो एक ही होती है— किन्तु गति अवश्य ही पृथक्-पृथक् होती है।

४०४०७७७

१६३

४०. तप व कर्म— ज्ञान के प्रकाशक

‘सिध्यतेरपारलौकिके’ (अ० ६.१.४९) सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने ‘तपस्तापसं सेधयति, ज्ञानमस्य प्रकाशयति; स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति, ज्ञानमस्य प्रकाशयन्ति’, ये उदाहरण दिये हैं। पहले उदाहरण का अर्थ है तप तपस्वी को ज्ञान-सम्पन्न कर रहा है अर्थात् उसके ज्ञान को निर्मल कर रहा है। इसी प्रकार दूसरे का अर्थ है— इस तपस्वी के अपने कर्म ही इसको ज्ञान से आलोकित कर रहे हैं। भाष्यकार ने एक दूसरी जगह भी कहा है— तपःश्रुतञ्च योनिश्चैतत् ब्राह्मणकारकम् अर्थात् तप, श्रुतज्ञान और ज्ञानी माता-पिता ये ऐसे साधन हैं जो मनुष्य को ब्रह्मवित् बना देते हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, मनुस्मृति, रामायण-महाभारत सब-के-सब शास्त्र इस विषय में निर्विवादरूप से एकमत हैं।

वेद में कहा है— अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत । (ऋग्० ९.८३.१) जिसका तन तप से तपा नहीं ऐसा कच्चा साधक उसे नहीं प्राप्त कर पाता है। जिन्होंने अपने कर्तव्य कर्मों का ठीक से वहन किया है ऐसे पके हुए ही उसे प्राप्त करते हैं। भद्रमिच्छन्त ऋषयःस्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। (अथर्व० १९.४१.१) सुख के स्वरूप को याथार्थ्येन समझने वाले ऋषि लोग कल्याण की इच्छा करते हुए प्रथम तप व दीक्षा को प्राप्त होते हैं। यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। (अथर्व १९.४३.१) ब्रह्मवित् दीक्षा और तप के साथ जीवन जीते हुए मोक्ष धाम में जाते हैं। अथर्ववेद के अकेले ब्रह्मचर्य सूक्त (११.५) में ही लगभग १५ बार ‘तपसा’ शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद (९.११३.२) में कहा है— ‘ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परिस्रव’। यथार्थ बोलने से, सत्याचरण से, श्रद्धा और तप से निष्पन्न शमादिगुणयुक्त संन्यासिन्! आध्यात्मिक ऐश्वर्य के लिए तू सब ओर से प्रवाहित हो। मनुस्मृति में कहा गया है— विद्यातपोभ्यां भूतात्मा (५.११९) अर्थात् विद्या और तप से भूतों का आत्मा शुद्ध होता है।

तप व कर्म— ज्ञान के प्रकाशक

तथा मनुस्मृति (५.१०५) में कहा है— ‘ज्ञान, तप, मन=विचार, कर्म’ ये मनुष्यों के शुद्धिकर्ता हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में तप को ब्रह्म के जानने का एकमात्र साधन बतलाते हुए तप को साक्षात् ब्रह्म ही कह दिया है— ‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।’ अथर्ववेद (१२.५.१) मन्त्र में कहा है— ‘श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वितर्ते श्रिता’ अर्थात् ईश्वर ने श्रम=परमप्रयत्न तथा तप=धर्मानुष्ठान से युक्त मनुष्यों को रचा है।

तप के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठक के अनुवाक ८ में कहा गया है— ‘ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मतद् उपास्वैतत् तपः।’ ऋत अर्थात् यथार्थ तत्त्व को मानने; सत्य बोलने; श्रुत=सब विद्याओं को सुनने; शान्त=उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव को धारण करने में सदा प्रवृत्त रहना ही ‘तप’ है। शम, दम, दान, यज्ञ और प्रेम-भक्ति से तीनों लोकों में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी तप कहते हैं। महाभारत में प्रश्नोत्तर शैली में कहा गया है— ‘केन विन्दते महत्? तपसा विन्दते महत्।’ अर्थात् वह क्या साधन है जिससे मनुष्य को महान् चीजों की उपलब्धि होती है? तप ही उसका एकमात्र साधन है ऐसा उत्तर दिया गया। योगदर्शन में ‘तप’ को क्रियायोग के एक अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठक १० के ६२ वें अनुवाक में तप के बारे में कहा— ‘तप इति तपो नानशनात् परमं यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षं तद् दुराधर्षं तस्मात् तपसि रमन्ते’ अर्थात् भोगों से पूर्ण विरत होने का नाम ही तप है, जो यह परम तप है यह अत्यन्त कठिन काम है इसलिए ज्ञानी पुरुष तप में रमण करते हैं। आगे ६३ वें अनुवाक में कहा— ‘तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान् प्रणुदामरातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् तपः परमं वदन्ति।’ अर्थात् देवों ने तप के द्वारा ही देवत्व को प्राप्त किया, ऋषियों ने तप के द्वारा स्वर्गलोक=आनन्दमय अवस्था को पाया, तप के द्वारा ही काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को व अदान भावों को नष्ट किया अतः तप में सब कुछ को प्रतिष्ठित कहा है, इस कारण

साधना पथ

तप को विद्वान् लोग ज्ञान का अति उत्कृष्ट साधन बताते हैं।

तप का अर्थ है मन प्राण व शरीर की उर्जा (Energy) को पुञ्जीभूत करना, दूसरे शब्दों में तप है क्रिया की उग्र अवस्था (Activity in Climax)। महाभारत में कहा है— ‘मनस इन्द्रियाणाञ्चैकाग्र्यं परमं तपः’ अर्थात् मन व इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है। यह तप जितना-जितना बढ़ता जाता है उसी अनुपात में ज्ञान का आविर्भाव भी अधिकाधिक होता रहता है। योगशास्त्र में मन की चरम एकाग्रता रूप अवस्था को समाधि कहा है, एक अर्थ में यह परम तप की अवस्था है। दूसरे स्थान में ‘प्राणों को सदा सरल व शान्त रखने’ को तप के रूप में स्वीकृत किया है। यह प्राणों की शान्ति शरीर के स्थिर होने से भी उपलब्ध होती है, सेवाभाव से किये गये निष्काम कर्मों से भी यह शान्ति प्राप्त होती है और मन के स्थिर होने से भी प्राण स्थिर हो जाते हैं। तन स्थिर, प्राण स्थिर, मन स्थिर, बिन्दु (वीर्य) स्थिर इनमें से किसी भी एक के स्थिर होते ही उस समय अन्य भी स्वतः ही स्थिर हो जाते हैं।

मन, प्राण व शरीर से जो कर्म किये जाते हैं वे यदि किसी लौकिक कामना को लक्ष्य कर किये जायें तो सकामता के कारण उन-उन कर्मों के परिणामस्वरूप राग-द्वेष भी बनते रहते हैं। राग-द्वेष अज्ञान से पैदा होते हैं, वे आगे फिर अज्ञान को ही जन्म देते हैं। किन्तु जब कामनामुक्त होकर कर्म किये जाते हैं तो उनसे न राग बनता है न द्वेष। इसीलिए उन कर्मों से स्वाभाविक रूप से अहं का बन्धन भी (कर्तृत्वाभिमान या करणाभिमान) ढीला होता रहता है। अहंकारमुक्त कर्म पूजा, अर्पण या हविः बन जाते हैं, इन्हीं कर्मों को महान् पुरुषों ने ‘दिव्य कर्म’ यह नाम दिया है। ‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः’ गीताकार ने इन्हीं कर्मों के सन्दर्भ में यह दिव्य घोषणा की है कि मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपने अन्तःस्थ भगवान् का पूजन करके सिद्धि को प्राप्त करता है। पतञ्जलि और मनु ने जो कर्मों को शुद्धिकर्त्ता कहा है, ज्ञान का प्रकाशक कहा है, वह उन्हीं निष्काम भाव से किये गये कर्मों के लिए कहा है जो एकमात्र अन्तर्यामी को आहुतिरूप भेंट चढ़ाये जा रहे हैं। इस प्रकार कामना प्रेरित कर्म अशुद्धि व अज्ञान के जनक होते हैं और अन्तःप्रेरित कर्म अथवा दूसरे शब्दों में किसी भी एषणा

तप व कर्म— ज्ञान के प्रकाशक

से मुक्त होकर किये गये कर्म उत्तरोत्तर ज्ञान के जनक होते हैं, यह सर्वदा याद रखना चाहिए।

* * *

- हम अपनी अन्तर्निहित पूर्णता को समझें और उसको परम पुरुषार्थ के द्वारा बाहर लायें। दूसरे से स्पर्द्धा क्यों? जब हम अपने आप में अद्वितीय (Unique) हैं।
- जीवन के दो रूप हैं— कर्मकेन्द्रित व ज्ञानकेन्द्रित। आइये! हम इन दोनों रूपों का अध्ययन करते हैं कि जीवन के ये रूप किस अर्थ विशेष की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। कर्मकेन्द्रित जीवन कर्म को प्रधानता देता है तो ज्ञानकेन्द्रित जीवन ज्ञान को। कर्मकेन्द्रित जीवन में कर्म किये जाते हैं, जबकि ज्ञानकेन्द्रित जीवन में कर्म होते हैं। कर्मकेन्द्रित जीवन का 'मात्रा' पर ध्यान होता है कि 'कोई कितना कार्य कर रहा है', जबकि ज्ञानकेन्द्रित जीवन का ध्यान होता है 'प्रकार' (गुणवत्ता) पर कि कर्म में 'कितनी निर्लेपता' है। कर्म केन्द्रित जीवन अपने कर्म का बाह्य दुनिया में मनोऽनुकूल परिणाम (Result) देखना चाहता है, जबकि ज्ञानकेन्द्रित जीवन का लक्ष्य कर्म के द्वारा अपने चित्त की शुद्धि होती है फिर बेशक बाह्य जगत् में कर्म से होने वाला परिणाम कम या ज्यादा जो भी हो रहा हो। कर्मकेन्द्रित जीवन को जब किसी कारणवश कर्म करने को नहीं मिल रहा हो तो वह बैचेन हो जाता है, जबकि ज्ञानकेन्द्रित जीवन में ऐसी परिस्थिति में भी वह अपनी शान्ति में विराजमान रहता है। कर्मकेन्द्रित जीवन के मूल में कोई न कोई स्थूल या सूक्ष्म कामना अवश्य रहती है, ज्ञानकेन्द्रित जीवन का टिकाव उसकी मूल भित्ति 'अकामता' पर होता है। कर्मकेन्द्रित जीवन की व्यक्तिगत उपलब्धि को एक शब्द में रखा जाये तो वह होता है 'पुण्यों का सञ्चय' जबकि ज्ञानकेन्द्रित जीवन का ध्येय होता है— 'शुद्धि-मुक्ति-आनन्द व पूर्णता'। कर्मकेन्द्रित जीवन लोक में कर्म के द्वारा 'बड़प्पन' पाना चाहता है, ज्ञानकेन्द्रित जीवन 'आन्तरिक प्रसन्नता व सन्तोष'।

४१. ज्ञान व कर्म

यजुर्वेद के ब्रह्म अध्याय में जिसका दूसरा नाम ईशोपनिषद् है, बहुत सारे विरोधों का समन्वय करके दिखाया है। जैसे— ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः’ ‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि----- न कर्म लिप्यते’ ‘अनेजदेकं मनसो जवीयः’ ‘तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्’ ‘तदेजति तन्नैजति’ ‘तद्दूरे तद्वन्तिके’ ‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः’ ‘सर्वभूतान्यात्मनि’ ‘सर्वभूतेषु चात्मानम्’ ‘सर्वाणि भूतानि-आत्मैव’ ‘विद्याञ्चाविद्याञ्च’ ‘सम्भूतिञ्च विनाशञ्च’ ‘योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्’ इत्यादि। आज हमारे विचार का मुख्य बिन्दु है विद्या-अविद्या अर्थात् ज्ञान व कर्म। यजुर्वेद के इस ४० वें अध्याय के ९वें, १०वें व ११वें मन्त्र में इस विषय का उद्घाटन किया गया है। ९वें मन्त्र में कहा कि वे लोग गहन अन्धकार में जाते हैं जो केवल कर्म की उपासना में लगे हैं और साथ में यह भी कह दिया कि वे उससे भी गहरे अन्धकार में जाते हैं जो केवल ज्ञान की उपासना में लगे हैं, फिर १०वें मन्त्र में कहा— कर्म की उपासना का फल अलग है और ज्ञान की उपासना का अलग। आगे कहा है— ऐसा हमने उन धीर पुरुषों के मुख से सुना है जिन्होंने हमारे समक्ष इस विषय का व्याख्यान किया है। ११वें मन्त्र में विषय के उपसंहार में दोनों बातों का समन्वय करते हुए कहा— जो विद्या और अविद्या (कर्म) को साथ-साथ जानते हैं वे अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु के दुःख को लाँघकर विद्या अर्थात् ज्ञान से अमृत को प्राप्त कर लेते हैं।

सत्य का साक्षाद् द्रष्टा सदा यह कहना चाहता है कि ज्ञान से रहित होकर जो मनुष्य कर्म करते हैं, कर्म उन्हें अपने कठोर बन्धन में बाँध लेते हैं। कर्म के साथ जब कोई भी लौकिक कामना जुड़ जाती है, चाहे वह सत्ता प्राप्त करने की कामना हो या सम्पत्ति पाने की या अन्य सुख-सुविधाओं को पाने की या सम्मान पाने की, कामना-मात्र कर्म को सकाम बना देती

ज्ञान व कर्म

है। कर्म जब सकाम हो जाता है तो कर्म को करने वाला अपनी उस-उस कामना को पूरा करने के लिए अवशभाव से उस-उस कर्म को पुनःपुनः करता है। इस प्रकार मनुष्य में जड़ता बढ़ती जाती है। यही तो कर्म का बन्धन है कि वह व्यक्ति को बेबस और मजबूर कर देता है और व्यक्ति अपने अन्तर्वासी शुद्ध चैतन्य से अधिकाधिक बेहोश होता जाता है। सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान और इन्द्रिय सुखों को विविध प्रकार से पाने की यह लालसा दिनानुदिन बढ़ती जाती है। इससे कामना-पूर्ति में सहायक लोगों के प्रति राग और विरोधियों के प्रति द्वेष की शृङ्खला चालू हो जाती है। अज्ञान के कारण अहङ्कार क्रियाशील हो उठता है। अहंप्रेरित कर्म 'अहं' को अधिकाधिक मजबूत करते जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप रागज (राग से उत्पन्न होने वाला) कर्माशय, मोहज कर्माशय, द्वेषज कर्माशय, शारीर कर्माशय का ढेर इकट्ठा हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जो सकाम कर्म करने में लगे हैं उनका अज्ञान आगे-आगे बढ़ता ही जाता है। मन्त्र में दूसरी बात कही— जो शास्त्रों को सुनने, जानने व समझने में निरत हैं किन्तु उस ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं करते अर्थात् केवल मन्त्रवित् होकर सन्तुष्ट रह जाते हैं, आगे आत्मवित् होने के लिए चेष्टा नहीं करते उनकी तो और भी बुरी गति होती है। आचार्योपदेश और शास्त्र श्रवण को अपने अनुभव का अङ्ग बनाने के लिए जब प्रयास किया जाता है और जब वह चरितार्थ भी होने लगता है तो सहज ही निष्कामता आ जाती है। कर्म निष्काम तभी होते हैं जब ज्ञान की अग्नि कामना को जला दे ('ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' गीता) यह ज्ञान की अग्नि ही है जो कर्म को अकर्म में बदल देती है। किन्तु अनुभव रहित सुना हुआ ज्ञान व्यक्ति को संशयरहित, संदेहरहित, कामरहित या भ्रान्तिरहित नहीं कर पाता इसीलिये मन्त्र में कहा गया है कि वे तो और भी गहरे अन्धकार में, अज्ञान में चले जाते हैं, क्योंकि जिन्होंने कुछ सुना नहीं, जाना नहीं, समझा नहीं पर श्रद्धालु हैं उनके जानने समझने की कुछ सम्भावना रहती है किन्तु

साधना पथ

जो शास्त्र व आचार्योपदेश के बाद भी मनन व निदिध्यासन नहीं करते, एक शब्द में श्रद्धावान् नहीं हैं केवलमात्र तर्कबुद्धि के सहारे चल रहे हैं वे तो सदा के लिए अपना रास्ता बन्द कर लेते हैं।

वे ही जीवन के अन्तिम गन्तव्य तक पहुँचते हैं जो अपने अन्दर सचेतन रहते हुए अकाम होकर शास्त्रविहित कर्म करते रहते हैं। कर्म से चित्त की शुद्धि और अशुद्धि दोनों ही होती रहती है। सकामता से चित्त अशुद्ध और निष्कामता से शुद्ध होता जाता है। शुद्ध चित्त ही अमृतत्व का अधिकारी होता है।

एक अन्य दृष्टि से भी इन मन्त्रों को समझा जा सकता है। जो केवल अपराविद्या में लगे हुए हैं, वे गहन अन्धकार में जाते हैं; किन्तु जो अपराविद्या को छोड़ केवल पराविद्या में डूब जाते हैं उनकी भी वही गति होती है क्योंकि जीवन को उन्होंने समग्रता में नहीं देखा। जीवन आत्मा और शरीर का समुच्चय है। आत्मा का भोजन ज्ञान है और शरीर का भोजन कर्म। अपराविद्या से जहाँ बाह्य जीवन परिपूर्ण होता है, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अभ्युदय बढ़ता है, वहीं पराविद्या जीवन की आन्तरिक पूर्णता के लिए आवश्यक है, निःश्रेयस की प्राप्ति में सहयोगी होती है। पराविद्या आँखें हैं तो अपराविद्या पैर हैं। पराविद्या स्थिति है तो अपराविद्या गति है। पराविद्या रसस्वरूप है तो अपराविद्या बलस्वरूप। एक अर्थ में पराविद्या साध्य है, अपराविद्या साधन। साधन ही नहीं है तो साध्य कहाँ से मिलेगा? एक यह भी बात है— आचार्योपदेश, शास्त्र श्रवण और तदनुसार मननपूर्वक प्रथमतः अपराविद्या उपलब्धि की जाती है। फिर सतत निदिध्यासन से पराविद्या की उपलब्धि होती है। अपराविद्या मार्ग है, पराविद्या लक्ष्य की सम्प्राप्ति। अपराविद्या मन व शरीर में उत्साह भरती है, पराविद्या आत्मा में शान्ति, आनन्द व प्रेम। अपराविद्या पार्थिव लोक है, पराविद्या द्युलोक; बिना धरती पर चलना सीखे कैसे सीधे आकाश की तरफ उड़ान भर सकते हैं। आध्यात्मिक व नैतिक विषयों को भी पहले बुद्धि से समझना

ज्ञान व कर्म

अपराविद्या के अन्तर्गत आता है, तत्पश्चात् उन बुद्धि से समझे हुए विषयों को अपने प्रत्यक्ष अनुभव में लाया जाना, जिया जाना व वैसा हो जाना पराविद्या के द्वारा साधित होता है। सो मन्त्र में इस दृष्टि से भी यह बात कही गई हो सकती है कि जो लोग बिना अनुभवी गुरु-आचार्यों का सहारा लिए अपने मन माने ढंग से सीधे पराविद्या की शरण लेते हैं वे सत्य को उपलब्ध नहीं कर पाते क्योंकि अन्तःसत्य की पूर्ण उपलब्धि के लिए अपने से पूर्ववर्ती अनुभवी गुरुओं के मार्गदर्शन की परम आवश्यकता है।

- मुक्ति में दोहरी क्रिया घटित होती है— जड़ से सम्बन्ध विच्छेद और अपने चिन्मय स्वरूप की उपलब्धि।
- जड़ से सकारात्मक घनिष्ठता या सकारात्मक सम्बन्ध ही राग है और नकारात्मक सम्बन्ध द्वेष। जड़ के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का न होना ही स्वरूपस्थिति है अर्थात् जड़ में स्थित न होना ही स्वरूप में स्थित होना है।
- जो भी प्रकाशित होता है वह जड़ है— वृत्तियाँ, विचार, इच्छायें, भावनायें इत्यादि, तथा जो प्रकाशक है वह चेतन। प्रकाश्य से प्रकाशक की अभिन्नता का बोध ही अज्ञान है। प्रकाश्य से पृथक् केवल प्रकाशक का ही शेष रह जाना ज्ञान है। अज्ञान का फल बन्धन व ज्ञान का फल मुक्ति।
- समग्र के साथ सम्बन्ध (विभाजनरहित सम्बन्ध) ही प्रेम है। अंश के साथ सम्बन्ध (विभाजनपूर्ण सम्बन्ध) ही राग है। विशुद्ध प्रेम अंशतः जड़ के साथ घनीभूत हुए सम्बन्ध को हटाने में सक्षम है। प्रेम की स्थिति में अंश कुछ बचता ही नहीं, सब कुछ समग्र हो जाता है।
- प्रेम वह तत्त्व है जो सब कुछ को चिन्मय रूप में देखता है।
- ध्याता के सामने से ध्येय का पूर्णरूप से हट जाना या ध्येय के साथ तद्रूप हो जाना ही ध्यान की पराकाष्ठा है।

४०४०७७७

४२. शिष्ट या आप्तपुरुष कौन ?

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६.३.१०९ सूत्र भाष्य में प्रसङ्गवश भाष्यकार ने 'शिष्ट' इस पद की व्याख्या की है। प्रश्न पूछा शिष्ट कौन हैं? उत्तर दिया—वैयाकरण०। कैसे? क्योंकि शास्त्रपूर्विका शिष्टि (शब्दों का अनुशासन) होती है और वैयाकरण शास्त्रज्ञ होते हैं। अर्थात् शिष्ट पद की प्रवृत्तिनिमित्तभूत जो शिष्टि है, जो शासन है, वह शास्त्रज्ञानपूर्वक होता है। इस पर आपत्ति उठाई यदि शास्त्रपूर्विका शिष्टि है और शिष्टिपूर्वक शास्त्र है अर्थात् शिष्टशासनपूर्वक पृषोदरादि शास्त्र है तो यह इतरेतराश्रय हो गया, इतरेतराश्रय कार्य तो होते नहीं। इस आपत्ति से बचने के लिए निवास और आचार को आधार बनाकर शिष्टों के स्वरूप का निश्चय किया गया जो आर्यों के निवासस्थान आर्यावर्त में रहते हैं तथा जिनका आचरण भी विशेष है। शिष्टों के आचरण की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं— 'एतस्मिन् आर्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः।' कुम्भी (घड़े) में ही धान्य है जिनका ऐसे जो ब्राह्मण (अपरिग्रही ब्राह्मण), सर्वथा भीतर से ही अलोलुप, दम्भादि से पूर्णतः विवर्जित, किसी भी लाभ-पूजा-सम्मानादि दृष्ट कारण के बिना ही सदाचारानुवर्ती, किसी बाह्य विशेष सहयोग के बिना ही किसी विद्याविशेष में पारङ्गत हैं वे शिष्ट कहे जाते हैं। भर्तृहरि ने इस सत्य को अपने शब्दों में इस रूप में प्रकट किया—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्। अतीतानागतं ज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशेष्यते।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।

योगाभ्यास के द्वारा अविद्या के नाश हो जाने से जिनके अन्दर ज्ञान का आविर्भाव हो गया है, विहितकर्म के अनुष्ठान से जिनका अन्तःकरण निर्मल व स्थिर हो गया है ऐसे ज्ञानियों का अतीत या अनागत (भविष्यत्) ज्ञान साधारण लोगों के प्रत्यक्ष ज्ञान से अलग नहीं होता अर्थात् उनका अतीत-अनागत ज्ञान भी प्रत्यक्ष जैसा ही होता है।

शिष्ट या आप्तपुरुष कौन ?

बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मतम विषयों को तथा दूसरे लोग जिन विषयों को मन से भी उपलब्ध नहीं कर सकते, उन सब सूक्ष्म भावों (तत्त्वों, विषयों) को भी जो अपने योगाभ्यास सहकृत दिव्य चक्षु से देख पाते हैं, उनके वचनों को, उनके ज्ञान को शिष्टवचन से विरुद्ध अनुमान के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता।

चरक में कहा गया है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यम् वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

(चरक सूत्र स्थान अ० ११.१८-१९)

तपोबल और ज्ञानबल से जो रजस् (चञ्चलता=अतिक्रिया) और तमस् (जड़ता=क्रियाराहित्य) से मुक्त हो गये हैं, जिनका निर्मल ज्ञान तीनों कालों में सदा अव्याहत रहता है, अबाधित रहता है उनको शिष्ट, आप्त, विबुद्ध इन नामों से जाना जाता है। उनके वाक्य सत्य होते हैं, संशय रहित होते हैं। रजस् व तमस् से रहित हुए-हुए वे लोग किस हेतु से असत्य बोलेंगे? रजस् व तमस् के कारण ही तो व्यक्ति असत्य भाषण करते हैं या तो चञ्चलता (Haste) अर्थात् मन के स्थिर न होने से व्यक्ति के अन्दर अनेकानेक कामनाएँ उठ खड़ी होती हैं अतः उन कामनाओं के वशीभूत होकर असत्य बोलता है या तमस् के कारण मोहाभिभूत होने से चीजों को ठीक से देख ही नहीं पाता अतः मिथ्या बोलता है। जब शिष्ट पुरुषों में ये दोनों ही स्थितियाँ नहीं होतीं तो वे क्यों असत्य बोलेंगे?

• अपने चिन्मयस्वरूप से अतिरिक्त कुछ भी चाहने का नाम 'कामना' है। कामना से काम्य विषय के साथ एक विशेष सम्बन्ध हो जाता है। उस सम्बन्ध के होते ही व्यक्ति अपने चिन्मयस्वरूप से हट जाता है।

४३. शास्त्र

सम्पूर्ण सृष्टि का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यहाँ सब चीजें एक दूसरे की पूरक हैं, एक दूसरे की सहयोगी हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के रूप में पञ्चभूत, नदी-पर्वत, मेघ-मालाएँ, वृक्षादि, पशु इत्यादि सभी में कितना सामञ्जस्य है, सन्तुलन है, सहयोग है, यह सब देखते ही बनता है। मनुष्य को छोड़कर सारा का सारा सर्ग सुसंवादी है, संगीतमय है। उसका कारण है प्रकृतिप्रदत्त व्यवस्था या सहज ज्ञान से वे सब नियन्त्रित हैं। वे जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं। वहाँ ज्ञान का विकास या हास नहीं है। उनका आहार नियत है, प्रजनन नियत है, सोना-जागना नियत है और कार्य नियत हैं। मनुष्येतर सभी योनियाँ अन्दर बाहर से एक रूप रहती हैं, वे अपने आन्तरिक भाव और विचार को छिपाकर नहीं रख सकते, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि विचार तो उनके पास होते ही नहीं, भाव होते हैं, वे आलम्बन के अनुसार उदय और अस्त होते रहते हैं। उनके 'मैं' में केवल जीने की आशा मात्र होती है? ('मैं' की माँगें कभी हों कभी न हों ऐसा नहीं होता, 'मैं' की जो भी माँगें होती हैं वे सतत होती हैं) अतः उनके मैं की यह माँग भी उनमें सतत बनी रहती है। समय-समय पर उनके शरीर की माँगें (Biological needs) भोजन, पानी, नींद, घूमना-फिरना, प्रजनन आदि होती रहती हैं। इतनी मात्र उनकी माँगें यदि पूर्ण होती रहती हैं तो इससे आगे उन्हें कुछ नहीं चाहिए। बस वे तृप्त रहते हैं।

किन्तु मनुष्य की स्थिति अलग है। मनुष्य में मन और बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण वह सोचने लगता है, अच्छे बुरे का विचार करता है, विचार-सामर्थ्य के बढ़ जाने के कारण उसके अपने ज्ञान के अनुसार अलग-अलग दिशाओं में इच्छाएँ भी बढ़ जाती हैं। उसका 'मैं' पशुओं के 'मैं' की तरह केवल जीना मात्र नहीं चाहता बल्कि ज्ञान-समाधानपूर्वक जीना चाहता है, सम्बन्धों में स्वस्थतापूर्वक व सहजतापूर्वक जीना चाहता है। अपनी आन्तरिक माँग व बाह्य जीवन के बीच सन्तुलन

शास्त्र

चाहता है। जीवन को संगीतमय देखना चाहता है।

जीवन के इस चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के लिए, प्रज्ञा की वह निर्मल ज्योति, वह अन्तःप्रकाश जब तक प्राप्त नहीं हो जाता तब तक व्यक्ति को बाह्य प्रकाश में जीना होता है। गुरुवचन, शास्त्रवचन, परम्परा, सब बाह्य प्रकाश के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि महापुरुषों व गुरुजनों के अनुभव और उनके अन्तःप्रकाश का स्थूल वैखरी वाणी में प्राकट्य ही शास्त्र कहा जाता है, तो भी किसी अध्येता या श्रोता के लिए तो वह प्रकाश बाहर का ही है। पातञ्जल महाभाष्य में शास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कई एक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनकी हमारे जीवन के सौन्दर्य के लिए अपरिमित आवश्यकता है। भाष्यकार कहते हैं— ‘निवर्तकं शास्त्रम्’ (महाभाष्यम् १.१.१) शास्त्र व्यर्थ की चीजों को हमारे जीवन से हटा देता है, अनावश्यक का मिश्रण जीवन के सौन्दर्य में बहुत बाधक है। एक और सूचना है— ‘न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था।’ (महाभाष्यम् ६.१.१३५) अर्थात् शास्त्र का काम व्यवस्था करना है, न कि अव्यवस्था। व्यवस्था का ही दूसरा नाम शास्त्र है। शास्त्र हमारे जीवन को व्यवस्थित कर देता है। कर्तव्य-अकर्तव्य (Do's & Dont's) धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का यथार्थ बोध शास्त्र से ही होता है। एक अन्य स्थल पर कहा है— ‘धर्मोपदेशनमिदं शास्त्रम्’ (महाभाष्यम् ६.१.८४) अर्थात् शास्त्र धर्म का उपदेश करने वाला होता है। शास्त्र से ही हमें धर्म का ठीक-ठीक ज्ञान होता है। अभियुक्तों (विशेषज्ञों) ने कहा है—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।

पुंसां येनोपदिश्यते तच्छास्त्रमभिधीयते।।

अर्थात् जिन नित्य वचनों (अपौरुषेय वेद वचनों) से अथवा वेद से अन्य प्रामाणिक वचनों (कृतकेन) से जो मनुष्यों की कर्मों में प्रवृत्ति या निवृत्ति कही जाती है, उन वचनों का नाम ही शास्त्र है। शास्त्र के दो ही प्रयोजन हैं— मनुष्य को इष्ट में लगाना और अनिष्ट से हटाना। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

साधना पथ

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। (गीता १६.२४)

अर्थात् कार्य अकार्य का निर्णय करने के लिए हे अर्जुन! तुझे शास्त्रों को प्रमाण मानना चाहिए। अतः शास्त्रविधान से कही हुई बात को समझकर (शास्त्र द्वारा जो यह आज्ञा दी गई है कि 'यह कार्य कर, यह मत कर' यही शास्त्रविधान है) तदनुसार इस लोक में कर्म करना उचित है। इससे पहले वाले श्लोक में कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। (गीता १६.२३)

जो शास्त्रोक्त विधि को छोड़कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख, न ही उत्तम गति प्राप्त होती है।

ज्ञान की न्यूनता और इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण मनुष्य की प्रतीयमान इन्द्रिय सुखों में अत्यन्त आसक्ति रहती है, अधिक से अधिक सम्पत्ति और सत्ता (Power) प्राप्त करने की लालसा लगी रहती है। इसके कारण उसके मन बुद्धि की चञ्चल अवस्था में मनुष्य अपने 'मैं' (शुद्ध मैं) की माँगों का ठीक-ठीक आकलन नहीं कर पाता। अपने अहंकार की माँगों को ही अपने मैं की माँग समझता रहता है। जैसे बड़ा घर, बड़ी गाड़ी, भौतिक साधनों की विपुलता, बाहर से मिलने वाला सम्मान, प्रतिशोध की भावना, तुच्छ मनोरञ्जनों से अपने मन को खुश रखना इत्यादि तमाम प्रकार की चीजों को अपने आन्तरिक मैं की तृप्ति के साधन के रूप में देखता रहता है। शास्त्र धीरे-धीरे व्यक्ति की स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित करता हुआ उसे अन्तर्मुख बनने में मदद करता है। अन्दर उपस्थित भगवान्, गुरु, सत्य, चैतन्य, आनन्द, प्रेम, करुणा, प्रकाश से जब व्यक्ति का पूर्ण परिचय हो जाता है तो इन बाहर के शास्त्रों या इन बाहर के गुरुओं का कार्य पूरा हो जाता है, व्यक्ति अन्तःप्रेरणाओं से चलना प्रारम्भ कर देता है। जीवन धन्य हो जाता है। स्वर्ग का धरती पर अवतरण हो जाता है, अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है, प्रसन्नता जीवन का अविभाज्य अङ्ग बन जाती है।

सब विद्याओं के विभाग, सभी विद्याओं का अन्तहीन विस्तार अपरा

शास्त्र

विद्या के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि अध्यात्म विद्या (मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का आन्तरिक बोध) परा विद्या है किन्तु वह भी जब गुरूपदेश या शास्त्र से प्राप्त की जा रही होती है तो अपराविद्या के क्षेत्र में ही समाहित होती है। वह शुद्धतम अवस्था जो कि तत्त्वों के साक्षात्कार में अविनाभाव सम्बन्ध के रूप में स्वीकृति हुई है, उस प्रतिबोध रूप अवस्था या निदिध्यासन रूप अवस्था का ही पराविद्या के रूप में समावेश किया गया है, सो ज्ञान का विषय क्षेत्र 'मैं' 'वह' और 'यह' तीनों ही हैं। इन तीनों का ही अन्तहीन विस्तार उपलब्ध है।

'मैं' का हम स्वयं में प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। मैं वह है जिसे ठीक शिक्षा, ठीक संस्कार, ठीक परिवेश मिल जाए तो वह अपने आप को समग्रता से जानने में सक्षम हो जाता है; अन्यथा वह स्वेच्छाचारी, इन्द्रियों का दास, सदा भयभीत, अपने सुखों के लिए दूसरों की परवाह न करने वाला अहंकारी, ज्ञान और भाव दोनों से विहीन, दुःखों की अन्तहीन शृंखला मात्र बनकर जीता है। उचित शिक्षा संस्कार व परिवेश मिलने पर यह 'मैं' सदा ज्ञान समाधान में ही जीना चाहता है; सदिच्छा, सद्विचार, सदाशा में जीना चाहता है; सदा दूसरों के साथ सम्बन्धपूर्वक जीना चाहता है; न्यायपूर्वक अर्थात् मानवीय मूल्यों के साथ जीना चाहता है; गौरव के साथ, कृतज्ञता और श्रद्धापूरित हृदय के साथ जीना चाहता है; स्वयं को और दूसरों को सुखी देखना चाहता है; प्रकृति के साथ सहअस्तित्व पूर्वक, समाज में निर्भयता पूर्वक, परिवार में अपने ज्ञान के प्रकाश में अपनी आवश्यकताओं का निर्धारण कर न कि दूसरों की देखा-देखी झूठे दिखावे के साथ, समृद्धिपूर्वक जीना चाहता है। 'वह' के बारे में शास्त्र से या प्रामाणिक गुरुजनों से सुनते हैं और उस सुने हुए को कैसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव में लाया जाए- इस विषय में भी मार्गदर्शन पाते हैं। तीसरा रह जाता है 'यह', इस 'यह' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो समस्त संसार ही अपने-अपने ढंग से बड़े उत्साह के साथ जुटा हुआ है।

सरलार्थ यह है- इन तीनों का ही शास्त्र अथवा गुरुजनों से उपलब्ध ज्ञान अपरा विद्या के अन्तर्गत आता है। 'मैं' और 'वह' का अनुभवात्मक ज्ञान पराविद्या के अन्तर्गत आता है।

४४. शाश्वत सुख

मनुष्य तीन अवस्थाओं में जीता है— जागरित अवस्था, स्वप्न अवस्था, सुषुप्ति अवस्था। जागरित अवस्था और स्वप्न अवस्था में व्यक्ति अपने आपको कभी सुखी अनुभव करता है कभी दुःखी। प्रिय-संयोग और अप्रिय-वियोग में सुखी होता है तथा अप्रिय-संयोग व प्रिय-वियोग में दुःखी। ऐसा जीवन का कोई रूप है ही नहीं है जहाँ प्रिय वस्तु व्यक्ति परिस्थिति का संयोग व वियोग अथवा अप्रिय वस्तु व्यक्ति परिस्थिति का संयोग व वियोग न हो। ऐसे में जब बाहर से व्यक्ति को अनुकूल परिस्थितियाँ, अनुकूल व्यक्ति, अनुकूल वस्तुएँ व मनचाहे सम्बन्ध प्राप्त होते हैं तो सुखी होता है, इसके विपरीत दुःखी। जन्म से मरण पर्यन्त यह क्रम जारी रहता है। किन्तु प्रतिदिन हर किसी व्यक्ति को एक ऐसा समय भी उपलब्ध होता है जब बाहर से प्राप्त होने वाले प्रत्येक प्रकार के संयोगजन्य सुख (Objective pleasure) व दुःख का शत-प्रतिशत अभाव रहता है। वह जीव की सुषुप्ति अवस्था कही जाती है। उस अवस्था में सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान और अनुकूल सम्बन्धों से प्राप्त होने वाला बड़े से बड़ा सुख और पाँचों इन्द्रियों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाला विषय सुख सर्वथा तिरोहित रहता है। इसी प्रकार से बड़े से बड़े किसी रोग से होने वाली शारीरिक पीड़ा, अत्यन्त कष्टप्रद अपमान, असफलता व किसी प्रियजन के विछोह की वेदना, व्यापार में किसी बड़े घाटे से उत्पन्न मानसिक क्लेश ये सब भी उस गहरी नींद की अवस्था में गायब हो जाते हैं।

ब्रह्मज्ञानी, आत्मवेत्ता, सन्त, तत्त्ववेत्ता जिन्हें जीवन का अन्तिम सत्य मिल गया है वे हर अवस्था में चाहे जाग्रत् में हैं या स्वप्न में, ऐसा जीवन जीते हैं जैसे सुषुप्ति में या समाधि में। इसीलिए उनकी इस अवस्था को तुर्यावस्था नाम से कहा जा सकता है। तुर्यावस्था का शब्दार्थ है चतुर्थावस्था। किन्तु इस शब्द से ज्ञानी की जिस अवस्था को बताया गया है वह है 'जाग्रत् सुषुप्ति' (समाधि)। उपनिषत्कार की भाषा में कहा जाए तो कहना होगा— 'तेषां

शाश्वत सुख

सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् 'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्' (कठ० ५.१२.१३) तथा माण्डूक्योपनिषद् में कहा है— 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' वे ज्ञानी शाश्वत सुख या शाश्वत शान्ति में रहते हैं। सांख्य में सुषुप्ति को समाधि के साथ उपमित करके समझाया है— 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'। छान्दोग्य में इस स्थिति का 'भूमा' शब्द से वर्णन किया है जो कि परमसुख की अवस्था है। जिसे समस्त बाह्य आलम्बनों से मुक्त पूर्णरूप से स्वप्रतिष्ठ (subjective) कहा है। वहाँ पूछा गया कि वह भूमा किसके आधार से है? उत्तर मिला वह तो अपने ही आधार से है।

- कामनायें तीन प्रकार की होती हैं— तामसिक, राजसिक, सात्त्विक। इनमें उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हैं। विविध कामनाओं के रूप में तीन गुणों का बन्धन कार्यरत है (उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय०)।
- सात्त्विक कामनाओं से सुख, राजसिक कामनाओं से दुःख तथा तामसिक कामनाओं से मोह उत्पन्न होता रहता है।
- सुख-दुःख-मोह से पार एक शान्त ज्ञानमय अवस्था भी है जहाँ व्यक्ति के समस्त अभावों का अभाव हो जाता है, बस निरपेक्ष पूर्णता बनी रहती है।
- विषयों से हटने की कामना को ही 'मुक्ति की कामना' या 'अपने चिन्मय स्वरूप को प्राप्त करने की कामना' इन शब्दों से कह दिया जाता है।
- विषयों में अनुराग होने से विषयों से लगाव और ईश्वर से अलगाव हो जाता है तथा ईश्वरानुराग से ईश्वर से लगाव और विषयों से सहज ही अलगाव हो जाता है।
- कामनाओं को पूर्ण करने की कामना का नाम 'प्रवृत्ति' है। कामनाओं को सर्वथा समाप्त करने की कामना का नाम 'निवृत्ति'।
- व्यक्ति यदि सहज प्राप्त कर्म में संलग्न है किन्तु न तो उस कर्म से बँधा हुआ है और न उसके फल से, तो कहना होगा 'प्रवृत्ति व निवृत्ति' दोनों को एक ही साथ सिद्ध कर लिया।

४५. वेगों को सहना

चैतन्य महाप्रभु की शिक्षाओं में से एक अत्यन्त उपयोगी शिक्षा है— जो धीर पुरुष मन, वाणी और शरीर में उठते हुए वेगों को अपने वश में रखता है अर्थात् उन-उन वेगों को उठने ही नहीं देता, वही दूसरों को अनुशासन में चला सकता है। जिसका अपने आप पर काबू नहीं है, वह दूसरों पर नियन्त्रण कैसे कर सकता है? मनु ने भी ठीक यही बात अपने शब्दों में कही है— ‘जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः’। जिसने अपनी इन्द्रियों पर वशित्व प्राप्त कर लिया है, केवल मात्र वही प्रजा पर नियन्त्रण करने में सक्षम हो पाता है। ‘ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः’ (योग द० २.३८) सूत्र का भाष्य करते हुए व्यासदेव जी महाराज ने भी इसी प्रकार की बात कही है— ‘यस्य लाभाद् अप्रतिघान् गुणान् उत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति।’ अर्थात् इन्द्रियों की शान्त सहज स्थिति प्राप्त होने पर योगी के अन्दर एक विशेष प्रकार का चैत्तिक बल बढ़ता है, जिसके बढ़ने से बाधाहीन ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का विकास होता है, इस प्रकार की विकसित अवस्थावाला ज्ञानसिद्ध योगी अपने शिष्यों के हृदय में ज्ञान का आधान करने में समर्थ होता है। अब्रह्मचारी का ज्ञानोपदेश शिष्य के हृदय में संस्थित नहीं होता। किसी दुर्बल धानुष्क (धनुर्धारी) द्वारा प्रक्षिप्त शर (बाण) की तरह वह केवल चर्ममात्र को बींध पाता है। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं, जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः, सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।।

अर्थात् प्रज्ञावान् व्यक्ति को चाहिए कि वह वाणी के वेग को, मन के क्रोध के वेग को, भोजन सम्बन्धी जिह्वा के वेग को, उपस्थ इन्द्रिय सम्बन्धी काम के वेग को अपने वश में रखे अर्थात् जो इन चारों वेगों को सहन कर सकता है, अभिभूत कर सकता है वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर निर्भय होकर शासन कर सकता है, उसका रास्ता साफ है, उसको रोकने वाली कोई

वेगों को सहना

शक्ति है ही नहीं।

वाणी का वेग बढ़ने पर व्यक्ति किसी का कभी भी अपमान करने के लिए उतारू हो जाता है, दूसरों के साथ ऊँची आवाज में बात करता है, शान्ति से अपनी बात नहीं कह सकता है, दूसरों की चुगली व निन्दा करने लगता है, बोलने व न बोलने योग्य बात का विवेक खो बैठता है। वाणी के वेग को जो अपने वश में नहीं रख सकता वह कभी भी दूसरों का प्यारा नहीं हो सकता। लोक में एक कहावत प्रचलित है— ‘शरीर का नंगा सन्त, वाणी का नंगा बदमाश’। वाणी के वेग को सहने का अर्थ है— वाणी सत्य भी हो, हितकारी भी हो और प्रिय भी लगे (सत्यं हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः)। तात्पर्य है— वाणी मनुष्य जीवन की एक उत्कृष्टतम विभूति है जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को तपस्या करनी चाहिए। एक कहावत और भी है— वाणी की ओट में दुनिया के सब खजाने छिपे पड़े हैं। वाणी किस रूप में बोलनी चाहिए— इसका दिग्दर्शन कराने वाला ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त का एक सुन्दर मन्त्र उपलब्ध है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। (१०.७१.२)

पुरुष जैसे चालनी से छान-छान कर सत्तु का उपयोग करते हैं उसी प्रकार धैर्यवान् ज्ञानी वाणी को बोलते समय मनरूपी छलनी का प्रयोग करते हैं अर्थात् वाणी के प्रयोग के समय पूर्ण सचेतन रहते हैं, ऐसी कोई भी बात मुख से नहीं निकालते जो दूसरों को आहत करे या कष्ट दे। ऐसे लोग वाणी के सच्चे मित्र बन जाते हैं, और सजग होकर मित्रता के नियमों का पालन करते हैं। इन लोगों की वाणी में कल्याणकारिणी साक्षात् लक्ष्मी बस जाती है, वे सब के प्रिय हो जाते हैं।

बोलने वाले को बोलने के पश्चात् पछताना पड़ जाए तो समझना चाहिए अभी वाणी की साधना अधूरी है। साधक को जहाँ शरीर, मन, प्राण व इन्द्रियों की अनेकानेक साधनाएँ करनी होती हैं वहाँ उन सब के साथ वाणी की

साधना पथ

साधना भी करनी होती है। यदि अन्यत्र सब जगह जागरूक है और इस एक विषय में वह प्रमाद कर रहा है, पूरा ध्यान नहीं दे रहा है तो उसकी यात्रा बहुत कम ही तय हो पाएगी, अधिक आगे नहीं बढ़ पाएगी, क्योंकि इन सभी का सम्मिश्रण (Combination) है। ये सब के सब अवयव एक दूसरे के साथ जुड़े हुए होते हैं। इस विषय की खोज हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वाणी के साधक को मन के स्तर पर भी पूर्ण सचेत होना होता है। केवल संकल्प मात्र से इस विषय में सफलता प्राप्त होना या कर पाना अत्यन्त कठिन है। वाणी का प्रमाद यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति का मन प्रमाद में है। साधक की दृष्टि से विचार किया जाये तो मिथ्याभाषण, असम्बद्धप्रलाप, चुगली, कठोर भाषण, दूसरे में उद्वेग पैदा करने वाली, विषयासक्ति को बढ़ाने वाली जिसके कारण सांसारिक सम्बन्ध (राग व मोह) दृढ़ होते जाते हैं तथा झगड़ा करने या कराने वाली वाणी, ऊँचे स्वर में बोलना, चिल्लाकर बोलना— ये सब के सब वाणी के दोष हैं। बोलते समय यदि बोलने वाला समय, स्थान व व्यक्ति (Time, Space, Person) इन तीन बातों का ध्यान रख कर बोलता है तो वाणी के बहुत सारे दोषों से बचा जा सकता है।

असंयत वाक् से बाहर तो अशान्ति होती ही है, व्यक्ति के अन्दर भी उसका उतना ही कुप्रभाव हो जाता है। इन्द्रियों की चञ्चलता अध्यात्म मार्ग के लिये महान् बाधा समझी जाती है, वाणी का असंयम उससे कम बाधक नहीं है, यह भी उतना ही बाधक है। जैसे वाणी के दोषयुक्त प्रयोग से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खाई बढ़ती चली जाती है, उसी प्रकार उसके संयत प्रयोग से वह बहुत कुछ कम भी हो जाती है और दूसरों की वह खाई तो कम हो या न भी हो पर साधक के राग-द्वेष तो अवश्य ही कम हो जाएँगे, यह बात कोई भी व्यक्ति किसी भी समय अनुभव करके देख सकता है। किसी भी चीज को सहज बनाने के लिये जैसे उससे पहले प्रयत्न या पुरुषार्थ की कठिन अग्नि-परीक्षा के बीच से गुजरना पड़ता है और जैसे अन्य विषयों में प्रयत्न करते हुए व्यक्ति का गिर पड़ना, फिसल जाना, बार-बार असफल हो जाना— ये सब बार-बार होते रहने की संभावना बनी रहती है, उसी प्रकार वाणी के प्रसंग में भी साधक

वेगों को सहना

को इसी प्रक्रिया से गुजरना होता है। किसी भी क्षेत्र में एकबारगी समस्त संयम प्राप्त हो जाना असंभव-सा ही है। पर सारी असफलताओं के बावजूद भी जिनकी श्रद्धा अविचल बनी रहती है तो वे वीर शिरोमणि निश्चित रूप से एक दिन विजयी होते हैं और वह चीज प्राप्त कर ही लेते हैं, जिसके लिये वे प्रयासरत हैं। इसी का नाम तो 'अभ्यास' है— गिरने पर फिर उठना।

दूसरा सहनीय वेग है— 'मन के क्रोध का वेग'। यह क्रोध ऐसा राक्षस है जो क्रोध करने वाले व्यक्ति को ही पहले जलाता है। व्यक्ति की बुद्धि को हर लेता है जिसके कारण व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक को खो बैठता है (क्रोधाद् भवति संमोहः)। इस क्रोध का जन्म कामना के व्याघात से होता है। कामना किसी भी कारण से या किसी भी निमित्त से पैदा हो सकती है। किसी ने हमारा अपमान किया या हमारी वस्तु चुरा ली, हमारी बात नहीं मानी, हमें धोखा दे दिया, हमारे बारे में गलत बातें प्रचारित की, किसी प्रकार की हमारी हानि कर दी, हम शीघ्रता में थे दूसरा देर करने लगा, हम चाहते थे कि कोई व्यक्ति एक विशेष प्रकार से व्यवहार करे पर दूसरा वैसा नहीं करता या नहीं कर पा रहा, किसी ने अपने को विशेष और हमको अविशेष दिखाना चाहा, प्रायः इन परिस्थितियों में व्यक्ति क्रोधित हो जाता है, किसी की मूर्खता के कारण भी क्रोध आ सकता है। क्रोध का कोई भी कारण हो— किसी भी स्थिति या परिस्थिति में, किसी भी अवस्था में, किसी भी घटना क्रम में क्रोध विधेय (करने योग्य) नहीं है। समस्या है तो उसका समाधान करना ही होता है किन्तु शान्तिपूर्ण तरीके से।

क्रोध के वेग को सहने के लिए व्यक्ति को अपने मन की जल्दबाजी, मन के आग्रह, मन की हर प्रकार की माँग से मुक्त होना होता है, एक शब्द में पूर्ण निरहङ्कार होना होता है। अहङ्कार का कोई भी रूप काम, क्रोध या लोभ को जन्म देगा ही। क्रोध के वेग से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को अहङ्कार की प्रकृति और उसकी क्रिया-प्रणाली से सुपरिचित होना होगा। इसके बिना जो भी उपाय किया जायेगा, वह आंशिक सिद्ध होगा। क्षमा या सहनशीलता की

साधना पथ

महिमा को अपनी बुद्धि में ठीक से बिठाना होगा। ‘आक्रोष्टारश्च नः सन्तु क्षन्तारश्च भवामहे’ अर्थात् हमारे ऊपर आक्रोश करने वाले बने रहें और हम उन्हें क्षमा करते रहें ऐसे वचनों को बार-बार अपने आपको सुनाना होगा। अक्रोध-स्थिति को सर्वप्रमुखता (Top-priority) देनी होगी। चित्त में क्रोध के रहते उस अनन्त से प्रेम हो ही नहीं सकता। यह क्रोध ही तो है जो कभी तो व्यक्ति में प्रतिशोध जैसी तुच्छ वृत्ति को जन्म दे देता है, वह कभी ईर्ष्या और घृणा में बदल जाता है, कभी असूया=परगुण असहनशीलता में तो कभी आत्म-हत्या जैसे जघन्य पाप के रूप में।

‘धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इस मनुष्य जीवन को एक चलता फिरता यज्ञ बना लिया है।’ यज्ञाग्नि के पास गर्मजल लाना शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार निषिद्ध है, इसी को प्रतीक बनाकर वे अपने जीवन को काम-क्रोधादि की अग्नि से प्रयत्नपूर्वक बचाते हैं। एक मात्र शान्ति का उपासक ही क्रोध के वेग को परास्त कर सकता है।

जिह्वा का वेग या उदर का वेग भी व्यक्ति को अनेक शारीरिक विपत्तियों में डालता रहता है। व्यक्ति जीने के लिए खाने के बजाए, खाने के लिए जीने लगता है। जिह्वा के वेग को अभिभूत करने के लिए आचार्यों ने ‘हितभुक् मितभुक् ऋतभुक्’ सूत्र को सर्वदा याद रखने के लिए कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि सनत्सुजात ने आहारशुद्धि को अन्तःकरण शुद्धि का अमोघ उपाय बताया है। हमारी प्रकृति के अनुसार भोजन हो, परिमित हो तथा सत्य कमाई का हो। उद्देश्य भोग न होकर सेवा हो, भगवत् पूजन हो तो ही समझा जा सकता है कि जिह्वा के वेग को जीत लिया है।

काम के वेग को न जीतने से व्यक्ति जीवित ही मुर्दा हो जाता है। व्यक्ति के मन का तेज गायब हो जाता है। मन चञ्चल हुआ रहता है। लोक व परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं। जीवन में शान्ति का भी कोई स्थान है— व्यक्ति इसे समझ ही नहीं सकता। निराशा, चिड़चिड़ापन, धैर्यहीनता जैसी चीजें अपना घर बना लेती हैं। भगवान् के अनन्त सौन्दर्य से व्यक्ति वञ्चित हो जाता है। कामी व्यक्ति को प्रेम का परिचय ही नहीं

वेगों को सहना

होता। इन्द्रिय-सुखों से आगे भी जीवन का कोई रूप है— यह सब समझा ही नहीं जा सकता। इस लेख के प्रारम्भ में ही हमने व्यासदेव जी महाराज के इस सम्बन्ध में उपलब्ध तेजस्वी वचन को उद्धृत कर ही दिया है। श्रुति कहती है— ‘हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्’ सत्य को जानने के लिए इस माया के चमकीले ढक्कन को हटाना ही होगा। इसके बिना व्यक्ति माया में ही रमा रहेगा— राम में नहीं।

- प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का नाम ‘भोग’ है इससे ‘संसार’ मिलता है और निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का नाम ‘वैराग्य’(संसारनिवृत्ति) है, इससे ‘अपवर्ग’ होता है।
- ‘प्रवृत्ति’ से जहाँ लौकिक इच्छाओं की पूर्ति होती है तो ‘निवृत्ति’ से लौकिक इच्छाओं से वैराग्य— जिसका फल शान्ति, ज्ञान, आनन्द, प्रेम, निर्भयता, स्वराज्य, सन्तुलन, सामञ्जस्य इत्यादि है।
- पार्थिव भोगों को ही जीवन की सारभूत चीज समझने वाला व्यक्ति इनसे ऊपर नहीं उठ सकता। देवत्व का जो प्यासा है उसे इनसे ऊपर उठना ही होगा।
- भगवान् तो एक सूर्य के प्रकाश की तरह या सब ओर फैली हुई हवाओं की तरह है जैसे कि कोई अपने झरोखों को खोलकर रखते हैं उन के घर में प्रकाश या हवायें प्रवेश कर जाती हैं; या फिर भगवान् वर्षा की बूंदों की तरह है, जो व्यक्ति अपने पात्रों को बादलों की ओर उद्घाटित करके रखते हैं उनके पात्र वर्षा की बूंदों से धीरे-धीरे भर जाते हैं।

इन्हीं सब दृष्टान्तों से भगवान् की कार्य शैली या कर्मप्रणाली को जाना जा सकता है। जिन साधकों को भगवान् का बल-ज्ञान-आनन्द-करुणा-प्रेम चाहिए उन्हें अपने शरीर, मन, प्राण व अन्तरात्मा को भगवान् की ओर सतत उद्घाटित रखना चाहिए। केवल मात्र उसी के लिए सतत अभीप्सा करनी चाहिए। इस प्रक्रिया के सतत अनुष्ठान से साधक जो कुछ चाह रहे हैं, वह उन्हें अवश्य प्राप्त होगा— यह एक सुपरीक्षित निर्भ्रान्त तथ्य है।

४६. पञ्च महायज्ञ

प्राचीन ऋषियों ने जीवन और जगत् को सुन्दर बनाने के लिए मनुष्य जीवन के साथ पाँच यज्ञों को जोड़ दिया। इस सन्दर्भ में यहाँ तक कह दिया कि ‘पञ्चैताँस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्’ अर्थात् इन पाँच महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग न होने दे। यज्ञ एक ऐसा शब्द है जिसके द्वारा संक्षेप में सम्पूर्ण वैदिक संस्कृति को परिभाषित किया जा सकता है। जैसा कि संस्कृत भाषा के अन्य शब्दों के विषय में एक नियम लागू होता है कि सभी संस्कृत शब्द किसी न किसी क्रिया के कारण उन-उन विशिष्ट संज्ञाओं में रूढ़ होते हैं; यज्ञ शब्द पर भी वही नियम प्रयोज्य है। पाणिनि ने हमको बताया कि यजन क्रिया के कारण ‘यज्ञ’ यह संज्ञा व्यवहार में आई। यजन के तीन अर्थ हैं— देवताओं का पूजन, परस्पर पदार्थों का संगतिकरण या दो हृदयों का मिलन, तीसरा दान। ‘ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ’ इन पाँचों ही यज्ञों में यजन क्रिया किसी न किसी रूप में अनुस्यूत रहती है। सो जीवन के द्वारा सम्पादित अनेकानेक शतशः सहस्रशः क्रियाओं में से इन उपर्युक्त विशिष्ट क्रियाओं को यज्ञ बल्कि ‘महायज्ञ’ यह नाम दिया गया है।

जीवन का अर्थ है ‘होना’ और होने के मायने हैं ‘सम्बन्धित होना’। इस सृष्टि को जब हम अपनी खुली आँखों से निहारते हैं तो अनेकानेक इकाइयाँ हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती हैं अर्थात् अनेक घटकों का कुलयोग ही यह सृष्टि दिखाई देती है। सृष्टि के वे सब घटक परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध रहते हुए अपना-अपना काम नहीं कर रहे बल्कि कहना होगा एकदम सुसम्बद्ध हैं। मनुष्येतर सम्पूर्ण सृष्टि में तो यह सुसम्बद्धता, यह लय, यह संगीत (Harmony) यह व्यवस्था (Order) यह आवश्यक सामञ्जस्य (Synergy) प्रकृति प्रदत्त है किन्तु मनुष्य स्वयं अपने अन्दर भी कैसे इस सुसंवाद में जीए, इसके लिए प्राचीन ऋषियों ने पञ्च महायज्ञों का आविष्कार किया।

पञ्च महायज्ञ

ये पञ्च महायज्ञ क्या हैं? ये मनुष्य के वे कर्तव्य हैं जो उसे स्वयं के प्रति और दूसरों के प्रति निभाने होते हैं। इन कर्तव्यों के निर्वाह के बिना न केवल मनुष्य अपने आप में अशान्त व भ्रान्त रहता है बल्कि दूसरों में भी वही चीज बाँटता रहता है। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यों को नहीं समझता है तो संसार में दुःख, भय और भ्रान्ति के सिवाय उसके पास बाँटने के लिए और क्या रह जाता है? सम्पूर्ण प्रकृति का, अपने साथियों का, पशु-पक्षियों का, प्राकृतिक सम्पदाओं का, दोहन और शोषण इस के सिवाय और उसके पास रह ही क्या जाता है?

इन पाँच महायज्ञों में जो प्रथम यज्ञ है वह है— ‘ब्रह्मयज्ञ’। मनुष्य सत्ता के मूल में, उसके केन्द्र में जो सत्य है उसी का नाम है ‘ब्रह्म’। मनुष्य को सभी अन्वेषकों ने बुद्धि मन व ज्ञानेन्द्रियों में विराजमान एक विज्ञानमय सत्ता कहा है। उस विज्ञानमय महान् आत्मा में एक सर्वान्तर्यामी, सब का ईश, सब का वशी, सब का अधिपति, सर्वेश्वर, सर्वाधार के रूप में विद्यमान है। सारे वेद प्राप्तव्य पद के रूप में जिसका बखान करते हैं (सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति कठ० उप०), समस्त श्रुतियों में वही ओत-प्रोत है (ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोँकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योँकार एव’ माण्डू० उप०)। उसको कहीं ‘सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म’ (तैत्ति० उप०) के रूप में परिभाषित किया है तो कहीं उस तत्त्व की व्याख्या आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् (तै०आ० १०.१५) शब्दों के द्वारा की है। भगवान् व्यास (कृष्णद्वैपायन) के द्वारा रचित वेदान्त सूत्रों में उसकी महिमा गाते हुए कहा गया है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिससे है वह ब्रह्म है (जन्माद्यस्य यतः), ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण ब्रह्म है (शास्त्रयोनित्वात्), वह चिन्मय सत्ता है (ईक्षतेर्नाशब्दम्), वह आनन्दमय है (आनन्दमयोऽभ्यासात्), उसी के आकाश, प्राण, ज्योतिः (आकाशस्तल्लिङ्गात्, अत एव प्राणः, ज्योतिश्चरणाभिधानात्) इत्यादि नाम उपलब्ध हैं। वही भक्तों की दुःखों से रक्षा करने वाला है। वही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सोम, विष्णु,

साधना पथ

बृहस्पति, अश्विनौ, रुद्र, भग, पूषा इत्यादि शतशः वैदिक देवताओं के रूप में आदृत हुआ है। महाभारत की 'विष्णुसहस्रनाम' वाली तेजस्वी रचना के द्वारा विविध रूपों में उसी का गीत गाया गया है।

ऐसे उपर्युक्त स्वरूप वाले ब्रह्म का श्रवण मनन व निदिध्यासन करना ही ब्रह्मयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ से, ब्रह्म की उपासना करने से ब्रह्मवर्चस, प्रज्ञा, यश व कीर्ति की प्राप्ति होती है। मन व इन्द्रियाँ शान्त रहती हैं। प्रकृति के लुभावने आकर्षणों से मनुष्य का मन सहज रूप से उपरत रहता है। सदा विवेक जागरित रहता है। कर्तव्य-अकर्तव्य का सहज बोध रहता है। नित्य ब्रह्मयज्ञ करने वाला व्यक्ति सबका प्रिय हो जाता है। आत्मा के एकत्व का यथार्थ बोध होने से उसके शोक और मोह छूट जाते हैं (तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः), वह किसी का निन्दक नहीं रहता, किसी से घृणा नहीं करता (ततो न विजुगुप्सते), जीवन में सन्तुलन बना रहता है, समता में सुप्रतिष्ठ हो जाता है। भोग के साथ त्याग, शौर्य के साथ शान्ति, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति, नानात्व में एकत्व, कर्म के साथ अकर्म (कुर्वन्नेवेह कर्माणि..... न कर्म लिप्यते नरे), गति के साथ स्थिति (तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्), कर्म के साथ ज्ञान (विद्याञ्चाविद्याञ्च), निर्भयता के साथ विनय, अग्नि के साथ सोम, न्याय के साथ प्रेम, श्रम के साथ विश्राम, मूर्त के साथ अमूर्त, सोम के साथ सुरा (बल), ब्रह्म के साथ क्षत्र का वह जीता जागता नमूना बन जाता है। सामान्य रूप से मनुष्य में एक ही सत्य देखने को मिलता है— भोग-शौर्य-प्रवृत्ति-कर्म-गति-निर्भयता-अग्नि-न्याय-श्रम और क्षत्र। किन्तु उचित रीति से ब्रह्मयज्ञ करने वाले व्यक्ति में भोग इत्यादि के बाह्य रूप से देखने में विरोधी किन्तु इनके पूरक सत्य-त्याग-शान्ति-निवृत्ति-अकर्म-स्थिति-विनय-सोम-प्रेम-विश्राम और ब्रह्म (ज्ञान) इत्यादि भी सुप्रतिष्ठित रहते हैं। जीवन की परिपूर्णता इन उपर्युक्त दोनों सत्यों के समुच्चय में है। अकेली क्रियाशीलता, अकेला उग्र कर्म, अकेला प्रचण्ड शौर्य, अकेली वेगवती प्रवृत्ति, अकेला महान् श्रम जीवन को अशान्त और विक्षुब्ध कर देता है। जीवन की यह एकतरफा गति

पञ्च महायज्ञ

जीवन को कामनाओं के अथाह सागर में डुबो देती है, जीवन अनियन्त्रित और असंयमी हो जाता है, जीवन पूरा का पूरा स्वकेन्द्रित हो जाता है, ऐसे में जीवन के परमाश्वयक गुण धैर्य, सहनशीलता, विवेक, प्रेम इत्यादि नाम मात्र के लिए भी देखने को नहीं मिलते। जीवन के इस अभाव को भरने के लिए ही ब्रह्मयज्ञ का विधान किया गया है। चूँकि अपने अन्तःसत्य के साथ जीना ही ब्रह्मयज्ञ है, और जैसा कि ऊपर कहा गया— ब्रह्म शान्त है, ब्रह्म ज्ञानमय है, प्रेममय है, करुणामय है, वह सर्वत्र प्रसृत अनादि अनन्त एकतत्त्व है, (स पर्यगात्), क्रिया शून्य है (अनेजत् एकम्), स्थिति है (तिष्ठत्), वह शुद्ध है, बुद्ध है, नित्यमुक्त है, अपापविद्ध है, असङ्ग है, कवि है, सब के मनो पर शासन करने वाला मनीषी है, वह समस्त अस्तित्व का आधार है (स्कम्भं तं ब्रूहि)। वह प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन है। वह सब के केन्द्र में रहता हुआ हर घटक का अन्तर्यामी के रूप में अन्दर से नियन्त्रण कर रहा है। ऐसे उस उपासक ब्रह्म की उपासना, उसका ध्यान, उसके साथ एकत्व में जीने से जीव भी वैसा ही हो जाता है अन्यथा तो जीव चैतन्यरूप होते हुए भी एक कामनामय सत्ता है, कामना ही दुःख की जड़ है। ब्रह्म अकामयमान है। जीव को अकाम होने के लिए, प्रज्ञावान् होने के लिए प्राकृत कामनाओं से मुख मोड़कर अकाममय ब्रह्म के साथ एकत्व में जीना होता है। यहाँ तक पहुँचने के लिए जिस पद्धति को अपनाया जाता है वही 'ब्रह्मयज्ञ' है।

सो इस सब चर्चा का सार यह निकला— व्यक्ति में ज्ञान-समाधान-स्वाधीनता-निर्भयता-धीरता-वीरता-उदारता-दया-कृपा-करुणा-प्रेम को प्रकट करने के लिए जो-जो भी साधन अपनाये जाते हैं, फिर चाहे वे योगदर्शन में वर्णित अभ्यास-वैराग्य के रूप में हों या श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा रूप या ईश्वरप्रणिधान रूप या मैत्री-करुणा-मुदिता इत्यादि भावनारूप हों अथवा क्रियायोग के रूप में तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान इत्यादि हों या अष्टाङ्गयोग के नाम से यम-नियम इत्यादि रूप हों या सांख्य शास्त्र में वर्णित प्रकृति-पुरुष विवेक रूप हों या सांख्य कारिका में निर्दिष्ट 'नास्मि, न मे, नाहम्' रूप या

साधना पथ

वेदान्त वर्णित ब्रह्म-विचार रूप या उपनिषदों में वर्णित नेति-नेति के रूप में अपनाया गया आत्म-विचार रूप साधन या गीतोक्त ज्ञानयोग, ध्यानयोग, निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग के रूप में हों या मनुस्मृति में वर्णित संध्यारूप अथवा शतपथ ब्राह्मणोक्त स्वाध्याय रूप हों या 'दुःख' 'दुःख का हेतु' 'आनन्द' और 'आनन्द प्राप्ति के उपाय' को देखना समझना रूप हों, इन और ऐसे सब के सब साधनों का ब्रह्मयज्ञ में अन्तर्भाव किया जाता है।

दूसरा यज्ञ है देवयज्ञ। जल, अग्नि, वायु, पृथिवी, आकाश, नदियों, वनों और पर्यावरण के प्रति मानव के कर्तव्य और मानव की सजगता का नाम है— देवयज्ञ। सृष्टि को प्रदूषण से बचाकर स्वच्छ रखने के लिए जिन उपायों का सहारा लिया जाता है उन उपायों का ही नाम है— देवयज्ञ। क्योंकि जहाँ मनुष्य रहे और प्रदूषण न हो यह तो असम्भव है किन्तु उसके लिए व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही स्तरों पर उपाय तो किया ही जाना चाहिए। स्वच्छता और पर्यावरण की शुद्धि देवयज्ञ का प्रमुख भाग है जिसकी पूर्ति के लिए वृक्षारोपण तथा अग्निहोत्र का विधान किया गया है, यह तभी होगा जब व्यक्ति में यह समझ विकसित हो जाए कि जीवन के लिए स्वच्छता और प्रदूषणमुक्तता भी उतनी ही आवश्यक है जितना कि भोजन-वस्त्र-मकान। इस प्रकार सृष्टि संस्था को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए है देवयज्ञ, जिसे प्रत्येक मनुष्य को सम्पन्न करना होता है।

माता-पिता के प्रति मनुष्य के कर्तव्यों को स्मरण दिलाता है— 'पितृयज्ञ'। माता-पिता सन्तानों को जन्म देने और उनके पालन-पोषण करने में जिन क्लेशों को सहते हैं उस ऋण से कैसे अनृण हुआ जा सकता है (यं क्लेशं मातापितरौ सहेते संभवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि)। किन्तु यह तो होना ही चाहिए कि उन्हें अपनी वाणी और अपने आचरण से किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाए, उनके सम्मान पर ठेस न लगे, उनका निरादर न हो, उनका तिरस्कार न हो, अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार उनकी सेवा-शुश्रूषा भी हो (मातृदेवो भव, पितृदेवो भव)। ये सभी भाव और क्रियाएँ पितृयज्ञ के अङ्ग हैं, साथ में उन्हीं की

पञ्च महायज्ञ

तरह अपने प्रतिनिधि के रूप में सन्तान को जन्म देकर उन्हें शिक्षा-संस्कार से युक्त करना भी पितृयज्ञ का ही एक भाग है।

चींटी कुत्ते आदि असहाय जीव-जन्तुओं, भिखारियों, असहाय प्राणियों, दुःखी मनुष्यों, निर्धनों, किसी भी कारण से तिरस्कृत लोगों, गलितकुष्ठ जैसे रोगों से ग्रसित जनों के प्रति हृदय में करुणा व सहृदयता का भाव, उनका यथाशक्ति साहाय्य करने का भाव है 'बलिवैश्वदेवयज्ञ या भूतयज्ञ'। इस सृष्टि में किसी भी व्यक्ति के समक्ष बुरे दिन आ सकते हैं। किसी भी दीन-हीन मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी को देखकर यदि व्यक्ति का मन या हृदय पिघलता नहीं, उदासीनता धारण किये रहता है तो यह हृदय की कठोरता कही जाती है। इस कठोरता की चरम परिणति तो तब देखने को मिलती है जब व्यक्ति के दिल या दिमाग में इस प्रकार के उपेक्षापूर्ण भाव व विचार आ जाते हैं कि 'सब अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं'। यह तो ठीक है कि सब अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, किन्तु यह दृष्टि अपने लिए ही उचित होती है, दूसरों के लिए तो करुणा ही होनी चाहिए।

परिचित या अपरिचित ज्ञानी पुरुषों का सङ्ग व उनकी सेवा-शुश्रूषा करने का नाम है— 'अतिथियज्ञ'। मनुष्येतर सृष्टि को जैसी होना चाहिए वह वैसी ही है अर्थात् उसकी क्षमता और योग्यता में भेद नहीं है किन्तु मनुष्य की क्षमता (Potential) और योग्यता (Competence) में महान् अन्तर है। मनुष्य की अन्तर्निहित अपार सम्भावनाओं को वह तब तक नहीं जानता-पहचानता जब तक कोई योग्य गुरु या सत्यशास्त्र उसे उपलब्ध नहीं हो जाते। यद्यपि यह सत्य है कि सम्भावनाओं को योग्यता में बदलने के लिए अर्थात् सम्भावनाओं को चरितार्थ करने के लिए सुदीर्घकाल तक भगीरथ पुरुषार्थ करने की परम आवश्यकता होती है, किन्तु किसी तरह मनुष्य यह भी तो पहचाने कि मुझ में अपार क्षमताएँ हैं। प्रत्येक मनुष्य में समान रूप से यह क्षमता होती है कि वह अपनी आन्तरिक प्यास को पहचान सकता है, वह अपने संशयों को मिटाकर पूर्ण निर्भ्रान्त हो सकता है, वह स्वाधीनता में जी सकता है, वह संगीतमय जीवन को उपलब्ध कर सकता है, वह पूर्ण निर्विकार

साधना पथ

हो सकता है, वह पूर्ण समाधान को उपलब्ध हो सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिक्षा-संस्कार के, बिना किसी योग्य गुरु का अन्तेवासी बने, सावित्री माता (विद्यामाता) के गर्भ में वास किये बिना, सत्य-धर्म-न्याय में जीने की तो कौन कहे, दीनता-हीनता और क्रूरता के विकराल रूप से भी पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता है। किसी तरह कभी हँसते कभी रोते हुए ही जी पाता है। इसलिए कहा गया है— प्रज्ञावान् बनने के लिए व्यक्ति को द्विज बनना (दो बार पैदा होना) होता है। सत्यदृष्टि उपलब्ध विद्वान् अतिथियों के सङ्ग से व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, जीवन निर्भार हो जाते हैं, संशय नष्ट हो जाते हैं, जीवन का लक्ष्य और अभिप्राय उद्घटित हो जाते हैं।

अतिथि को भारतीय मनीषियों ने देवता कहा है (अतिथिदेवो भव)। उनका पूजन व तर्पण करने का निर्देश दिया है। हमारी सेवा-शुश्रूषा व श्रद्धा से तृप्त हुए वे अतिथि हमारे उद्धार करने का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। इस प्रकार यह देखा गया है कि इन उपर्युक्त पाँच महायज्ञों का अहरहः अनुष्ठान करने से मनुष्य का जीवन निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ता रहता है।



- जो साधक 'सृजन का आनन्द' इस अद्भुत संकेत से परिचित हैं, वे सचमुच अकाम होकर कर्म में लगे रहते हैं। सामान्य रूप से व्यक्ति परिणाम पर केन्द्रित होकर कर्म करता है— 'परिणाम में इससे मुझे क्या मिलेगा'। परिणाम की चिन्ता व्यक्ति को सृजन का आनन्द लेने ही नहीं देती।
- कोई भी कर्म जो कि सह-अस्तित्व के अविरोधी है 'सृजन' के अन्तर्गत आ भी सकते हैं और नहीं भी आ सकते। किसी भी मजबूरी या भय या प्रलोभन के वशीभूत होकर जो कर्म किये जाते हैं अर्थात् जब हमें कर्म करने पड़ते हैं तो सृजन नहीं होता।
- व्यक्ति सफलता, विजय, लाभ व किसी भी भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति से मिलने वाले सुख से तो सुपरिचित है, किन्तु मार्ग का भी एक आनन्द है इसको उसे सीखना है। वस्तुतः मार्ग का आनन्द ही तो सृजन का आनन्द है।

४७. इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से

क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे कोई भी यह जान पाने में समर्थ हो सके कि व्यक्ति के अन्दर कौन सी इच्छाएँ चल रही हैं? व्याकरण के आचार्य कात्यायन ने प्रसङ्गतः एक महत्वपूर्ण सूचना दी है कि इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से होती है। भाष्यकार उपर्युक्त वचन की व्याख्या करते हुए एक व्यावहारिक उदाहरण देते हैं कि जब कभी कोई कट (चटाई) बनाने का इच्छुक होता है तो वह ढिंढोरा नहीं पीटता कि सुनो भाई लोगों! मैं चटाई बनाऊँगा। तो क्या करता है? रज्जू कील और पूले हाथ में हैं जिसके ऐसे उस सन्नद्ध (सज्जीभूत= Ready, Fully equipped) व्यक्ति को देखकर (अपने आप ही) उससे उसकी इच्छा का पता चल जाता है। कुत्ते भी जब मरने की तैयारी में होते हैं तो एकान्तशील हो जाते हैं, आँखें फूल जाती हैं या सूज जाती हैं। यहाँ भाष्यकार के द्वारा अनुमान प्रमाण से इच्छा को सिद्ध किया जा रहा है। अनुमान त्रिविध है पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट। सो यहाँ शेषवत् अनुमान से अर्थात् कार्य को देखकर उसके मूल कारण उस-उस प्रकार की इच्छा को जाना जा रहा है। इच्छा ही मूल कर्म है या दूसरे शब्दों में कर्म का आदि बिन्दु है। लोकव्यवहार में रोज हमें यह बात देखने को मिलती रहती है कि जो भी (बाल-युवा-वृद्ध) जैसी भी प्रवृत्तियों या चेष्टाओं में रहते हैं उन-उन प्रवृत्तियों या चेष्टाओं से उनकी इच्छाओं का आकलन किया जाता रहता है।

आजकल के मनोवैज्ञानिक शिक्षाविद् भी बालकों की इच्छाओं को ढूँढ निकालने के लिए सलाह देते हैं कि शान्तभाव से उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करो। यदि वह हाथ में तूलिका (कलम आदि) लिए कुछ चित्र आदि बनाता रहता है तो उससे उसकी मूल इच्छा चित्रकारिता (painting) का पता सहज ही लग जाता है। हाथ से कुछ नयी-नयी रचना, कुछ बनाना-बिगाड़ना करता रहता है तो शिल्पविषयक उसकी इच्छा का पता लगता है। कुछ गुनगुनाता रहता है तो उससे उसकी गायनविषयक इच्छा का पता लगता है।

‘विविक्तदेशसेवित्त्वमरतिर्जनसंसदि’ जो एकान्त स्थान में रहना व जन-समूह में जाने की अनिच्छा इत्यादि रूप प्रवृत्ति वाला है तो निश्चित ही उसकी इच्छा अपने अन्दर कुछ चीज ढूँढ-तलाश करने की है। ‘विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः’ (योग सूत्र ४.२५) का भाष्य करते हुए व्यास महाराज लिखते हैं— ‘यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिर्निर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, यस्याऽभावादिदमुक्तम्— स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति, अरुचिश्च निर्णये भवति।’ अर्थात् जैसे वर्षा ऋतु में घास के अंकुरों की उत्पत्ति से उसके बीज के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वैसे ही मोक्षमार्ग (दुःख से अत्यन्त मुक्ति) से सम्बद्ध बातों को सुनने से जिस पुरुष के रोमहर्ष=रोमाञ्च और अश्रुपात=आँसु बहने लगें, तो उस पुरुष में अपवर्ग=मोक्ष प्राप्त कराने वाला विशेषदर्शन=विवेकज्ञान का बीज (कारण) विद्यमान है जो योगाङ्गानुष्ठानादि विशेष कर्मों से जन्म-जन्मान्तरों में सिद्ध किया होता है, यह अनुमान किया जाता है। उस-उस पुरुष की आत्मभाव भावना=आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा स्वाभाविक रूप से होती है और जिन जीवों में विवेक ज्ञान के बीजों का अभाव होता है उनकी रुचि योगी के सदृश स्वभाव न होने से आत्मा से भिन्न तत्त्वों में होती है, सत्त्व (बुद्धि) व पुरुष के विवेक में रुचि नहीं होती।

इस प्रकार भाष्यवार्तिककार का यह कथन युक्तिपूर्ण व प्रमाणसंगत है कि प्रवृत्ति से इच्छा रूप बीज की उपलब्धि होती है। इच्छा और प्रवृत्ति के बीच बीज और वृक्ष का सम्बन्ध है। इच्छारूप बीज ही प्रवृत्ति के रूप में वृक्ष बनकर लहराते हैं। इसलिए जिन्हें अपनी प्रवृत्तियाँ बदलनी होती हैं, उन्हें अपनी इच्छाओं को बदलना होता है। जो इच्छाओं को बदलते नहीं और प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाते हैं, वे कभी भी सफल नहीं होते। कहना अनावश्यक है— इच्छाएँ पूर्ण रूप से व्यक्ति के ज्ञान पर टिकी हुई होती हैं, इच्छाओं को बदलने के लिए व्यक्ति को अपना ज्ञान बदलना होता है। ज्ञान बदलने के क्रम में ही ज्ञानियों के द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासन, महान् पुरुषों का संग, आचार्योपदेश इत्यादि

इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से

को उपाय सुझाया गया है। शुभ-इच्छा मूल में है तो प्रवृत्तियाँ भी शुभ और इसके विपरीत अशुभ-इच्छा के मूल में होने पर प्रवृत्तियाँ भी अशुभ चालू हो जाती हैं। इस विषय में न्यायसूत्रकार गोतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन का भी समर्थन द्रष्टव्य है— ‘प्रवर्तनालक्षणा दोषाः’ (१.१.१८) अर्थात् व्यक्ति के चित्त में बैठे हुए राग, दोष, मोह व्यक्ति को उस-उस विषय में प्रेरित करते रहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति की प्रवृत्तियों से पता चलता है कि अमुक व्यक्ति उस-उस विषय में रक्त (रागयुक्त) है या द्विष्ट (द्वेषयुक्त) है या मूढ (मोहयुक्त) है। मनु ने भी कहा है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ।। मनु० २.३

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद् यद्धि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ।। मनु० २.४

बिना इच्छा के कुछ भी क्रिया नहीं होती। क्रिया (प्रवृत्ति) इच्छा का ही साकार रूप है। नीतिकार भी एक बात कहते हैं ‘नाऽकामी मण्डनप्रियः’। अर्थात् मण्डनात्मक प्रवृत्तियों से व्यक्ति की दैहिक कामनामूलक इच्छाओं का पता लगता है यह वचन भी उक्त तथ्य का समर्थन कर रहा है। किसी की भी प्रवृत्तिपरक प्रवृत्तियों से प्रवृत्तिविषयक इच्छा का तथा निवृत्तिपरक प्रवृत्तियों से निवृत्तिविषयक इच्छा का सहज में ही बोध हो सकता है। सांसारिक प्रवृत्ति से सांसारिक इच्छा और आध्यात्मिक प्रवृत्ति से आध्यात्मिक इच्छा का अनुमान होता है। बहरहाल यहाँ यह समीकरण तैयार होता है— ज्ञान-इच्छा-प्रवृत्ति-फल। इस विषय में तार्किकों (नैयायिकों) का प्रसिद्ध वचन ध्यातव्य है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या भवेत् कृतिः ।

कृतिजन्या भवेच्चेष्टा, चेष्टाजन्यं भवेत् फलम् ।।

• नीरव होते ही हमारा भगवान् में प्रवेश हो जाता है किन्तु ये कामनायें हमें नीरव नहीं होने देती।

४४०३०३

४८ . विधान

विधान का अर्थ है वह नियमावली जो व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्पूर्ण विश्व या सम्पूर्ण सृष्टि को दिशा देती है, व्यवस्थित रखती है या नियमों में चलाती है। चाहे किसी भी स्तर पर विधान की शक्ति अपना काम करे उसके मूल में ज्ञान की शक्ति विद्यमान रहती है। चूँकि विधान सदा-सर्वदा सुख-शान्ति-सामञ्जस्य (Harmony) व्यवस्था (Order) व सत्ता के सभी अङ्गों में सुसंवाद (Synergy) बनाए रखने के लिए होता है अतः वह कभी भी किसी का अनिष्ट नहीं करता। व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि ने इस बात को अपने शब्दों में इस रूप में रखा— ‘न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था।’ प्रकृत में शास्त्र का अर्थ है विधान। यहाँ एक बात मानी जा सकती है कि लोक में प्रचलित विधान (संविधान) का निर्माण करने वाली बुद्धि यदि सदोष है, पूर्ण निर्भ्रान्त नहीं है, सत्ता के समस्त अङ्गों को समग्रता में नहीं देख पा रही है, पक्षपातयुक्त है तब तो उतने अंश में निश्चित ही विधान किसी के लिए अनिष्टकारक भी हो सकता है। हाँ! यह सत्य है, किन्तु यह सदा ही ध्यातव्य है कि जिस बुद्धि ने इस सृष्टि का निर्माण किया है वह सर्वथा पूर्ण है, निर्भ्रान्त है, पक्षपातरहित है, करुणा प्रेम व न्याय से परिपूर्ण है, उसके नियम त्रिकालाबाध्य हैं और सब प्रकार से सब का भला करने के लिए नित्यप्रवृत्त हैं, अतः सृष्टि का वह विधान जिसे ‘ऋतनियम’ यह संज्ञा दी गई है, वह कभी किसी का अनिष्ट नहीं करता।

विधान सर्वदा कारण-कार्य (Cause & effect) नियम पर अपना काम करता है। ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा। इसलिए पुण्य व पाप के अनुसार विधान के द्वारा सफलता भी मिल सकती है असफलता भी, समृद्धि भी असमृद्धि भी, विजय भी पराजय भी, सुख भी दुःख भी। विधान सदा करुणा-प्रेम और उदारता से ही भरा रहता है, ऐसा नहीं है। वह कभी कठोर न्याय का भी अनुसरण करता है। विध्वंस और निर्माण दोनों ही विधान के समानान्तर

विधान

पहलू हैं। जहाँ विधान के द्वारा कोई पुरस्कृत होता है वहाँ दण्डित भी विधान के द्वारा ही होता है। विधान के पास साथ में पारगामी दृष्टि भी है। वह जानता है किसको किस समय किस वस्तु की आवश्यकता है। विधान के द्वारा जब किसी मनुष्य को दुःख-दैन्य-कष्ट-बाधा-पराजय-अपमान-मृत्यु ये सब भेंट दी जाती हैं, तो विधान जानता है कि उस व्यक्ति के विकास के लिए उस आग में से गुजरना ही श्रेयस्कर है। अपूर्णता को पूर्णता में बदलने के लिए एक अर्थ में मार्ग की ठोकें, स्खलन, पतन व्यक्ति के लिए विधान की ओर से भेजे गए अद्भुत उपहार बन सकते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति की जड़ता टूट सकती है, उसका अज्ञान दूर हो सकता है, उसकी निर्बलता दूर हो सकती है। किसी भी क्षण व्यक्ति जब अपनी कमजोरी, अपने अज्ञान, अपने अशुभ को ठीक से देख लेता है तो उससे वह मुक्त हो जाता है। विधान की यह कृपा नहीं तो और क्या है? इसीलिए महान् पुरुष ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि विधान किसी का अनिष्ट करने के लिए या विनाश करने के लिए नहीं होता।

यहाँ एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है— एक तो कर्म का विधान होता है और दूसरा फल का विधान। कर्म के विधान में सभी जीव स्वतन्त्र हैं किन्तु फल के विधान में परतन्त्र हो जाते हैं। किसी भी कार्य को करते समय व्यक्ति को पूर्ण सचेत होकर कर्म करने चाहिए। व्यक्ति के पास जो विवेक है, शास्त्र हैं, महापुरुषों का आशीर्वाद है उसके प्रकाश में ही कर्म करने चाहिए किन्तु जो भी फल मिले उसे सहज भाव से स्वीकार करना चाहिए— चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल। चूँकि फल व्यक्ति के प्रारब्ध या कर्माशय के अनुसार मिलता है, दूसरे शब्दों में विधान के तहत मिलता है और विधान व्यक्ति के भले के लिए है, अतः साधक को उसे अपने विकास का साधन समझना चाहिए। दुःख, भूल-भ्रान्ति, असफलता, पराजय, संकट, समस्या आदि के कारण की खोज करनी चाहिए। इसी प्रक्रिया से धीरे-धीरे जीवन का जागरण सम्पन्न हुआ करता है।

इस सम्पूर्ण वक्तव्य का सार यदि एक वाक्य में कहा जाए तो कहना

साधना पथ

होगा- 'व्यक्ति करने में सावधान रहे और होने में प्रसन्न।' प्रायः व्यक्ति की दशा इसके विपरीत रहती है- करते समय तो प्रमाद में रहता है और होने में असन्तुष्ट। अर्थात् जो किया जाता है उसके लिए करने वाले की पूर्ण जिम्मेदारी है किन्तु जो होता है वह विधान के अनुसार होता है, अतः वहाँ स्वीकार भाव चाहिए और आगे के लिए अपनी भूल सुधार कर लेनी चाहिए। इसी भाव को प्रकट करने वाला एक महान् सूत्र एक परम ज्ञानी सन्त के द्वारा इस रूप में प्रकट किया गया है- 'अशुभ कुछ भी नहीं है या तो शुभ है या शुभ की तैयारी'।

- सृजन वह कर्म है जो व्यक्ति की समग्र सत्ता को अनुष्ठान समय से ही आनन्द से आप्लावित रखता है। जय-पराजय से निरपेक्ष होकर जब बालक कोई खेल खेलता है, या पुरस्कार से निरपेक्ष होकर जब कोई चित्रकार चित्रण कर रहा होता है, या कोई कवि या कोई लेखक इसी प्रकार किसी विषय पर कविता या कोई लेख लिख रहा होता है, तो ये सब 'सृजन' के सटीक उदाहरण कहे जा सकते हैं। सृजन के क्षणों में जो एक विशेष घटना घटती है वह यह है कि सृजनकर्ता को समय (Time) का आभास नहीं रहता। स्पष्ट है यदि कर्म करते समय, समय का दबाव बना हुआ है तो सृजन नहीं हो रहा।
- मनुष्येतर सम्पूर्ण सृष्टि सृजन का आनन्द ले रही है। जैसे किसी वनप्रदेश में बन्दर वृक्षों पर उछल-कूद कर रहे होते हैं, गायों के बछड़े जब इधर से उधर कूद-फाँद कर रहे होते हैं, सद्यः प्रसूता गोएँ जब बछड़े के साथ होती है या जब वे चारा चर रही होती है अथवा आराम से जब जुगाली कर रही होती है, आकाश में पक्षिगण उड़ रहे होते हैं, घोड़े दौड़ रहे होते हैं, मछलियाँ पानी में तैर रही होती हैं- ये कुछ उदाहरण मात्र हैं जो सृजन के स्वरूप पर अच्छा-खासा प्रकाश डाल रहे हैं।
- सन्त और शिशु जिनको महामाया की रस्सी नहीं बाँधती, वे पूर्णतः सृजन में जीते हैं।

४९. मोह

जब मनुष्य की बुद्धि मोहग्रस्त होती है तो उसे सब कुछ विपर्यस्त (उलटा-पुलटा) दिखाई देने लगता है, इस बुद्धि मोह से निकलने का क्या उपाय हो सकता है? 'अधिक से अधिक संवेदनशील होना'। पक्षपात रहित होकर अपने-पराये के भेद को भुलाकर सत्य को गहरी आँखों से देखते रहना तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म उत्पन्न होने वाले सुख व दुःख के संवेदन को अनुभव करने के लिये जागरूक हो जाना।

मोह तीन प्रकार का है— विचारमोह, चेष्टामोह तथा वेदनामोह।

विपर्यस्त विचार का नाम ही विचारमोह है। सुख को दुःख व दुःख को सुख समझना, ज्ञान को अज्ञान व अज्ञान को ज्ञान समझना, नित्य को अनित्य तथा अनित्य को नित्य समझना, आत्मा को अनात्मा तथा अनात्मा को आत्मा समझना, ये सब विचारमोह के उदाहरण हैं। विचार मोह के कारण ही व्यक्ति में 'ये वस्तु, व्यक्ति मेरे हैं मैं इनका हूँ' 'अहमेषां ममैते' (श्रीमद्भगवद् गीता २.९ शंकराचार्य) इस भाव का जन्म होता है।

विचारमोह का परिणाम ही चेष्टामोह है, प्रियता-अप्रियता से युक्त चेष्टा अर्थात् राग प्रेरित तथा द्वेष प्रेरित चेष्टा चेष्टामोह के अन्तर्गत आती है। जिसको जो चीज अच्छी लगती (दिखती) है, चाहे उससे परिणाम में कितना भी दुःख मिले, निश्चित रूप से उसकी वहाँ प्रवृत्ति होगी तथा जिससे कष्ट मिलता दिखाई देता है उससे निवृत्ति होगी। इस प्रकार आपात सुख व दुःख को लक्ष्य कर जो प्रवृत्ति-निवृत्ति है— यही चेष्टामोह है। आपाततः कोई चीज दुःखदायी लग सकती है पर सम्भव है परिणाम में वह सुखदायी हो, इससे विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि जो भौतिक वस्तु-व्यक्ति व विचार आपाततः सुखदायी प्रतीत हो रहे हैं वे परिणामतः महादुःखदायी हों, किन्तु विचारमोह से ग्रस्त होने के कारण व्यक्ति की दृष्टि जब दूर तक नहीं देख पाती तो तत्क्षण जो सुख-दुःख प्रतीत होते हैं उन्हीं को पकड़कर व्यक्ति उस-उस वस्तु-व्यक्ति व विचार

साधना पथ

के साथ योग व वियोग करता रहता है। यही है 'चेष्टामोह'।

चित्त की एक ऐसी भी अवस्था होती है जो ठीक से सुख-दुःख, हित-अहित का आकलन ही नहीं कर पाती। इसी का नाम है 'वेदना-मोह'। जैसे कोई कैसर का फोड़ा अन्दर-अन्दर फैल रहा होता है पर प्रकटतः प्रतीत नहीं होता, तद्वत् सब कुछ उलट-पुलट होता रहता है पर फिर भी चित्त जड़ता में इतना लीन रहता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि कुछ गलत भी हो रहा है। वेदनामोह में डूबा हुआ यह समस्त संसार दुःख में बहते हुए तथा निरन्तर दुःख को ढोते हुए भी उसी में तृप्त है।

समस्त मोह ही अज्ञान व अन्धकार का रूप है। सृष्टि के उषाकाल में ही वैदिक ऋषियों ने अज्ञान-अन्धकार के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले महादुःख को अपने दीर्घदृष्टि से देख लिया था। इसीलिये उनके हृदय से उठती हुई निम्न प्रार्थनाएँ सुनने को मिलती हैं—

ओम् असतो मा सद् गमय।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

- ध्यान में लीन योगी या प्रयोगशाला में अपनी किसी खोज में डूबा हुआ वैज्ञानिक वस्तुतः सृजन का सम्पूर्ण आनन्द ले रहा होता है। सृजन वह है जहाँ काल का हस्तक्षेप नहीं पर आनन्द परिपूर्ण हो। बच्चे अपने खेल में जिस आनन्द का अनुभव करते हैं ओलम्पिक में खेलने वाले खिलाड़ियों को उसका शतांश भी अनुभव नहीं होता, सृजन का यह कैसा सजीव उदाहरण है।

- हम आन्तरिक रूप से अस्वस्थ हैं, कमजोर हैं, अपवित्र हैं, अधर्मात्मा हैं किन्तु बाहर से हमें अच्छाई का प्रमाण पत्र मिल रहा है तो यह बाहर का सहयोग (support) कब तक हमें सहारा दे पायेगा? आगे की यात्रा तो हमारे पास जो है उसी के सहारे तय करनी होगी। बाह्य संसार हमारी आत्मा को कैसे बचा सकता है?

४०४०४०४

२००

५०. आत्मयाजी-देवयाजी

मनुष्य जो कुछ भी करता है— यदि उसकी क्रियाओं से सृष्टि का भला होता है, यदि उसके कर्म सह-अस्तित्व के अविरोधी होते हैं, यदि उसकी भूमिका सृष्टि के दूसरे घटकों के लिए पूरकता की होती है तो इसे प्राचीन शब्दावली में 'यजन' या 'यज्ञ' यह नाम दिया गया है। इस यजन के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे— कृषियज्ञ, स्वच्छतायज्ञ, अध्यापनयज्ञ, राज्यसंचालनयज्ञ, वृक्षारोपण यज्ञ, भू-जल और वायु को स्वस्थ रखने के लिए किया गया अग्निहोत्रयज्ञ, परोपकारयज्ञ या सेवायज्ञ, सहयोगयज्ञ इत्यादि। इस विषय में सभी एकमत हैं कि सृष्टि का कोई भी घटक अकेला अपने आप में सर्वथा असहाय है, अपूर्ण है, सापेक्ष है, अतः उसे अपने आप को बनाये (Sustain) रखने के लिए समस्त जड़-चेतन सृष्टि के सहयोग की आवश्यकता रहती है। अर्थात् सृष्टि के सभी ऋतनियम जब एक-एक इकाई की मदद करते हैं तब वह जीवित रह पाती है। यदि हम अपने ही जीवन पर विचार करें तो सूर्य, जल, अग्नि, भूमि, वायु व आकाश से तो सहायता ले ही रहे हैं, इसके अतिरिक्त गाय आदि पशुओं, औषधि-वनस्पति फल-फूल, आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि कराने वाले श्रमिक वर्ग इत्यादि से भी हम विविध प्रकार का सहयोग लेते ही रहते हैं, उन सबका अविस्मरणीय सहयोग सदा हमारे लिए अपेक्षित रहता ही है।

इस पारस्परिकता के सिद्धान्त को हृद्गत करके अथवा परम्परा से आये हुए शास्त्रवचनों को शिरोधार्य करके अथवा सृष्टि-संस्था को स्वस्थ रखने के लिए किन्हीं विशिष्ट वैज्ञानिक उपायों का अवलम्ब लेकर यदि कोई व्यक्ति प्राप्त समय, शक्ति, ऊर्जा, ज्ञान, सामर्थ्य इत्यादि को समष्टि के हित में लगा रहा है या लगाना चाहता है तो कहना होगा कि वह व्यक्ति देवयाजी बनकर जी रहा है। सच्चे अर्थों में देवयाजी बनने का अर्थ है— अपने लिए कम से कम और दूसरों के लिए ज्यादा से ज्यादा। वस्तुतः इस सृष्टि का समस्त कण-कण ही देवता का रूप है। सो अर्जित या प्राप्त सामर्थ्य से, फिर बेशक उस सामर्थ्य

साधना पथ

का कोई भी रूप हो— बौद्धिक ज्ञान, कवित्व प्रतिभा, चित्रकारिता, वाक्शक्ति, वाग्मिता, भाषाओं का ज्ञान, गले का सुन्दर स्वर, रूपमाधुरी, नेतृत्व की क्षमता, धन की शक्ति, शारीरिक श्रम, किसी विशिष्ट विद्या में पारगामिता इत्यादि, इन सब में से किसी एक या अनेक उपायों से कण-कण में निहित देवत्व का पूजन-अर्चन करना ही देवपूजा करना है। प्रतीकात्मक दृष्टि से घृत का अग्नि में हवन के द्वारा अग्नि वायु और जल देवता का पूजन भी देवयज्ञ या देव पूजा का ही रूप है।

इस प्रकार देखा गया देवयाजी होने का अर्थ है अपने पास जो है उसको वापस सह-अस्तित्व के लिए लगा देना। किन्तु इस बाँटने की प्रक्रिया में, इस देवयज्ञ के चलते जब व्यक्ति अपनी तरफ भी साथ-साथ देखता रहता है, देवयजन को माध्यम बनाकर अपना आत्म परिष्कार भी साधित करता रहता है तो वह आत्मयाजी बन जाता है। अर्थात् जब कर्म अपने भीतर ज्ञानोत्पत्ति का साधन बन जाता है तो वह आत्मयजन का रूप धारण कर लेता है।

अब यह पूछा जाए कि देवयाजी और आत्मयाजी में अधिक श्रेष्ठ कौन है? इस प्रश्न का उत्तर हम शतपथकार याज्ञवल्क्य से लेना चाहेंगे— शतपथकार ने दर्शपौर्णमास की आध्यात्मिक व्याख्या करके अन्त में लिखा है—

तदाहुः— आत्मयाजी श्रेयाऽन् देवयाजीऽ इति। आत्मयाजीति ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति। (शत० ११.२.६.१३) अर्थात् देवयाजी और आत्मयाजी में कौन अधिक श्रेष्ठ है? आत्मयाजी अधिक श्रेष्ठ है, अधिक श्रेयकर है, अधिक अच्छा है। स्वयं याज्ञवल्क्य आत्मयाजी की व्याख्या करते हैं— आत्मयाजी उसको कहते हैं जो यज्ञ करते हुए जानता है कि यज्ञ की किस क्रिया से मेरे स्थूल या सूक्ष्म शरीर का कौन सा अङ्ग संस्कृत हो रहा है या वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। जो इस विचार से रहित केवल देवों का यजन मात्र कर रहे हैं अर्थात् परोपकार करते हुए उस-उस परोपकार रूप कर्म के द्वारा जिनका अपने जीवन के संस्कार पर ध्यान नहीं है वे हैं— देवयाजी।

५१. मन्त्रवित्-आत्मवित्

छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय के १ से २६ खण्डों में नारद-सनत्कुमार संवाद देखने को मिलता है। समस्त वेदादिशास्त्रों में पारङ्गत नारद सनत्कुमार के पास जाकर कहते हैं— ‘भगवन् मुझे उपदेश दीजिए’। ऋग्वेदादिशास्त्रों का मुझे ज्ञान है किन्तु मैं मन्त्रवित् ही हूँ आत्मवित् नहीं हूँ। मैंने आप जैसे महान् आत्माओं से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से पार चला जाता है, इधर मैं तो शोक में डूबा हुआ हूँ। (सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं होव मे भगवददृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति)। इस कथानक से एक स्पष्ट सूचना मिलती है, केवल मन्त्रवित् होने से कोई शोकमुक्त नहीं हो सकता, शोकमुक्त होने की आवश्यक शर्त है आत्मवित् होना। आत्मवित् होने की यात्रा में शास्त्रज्ञान सीढ़ी का पहला पायदान है, यह आवश्यक तो है, पर अन्तिम नहीं है। आगे सनत्कुमार इस सीढ़ी के अगले पायदानों की चर्चा करते हुए कहते हैं— वाणी-मन-संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान-बल-अन्न-जल (अप्)-तेज-आकाश-स्मर (स्मरण)-आशा-प्राण इत्यादि कुल मिलाकर ये १५ पायदान होते हैं ‘जो एक से एक ऊपर आरोहण में सहायक हैं। इतना सब बताने के बाद अब सनत्कुमार नारद को निर्देश देते हैं कि तुम्हें परमार्थ सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिए, जो सत्य को ठीक-ठीक जानता है वही परमार्थ सत्य को ठीक-ठीक बोल सकता है अतः सत्यवादी सत्यभाषी होने के लिए सत्य के विषय में विशेष ज्ञानवान् होना होगा। विशेष ज्ञानवान् होने के लिए ‘मतिमान्’ (मननशील) होना होगा। मनन तब होगा जब मननीय विषय में ‘श्रद्धा’ होगी। श्रद्धा तब होगी जब श्रद्धेय विषय में ‘निष्ठा’ होगी। निष्ठा टिकी होती है ‘कृति’ पर। कृति का टिकाव है ‘सुख’ पर। व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुसार किसी चीज में सुख देखता है तो अवश्य ही उस काम को करता है।

सनत्कुमार आगे समझाते हैं— सुख के यथार्थ स्वरूप को समझना ही

साधना पथ

सबसे अधिक बुद्धिमत्ता का काम है— निश्चय ही जो भूमा है— महान् है, निरतिशय है और बहुभाव से युक्त है (ये सब भूमा के पर्याय हैं) वही सुख है। उससे नीचे के पदार्थ सातिशय (न्यूनाधिक) होने के कारण अल्प हैं। उस अल्प में सुख नहीं है क्योंकि अल्प तो अधिक तृष्णा का ही हेतु है और तृष्णा दुःख का बीज है। इसलिए भूमा ही सुखरूप है क्योंकि भूमा में दुःख के बीजभूत तृष्णादि का होना असम्भव है (यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्)।

नारद पूछता है— भूमा का क्या स्वरूप है, वह किन लक्षणों वाला है? सनत्कुमार कहता है— साधक जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो मर्त्य है वह अल्प है। नारद— भगवन्! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार— अपनी महिमा में या अपनी महिमा में भी नहीं (यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति)। तो ऐसा क्यों कहा जाता है वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है? इसका उत्तर देते हैं, क्योंकि वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। अब उसी से अहङ्कारादेश किया जाता है— मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं बायीं ओर हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ (स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति)।

आत्मरूप से भी भूमा का आदेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है। वह यह इस प्रकार देखने

मन्त्रवित्-आत्मवित्

वाला, इस प्रकार मनन करने वाला तथा विशेषरूप से इस प्रकार जानने वाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है। वह स्वराट् होता है, सम्पूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है। किन्तु जो इसके विपरीत जानते हैं वे अन्यराट् (जिनका राजा अपने से अन्य कोई और है) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकों को प्राप्त करने वाले) होते हैं। उनकी सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छागति नहीं होती। (अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्ता-दात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ योऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति)।

आकाश के समान सर्वत्र पूर्ण एक अज और अनन्य आत्मा को देखने वाला वह यह विद्वान् मनन और विज्ञान के कारण आत्मरति- आत्मा में ही जिसकी रति अर्थात् रमण है ऐसा और आत्मक्रीड होता है। रति का साधन केवल देह है और क्रीड़ा बाह्य साधन वाली होती है, क्योंकि लोक में 'स्त्रियों और मित्रों के साथ क्रीड़ा करता है' ऐसा प्रयोग देखा जाता है, किन्तु विद्वान् की क्रीड़ा ऐसी नहीं होती। तो कैसी होती है? उसकी तो ये (रति और क्रीड़ा) आत्मविज्ञान के कारण ही होती है। मिथुन यह दो से होने वाला सुख है पर जिस विद्वान् (ज्ञानी पुरुष) का वह सुख भी दो की अपेक्षा से रहित है उसे आत्ममिथुन कहते हैं। अविद्वानों का आनन्द शब्दस्पर्शादि विषय जनित होता है, विद्वान् का आनन्द वैसा नहीं होता। तो कैसा होता है? वह सारा-का-सारा सर्वदा सब प्रकार आत्मा के ही कारण होता है। इस प्रकार के लक्षणों वाला वह विद्वान् जीवित रहता हुआ ही स्वराज्य पर अभिषिक्त हो जाता है तथा देहपात होने पर भी स्वराट् ही होता है। समस्त पराधीनताओं से वह मुक्त होता है। उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता है क्योंकि किसी से कुछ पाने की चाह नहीं होती। वह पूर्ण सहज, निरहङ्कार जीवन जीता है।

साधना पथ

इस उपनिषद् के अन्त में कहा गया कि आहारशुद्धि (विषयोपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि) होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है तथा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों (वासनाओं) की निवृत्ति हो जाती है। आत्मविद् न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःखत्व को। वह विद्वान् सबको आत्मरूप ही देखता है, अतः सबको सब प्रकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गई थीं उन नारद जी को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञानान्धकार का पार दिखाया। (न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्बे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्सारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते)।

* * *

- यदि जीवन केवल इतना ही होता जितना हमारी आँखों के सामने है तो कैसे भी मन-मौजी ढंग से स्वच्छन्दता पूर्वक जी लेते, किन्तु यह तो इससे पहले भी था और निश्चित रूप से आगे भी रहेगा, तो बात बड़ी गम्भीर हो जाती है, फिर तो जीवन की रक्षा सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अवश्य करनी ही होगी।
- जो कुछ हमने पदार्थ के रूप में इकट्ठा किया या अध्ययन के रूप में स्मृतिकोष में जमा किया, वह सब तो यहीं रह जायेगा। साथ तो वही जाने वाला है जो हमारे स्वभाव में आ गया है।
- केवल पदार्थ की उपलब्धि तथा शरीर से सम्बद्ध सोना-जागना, खाना-पीना आदि क्रियाओं से मनुष्य जीवन तृप्त नहीं होता। मनुष्य की तृप्ति तो ज्ञान-समाधान से ही हो सकती है।
- ज्ञान-समाधान से सम्पन्न व्यक्ति स्वयं में तो निर्भ्रान्त होता ही है साथ में सम्बन्धों का निर्वाह भी न्यायपूर्ण ढंग से कर पाता है और सुविधाओं की सीमा को भी सुनिश्चित कर पाता है।

४०४०४०४

५२. एकत्व-नानात्व

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(गीता ६.२९-३०-३१)

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च यत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः पारमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥

(गीता १३.१२, १३, १५-१७, २२)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । (गीता ९.२४)
भोक्तारं यज्ञतपसाम् । (गी० ५.२९)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(गीता १३.२७-२८-३०)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

(गीता १८.२०-२१-२२-५४)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुश्रयति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोप० ६-७)

साधना पथ

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किं चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।

(कठोप० ४.११-१२)

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।

एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।। (ऋ० ८.५८.२)

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्।। (अथर्व० १०.८.१३)

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।। (यजु० ३२.८)

जब हम श्रुतियों का अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है समस्त श्रुतियाँ मनुष्य जीवन की पूर्णता के लिए जो भी आवश्यक ज्ञान है, वह सब मनुष्य को देना चाहती हैं। उन विविध ज्ञान धाराओं में जो सबसे अधिक गम्भीर, जीवन की परिपूर्णता के लिए सबसे अधिक आवश्यक, सबसे अधिक सूक्ष्म जो ज्ञान है वह है— नानात्व में एकत्व का बोध। इस सृष्टि का जो रूप हमारे सामने है, जो कि आपाततः हमें प्रतीत हो रहा है, उसका अवलोकन करें तो स्पष्ट ही नानात्व दिखाई दे रहा है। किन्तु इसके मूल में जो चैतन्य धारा प्रवाहित है जिस अदृश्य तत्त्व पर यह सब दृश्य टिका है, उसे वेदों में कहीं प्राण (द्रष्टव्य अथर्व० ११.४), कहीं उच्छिष्ट (अथर्व० ११.७), कहीं स्कम्भ (अथर्व० १०.७), कहीं अनड्वान् (अथर्व० ४.११), कहीं केन पाष्णी (अथर्व० १०.२), कहीं अध्यात्मम् (अथर्व० १०.८), कहीं ब्रह्म व आत्मा (अथर्व० २.१), कहीं आत्मा (अथर्व० ४.२), कहीं पुरुष (ऋ० १०.९०, यजु० ३१वाँ अध्याय १-२२, अथर्व० १९.६), कहीं इन्द्र (अथर्व० १९.१३), कहीं सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्, आम्भृणी वाक् (अथर्व० ४.३०, ऋ० १०.१२५), कहीं पुरुष, ब्रह्मप्रकाशनम् (अथर्व० १०.२), कहीं वशा पारमेश्वरी माता (अथर्व० १०.१०), कहीं विष्णु (अथर्व० ७.२६, ऋ०

एकत्व-नानात्व

१.२२ तथा १.१५४), कहा गया। तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं (ऋ० १०.१२०.१), इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋ० ६.४७.१८), स जनास इन्द्र (ऋ० २.१२), वरुणसूक्त (अथर्व० ४.१६), भव शर्व रुद्र (अथर्व० ४.२८) और शतशः अग्नि सूक्त, सोम सूक्त, पूषा सूक्त, विष्णु सूक्त, वरुण सूक्त, रुद्र सूक्तों में उसी एक अन्तर्यामी की महिमा गायी गई है।

मनुष्येतर जीवों के पास तो वह सामर्थ्य ही नहीं है कि वे भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी, प्रजनन व भय से अतिरिक्त कुछ जान सकें। मनुष्य भी अपनी अज्ञान अवस्था में इतना ही जानते हैं कि वे पृथक्-पृथक् एक-एक इकाई हैं। उनकी अपनी-अपनी कामनाएँ हैं। उन कामनाओं को पूरा करने में कुछ उनके सहयोगी हैं, कुछ विरोधी। स्पर्द्धा है, परस्पर संघर्ष है, संघर्ष में जय पराजय है, मान-अपमान, हर्ष-शोक, भूख-प्यास का द्वन्द्व है। संशय हैं, आसक्तियाँ हैं, आशा व निराशा है, बलवान् के समक्ष भय है, निर्बल के समक्ष बल प्रदर्शन, सफलता-असफलता है।

अज्ञान में जीने वाले सभी मनुष्यों की कामनाओं का एक स्तर नहीं है, जो जहाँ खड़े हैं उसके अनुसार उनकी इच्छाएँ हैं। कुछ स्त्री-पुत्र-परिवार और छोटे-मोटे अपने ऐन्द्रियिक सुखों को पाने के लिए प्रयासरत हैं, दूसरे धनवान् बनकर धन से विविध सुविधाएँ जुटाना चाहते हैं और उनका भोग करना चाहते हैं, तीसरे सौन्दर्य और कला से प्रेम करते हैं। कुछ सम्पत्ति, सामान, किसी हुनर (Skill) योग्यता या पद के द्वारा दूसरों से अपने को विशेष प्रमाणित करने में जुटे हुए हैं।

जब तक मनुष्य को इन सभी घटकों में विराजमान उस परम आत्मा और उसकी शान्ति-ज्ञान-बल-आनन्द व प्रेम का अनुभव नहीं होता तब तक वह कुछ भी करे, उसका जीवन अहं के दायरे से बाहर नहीं निकल पाता। सब के सब आस्तिक लोग यह स्वीकार करते हैं कि परमात्मा एक है, दो तीन चार पाँच नहीं और सब जीवात्माओं की जातिगत एकता या समानता है फिर यह नानात्व कहाँ से आ गया ? शास्त्रकार हमें समझाते हैं जो नानात्व को देखता है

साधना पथ

वह मृत्यु से मृत्यु या दुःख से दुःख में ही घूमता रहता है। वस्तुतः जीवात्माओं की स्वरूपगत या व्यक्तिगत अनेकता को लेकर यह कथन नहीं है, यह कथन है अहंकृत दर्शन को लेकर। सब के सब अज्ञानग्रस्त मनुष्यों ने अपनी-अपनी एक-एक छवि बनाई हुई है। अब उस-उस छवि को मनुष्य अपने ज्ञान व सामर्थ्य के अनुसार दूसरों से विशेष सिद्ध करना चाहता है। दूसरे भी यही कर रहे हैं। किन्तु किसी एक को भी यह स्वीकार नहीं है कि मेरी छवि से दूसरे की छवि अच्छी हो। यही संघर्ष है। इस अन्तहीन संघर्ष को कोई भी अपनी गहरी आँखों से देख सकता है। छवि का टूटना और इष्ट छवि का बनना किसी के घर के टूटने या घर के और भी सुन्दर बनने से भी अधिक कष्टकर व सुखद होता है, यह किसी से अविदित नहीं है। अहंकेन्द्रित जीवन कुछ भला करता हुआ दिखाई देता भी है तो केवल अपनी उस छवि को और सुन्दर दिखाने के लिए, न कि परोपकार करने के लिए। परोपकार तो जिनका व्यक्ति उपकार करना चाहता है उनके प्रति प्रेम के बिना कदापि नहीं हो सकता। अहंकार सब कुछ कर सकता है पर उसने प्रेम करना नहीं सीखा।

अहंनिष्ठ व्यक्ति को अपनी छवि की रक्षा के लिए कभी झूठ बोलना पड़ता है, कभी झूठा दिखावा करना पड़ता है, कभी अपनी छवि में बाधक बनने वाले व्यक्ति को घटिया तरीकों से अपने मार्ग से हटाना पड़ता है, यदि हिंसा ही एकमात्र उपाय रह जाए तो वह भी करने के लिए तैय्यार हो जाता है, छवि को बचाने के लिए लुकाव-छिपाव करना तो एक सामान्य बात होती है। अहं के सहारे पर जीने वाला व्यक्ति केवल अपनी और अपनों की वृद्धि चाहता है तथा दूसरों का नाश। पूरी मनुष्य जाति ही जहाँ ऐसा कर रही हो वहाँ सुख कहाँ!

यहाँ एक प्रश्न उभरकर आता है अहं का कहीं जीवन के विकास में सकारात्मक उपयोग भी हो सकता है या यह केवल नकारात्मक ही है? त्रिगुण को सामने रखकर यदि विचार करें तो तमोगुण या रजोगुण की स्थिति में खड़ा व्यक्ति अपने लिए अहंपूर्ण निर्णय ले सकता है कि मैं अपने जीवन को सुन्दर बनाना चाहता हूँ, मुझे जीवन का यह रूप पसन्द नहीं है। किन्तु अन्ततः अहं की विनाशकारी क्रियाओं को समझना ही पड़ेगा। अहं की उत्पत्ति अज्ञान से

एकत्व-नानात्व

होती है और समस्त अज्ञान से मुक्त होने के लिए एक ही उपाय है— 'ज्ञान'। यह सब देखकर ही श्री अरविन्द ने कहा- 'Ego is the helper, ego is the bar'।

मनुष्य के अन्दर दो आत्माएँ हैं— एक कामनामय आत्मा (desire soul) और दूसरी आनन्दमय आत्मा (delight soul)। आनन्दमय आत्मा अखण्ड रूप से सब में एक ही है किन्तु ये कामनामय आत्मा पृथक्-पृथक् हैं जो अपने-अपने ज्ञान व कर्म के अनुसार अपना-अपना अभिनय (part play) कर रहे हैं। इस कामनामय पुरुष, जिसे उपनिषदों में विज्ञानमय पुरुष भी कहा गया है, की यह योग्यता है कि वह अपने भीतर उपस्थित आनन्दमय आत्मा के साथ एकत्व में रहे और उसी की तरह सर्वथा अकाम हो जाए अथवा उससे अलग रहते हुए अपनी विविध कामनाओं को पूरा करने में लगा रहे। सर्वगत एक आत्मा के साथ एकत्व की स्थिति में रहने पर उसके जो-जो गुण-कर्म-स्वभाव हैं वे सहजरूप में इस में भी संक्रान्त हो जाते हैं जैसे वह आत्मा पूर्ण शान्त है यह भी पूर्ण शान्त हो जाता है; वह प्रेममय, ज्ञानमय, अखण्ड है— यह भी वैसा ही हो जाता है; वह पक्षपातरहित है यह भी पक्षपातरहित हो जाता है; वह न्यायपूर्ण है यह भी न्यायपूर्ण हो जाता है। लोहा जैसे अग्नि में पड़कर अग्निमय हो जाता है, परमात्मा के साथ एकत्व की स्थिति में इस क्रतुमय पुरुष (कामना करना और उस कामना को पूरा करने के लिए कर्म करने वाले पुरुष) की भी वही स्थिति हो जाती है। ऐसे साधक की प्रेममय आत्मा में स्थिति होने के कारण दूसरों से घृणा और निन्दा समाप्त हो जाती है। उस अपने अन्तरतम आत्मा में निवास करने के कारण इसका किन्हीं भी व्यक्तियों में मोह नहीं होता और जब मोह ही नहीं तो उनके वियोग में उत्पन्न होने वाला शोक भी नहीं होता। इस प्रकार परम ईश्वर की तरह सब भूतों को वह समान दृष्टि से देखता हुआ सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार की तरह ही देखता है। वह अपनी खुशियों के लिए दूसरों का प्रयोग (use) नहीं करता बल्कि अपने को दूसरों की खुशियाँ बढ़ाने में समर्पित कर देता है।

५३. मस्करी परिव्राजक

पाणिनि व्याकरण में एक सूत्र उपलब्ध है— **मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः** (अ० ६.१.१४९)। मस्कर शब्द का अर्थ है वेणु अर्थात् दण्ड और मस्करी का अर्थ है परिव्राजक अर्थात् संसार को शान्ति, आनन्द, प्रेम, ज्ञान व उत्साह का संदेश सुनाने के लिए भ्रमणशील संन्यासी। भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं— मस्करी शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (वह क्रिया या गुण या जातिरूप अर्थ जिसके कारण शब्द का उस-उस अर्थ में प्रयोग होता है, उसे शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है) ‘मस्कर= दण्ड धारण करने वाला मस्करी’ यह नहीं है बल्कि— ‘**मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याह, अतो मस्करी परिव्राजकः।**’ अर्थात् जो सर्वदा जगत् को अपना यह सन्देश देता रहता है— काम्य कर्म मत करो, काम्य कर्म मत करो, शान्ति ही तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी है।

एक दृष्टि से कर्म के तीन विभाग किये जाते हैं— नित्य, नैमित्तिक और काम्य। **नित्य-कर्म** वे हैं जिन्हें हम मरणपर्यन्त कभी भी नहीं छोड़ सकते, जैसे— भोजन करना, शरीर से टहलना, रात्रि में शयन करना, मन से ईश्वर की उपासना करना जिसके लिए शास्त्र में संध्या-वन्दन, भजन-पूजन आदि नाम दिया है। **नैमित्तिक-कर्म** वे हैं जो निमित्त से किये जाते हैं जैसे— अचानक कहीं आग लग गयी तो उसे बुझाना, कोई हमारे घर अतिथि आ जाता है तो उसकी सेवा करना, कोई जिज्ञासु किसी ज्ञानी पुरुष के पास पहुँचता है तो उसका समाधान करना इत्यादि। किसी भी कामना को लेकर किये गये कर्म **काम्य-कर्म** कहलाते हैं, जैसे— पुत्र प्राप्ति के लिए गृहस्थ आश्रम, धन प्राप्ति के लिए कोई भी व्यापारादि, शक्ति प्राप्त करने के लिए कोई पद या राजनीति इत्यादि, प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए कोई भी सामाजिक कार्य करना इत्यादि।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है— ‘**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।**’ (गी० १८.२) अर्थात् ज्ञानी पुरुषों के अनुसार काम्य कर्मों के त्याग

मस्करी परिव्राजक

का नाम संन्यास है। एक मस्करी (संन्यासी) किसी भी फल की आशा से किये गये काम्य कर्मों को तो त्याग ही देता है। किन्तु यदि किसी कर्मविशेष में उसकी आसक्ति बनी हुई है तो वह भी उसके लिए बन्धन ही है। यह कहना चाहिए कि ज्ञानी कर्म करता नहीं, उसके द्वारा कर्म होते हैं। मनुष्य तो क्या सृष्टि का कोई भी घटक बिना कर्म रह ही नहीं सकता, ज्ञानी भी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु वह कर्म पर आश्रित नहीं होता। लेखक एक महान् पुरुष को जानता है— उनकी वृद्धावस्था में जब कोई उनके पास मिलने जाता तो वे उनको एक ही सन्देश देते ‘काम करो।’ चूँकि वे स्वयं वृद्धावस्था जन्य रुग्णता के कारण कर्म करने में असमर्थ हो गये थे अतः बिना कर्म किये रहना उन्हें कष्टप्रद हो रहा था। लेखक एक अन्य तेजस्वी युवक से सुपरिचित है— वह समाज में कुछ सामाजिक कार्य करना चाहता है। उस युवक का कहना है कि समाज में कार्य करने के लिए किसी को भी अपनी एक विशेष छवि बनाकर रखनी होती है, उस छवि से काम की गति तेज हो जाती है, साथ में काम करने में सरलता भी होती है।

यह सब अपनी जगह ठीक है किन्तु इस प्रक्रिया में कार्य की गति बढ़ने के साथ व्यक्ति की सरलता जाती रहती है। ‘कर्म’ जो एक आत्म-परिष्कार का साधन हो सकता है वह नहीं रहता। इस दृष्टि से काम करने वाले लोगों के लिए कर्म ज्ञान, पवित्रता और मुक्ति की तरफ ले जाने की बजाय अज्ञान, अहंतृप्ति और बन्धन के हेतु हो जाते हैं। अतः ज्ञानी पुरुष सकाम कर्मों का निषेध करते हैं। निष्काम कर्म जिन्हें शुद्ध कर्म भी कहते हैं, ये ही ज्ञानियों को इष्ट होते हैं। ज्ञान की भित्ति पर खड़े होने पर ऐसे कर्म ज्ञानी के अन्दर से स्वयं प्रवाहित होते हैं, किये नहीं जाते। अन्तर्यामी को समर्पण के भाव से किये गये कर्मों में भी लौकिक कामना-पूर्ति की चाह न होने से वे भी बन्धन मुक्त होते हैं। शंकराचार्य अपने ग्रन्थों में कर्म का घोर विरोध करते हुए नजर आते हैं, किन्तु स्वयं प्रचण्डकर्म बने हुए हैं— ग्रन्थ लिख रहे हैं, शास्त्रार्थ कर रहे हैं, पैदल ही भारत के सुदूर स्थानों में मठ स्थापित कर रहे हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उनके द्वारा वे सब कर्म सहजरूप से हो रहे थे, कर नहीं

साधना पथ

रहे थे। कर्म करते हुए भी वे सदा अकर्म में प्रतिष्ठित थे।

सार यही है— मस्करी (संन्यासी) अहंकारपूर्ण कर्म करने का निषेध करते हैं, न कि कर्म मात्र का, जो कर्म होते हैं उनको तो प्रकृति भी नहीं रोक सकती तो वे निषेध क्यों करेंगे? विशुद्ध प्रेम या विशुद्ध करुणावशात् किये गये कर्म कर्ता को बाँधते नहीं हैं। 'कर्म का होना' तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा में सुप्रतिष्ठ हो जाता है, अकाम हो जाता है, अन्यथा व्यक्ति के द्वारा कर्म किये ही जाते हैं।

* * *

- 'समर्पण' व्यक्ति को पूर्णतः निर्भर कर देता है। हमारे अपने व्यक्तित्व में कौन सी ऐसी चीज है जो समर्पण करने में अनिच्छुक है, इसका निरीक्षण-परीक्षण सतत करते रहना चाहिए।
- तीन चीजें हैं— पदार्थ, क्रियायें और स्वभाव। मनुष्य को सतत अपने जीवन का मूल्यांकन करते रहना चाहिए कि सबसे महत्वपूर्ण चीज मेरे लिये क्या है? मनुष्य के ज्ञान में जो चीज जितनी महत्वपूर्ण होती है उसी अनुपात में वह उसके लिये अपने समय का समायोजन करता है।
- एक महान् सन्त कहते हैं— जब तक व्यक्ति के पास विकल्प है तब तक वह पूर्ण समर्पण के लिए तैयार नहीं होता। विकल्परहित होते ही रास्ता अपने आप खुल जाता है।
- हे प्रभो! वर दो कि मैं वैदिक शिक्षाओं पर चलता हुआ अपने को धीर बना सकूँ। मेरे अन्तस् में विराजमान शान्ति-प्रेम-ज्ञान-बल-आनन्द-करुणा आदि दिव्य गुण सतह (Surface) पर आ जाएँ।
- हे प्रभो! वर दो कि आपका शीतल स्पर्श, आपकी अन्तःप्रेरणाएँ सभी उष्ण वासनाओं को बुझा दें।
- हे प्रभो! वर दो कि हम तुझे कभी न भूलें; सम्पत्ति-विपत्ति, मान-अपमान, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता इत्यादि विरोधी परिस्थितियों में भी मन सदा आपके आलम्बन रूप श्रेष्ठ आश्रय का त्याग न करे।

५४. आत्मकल्याण

मनुष्य की मूल इच्छा यह है कि उसका कल्याण हो, भला हो, मङ्गल हो और उसकी सब प्रकार से श्रीवृद्धि हो। किन्तु इस बात की जाँच-परख करने के लिए उसके पास जो स्केल है, जो मीटर है, जो पैमाना है वह उसका अपना ही है। वह दूसरे के स्केल से मिलता नहीं है। जिस पैमाने से वह अपना हिताहित आँकता है उसका नाम है 'ज्ञान'। ज्ञान एक सामान्य शब्द है वह सम्यक् भी हो सकता है और असम्यक् भी। जिसके पास जो भी ज्ञान होता है उसके आधार पर व्यक्ति अपने मार्ग को सुनिश्चित करता है— मेरे लिए अमुक चीज ठीक नहीं रहेगी अमुक नहीं।

मनुष्य का ज्ञान उसे जिस कार्य में लाभ या सुख दिखाता है, उसे वह कर लेता है, दूसरी तरफ जिसमें हानि या दुःख दिखाता है उसे छोड़ देता है। वह सुखदर्शन या दुःखदर्शन, लाभदर्शन या हानिदर्शन समय के अनुसार बदलता रहता है। क्यों बदलता है? क्योंकि ज्ञान (सुना हुआ ज्ञान) बदलता रहता है। ज्ञान जब निर्भ्रान्त हो जाता है और वह सुस्थिर भी हो जाता है तो जो वस्तुतः सुखदायक या लाभकारी है वह सुखदायक व लाभकारी तथा जो दुःखदायक या हानिकारक है वह दुःखदायक व हानिकारक सतत प्रतीत होता रहता है। एक अर्थ में ज्ञान को निर्भ्रान्त व सुस्थिर करने के लिए किये गये प्रयत्नों का नाम अभ्यास है और ज्ञान के सहज हो जाने का नाम वैराग्य है।

छोटे बच्चे जिन विषयों में लाभ या सुख देखते हैं वे कुछ अलग ही प्रकार के होते हैं, थोड़ा बड़े हो जाने पर वे पहले वाले विषय छूट जाते हैं, कुछ और ही आ जाते हैं। जैसे पहले अधिकतर खेल-कूद में रुचि थी अब पढ़ने लिखने में अधिक समय जाता है, थोड़ा और बड़े होने पर आजीविका की खोज होती है, फिर विवाह करता है— घर बसाता है, समाज में प्रसिद्धि पाना चाहता है, कुछ विशेष कार्य करके दिखाना चाहता है तथा कुछ और विकसित (Mature) होने पर जीवन क्या है? जगत् क्या है? सम्बन्ध क्या है? जीवन का

साधना पथ

उद्देश्य क्या है? जीवन का स्रोत क्या है? जीवनदाता कौन है? उसका स्वरूप क्या है? उसके प्रति हमारा उचित मनोभाव क्या हो सकता है? बन्धन क्या है? मुक्ति क्या है? कर्म का उद्देश्य क्या है? वासनाएँ क्या हैं? इन और ऐसी तमाम चीजों की खोज करना चाहता है। उपलब्ध ज्ञान के अनुसार व्यक्ति की अगली यात्रा तय होती है। पूर्व स्थिति के त्याग और आगे के ग्रहण दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान निमित्त बनता है।

एक व्यक्ति कष्ट उठाकर भी दूसरों का भला करता हुआ दिखाई देता है, दूसरा अपने तक ही सीमित है। एक परिव्राजक घूम-घूम कर लोगों को ज्ञान बाँट रहा है, समझा रहा है, बादल बनकर बरस रहा है, दूसरा भी ज्ञानी है किन्तु वह कुआँ बनकर या प्याऊ बनकर ही लोगों की प्यास बुझाना चाहता है। दोनों ज्ञानी अलग-अलग ढंग से क्यों सेवा करना चाहते हैं? ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के रूप में अलग-अलग कार्यों का चुनाव व्यक्ति क्यों करता है? एक व्यक्ति पूर्ण अहिंसक बनकर जी रहा है, दूसरा हिंसा में ही रचा-पचा है, ऐसा क्यों? एक वाचाल है, दूसरा बहुत कम बोलता है, यह भेद क्यों? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है— सबके पास ज्ञान का आधार अलग है। किन्तु इन सब क्रियाओं में एक बात सामान्य है कि सब के सब अपना लाभ अपना भला या अपना सुख उस-उस जीवन-पद्धति में देख रहे हैं। जो सब कुछ को अपने अधिकार में करना चाहता है, उसका आन्तरिक मनोभाव यही है कि उससे उसे सुख मिलेगा और दूसरी तरफ जो सब कुछ का त्याग करना चाहता है उसकी भी दृष्टि सुखी होने की ही है। यह बात अलग है कि दोनों का सुख के स्वरूप में आकाश-पाताल का अन्तर है।

एक संघर्ष में, सम्पत्ति में, सम्मान में, शक्ति (power) में, ऐन्द्रियिक सुखों में सुख को ढूँढ़ रहा है; दूसरा शान्ति में, ज्ञान में, प्रेम में, अहंमुक्त जीवन में, निर्भयता में, पूर्ण स्वाधीनता में, धर्म के आचरण में, धीरता-वीरता-उदारता में सुख को खोज रहा है। एक भीड़ में, पदार्थों में, विविध क्रियाओं में सुख का खोजी है; दूसरा एकान्त में, मन की नीरवता में, चित्तवृत्तिनिरोध में; एक भोग

आत्मकल्याण

में दूसरा योग में; एक ईश्वरानुराग में दूसरा विषयानुराग में; एक प्रवृत्ति में दूसरा निवृत्ति में सुख की तलाश कर रहा है। यह सब देखकर प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को जीवन की शाश्वत माँग को समझाते हुए एक दिव्य गीत सुनाया— ‘न वाऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वाऽरे-----’ इत्यादि। अर्थात् हे मैत्रेयी! पति, जाया (पत्नी), पुत्र, वित्त (धन), ब्रह्म (ब्राह्मशक्ति, वेद ज्ञान या ब्राह्मण), क्षत्र (क्षात्रशक्ति या क्षत्रिय), लोक, देव (विद्वान्), भूत (चर-अचर भूत-प्राणी), सर्व (सब जगत्) से जो किसी का प्रेम होता है वह पति आदि के लिए नहीं होता, बल्कि अपनी आत्मा के लिए होता है। अन्त में कहते हैं जिस आत्मा के लिए समस्त वस्तु-व्यक्ति या पदार्थों से प्रेम है उसी का दर्शन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए।

ठीक यही संदेश शब्दान्तर से व्याकरण भाष्यकार पतञ्जलि ने अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है— ‘नेह कश्चित् परोऽनुग्रहीतव्य इति प्रवर्तते। सर्व इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते। ये तावदेते गुरुशुश्रूषवो नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते पारलौकिकं च नो भविष्यति, इह च नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यतीति, तथा य एते दासाः कर्मकरा नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते- भक्तं चैलं च लप्स्यामहे। मित्राणि च नो भविष्यन्तीति।’ तथा— य एते शिल्पिनो नाम एतेऽपि स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते— वेतनं च लप्स्यामहे, मित्राणि च नो भविष्यन्तीति। अर्थात् इस जगत् में कोई भी ‘मुझे दूसरे पर अनुग्रह करना है’ इस भाव से प्रवृत्त नहीं हो रहा। सब अपनी श्रीवृद्धि या प्रयोजन सिद्धि को लक्ष्य कर के ही किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं चाहे कोई गुरु की सेवा में हैं या दास कर्मकर हैं या शिल्पी लोग हैं, सब के समक्ष अपना कोई न कोई हितकारी व सुखकारी उद्देश्य है जिसके कारण वे सब लोग उस-उस कर्म में प्रवृत्त हैं।

• प्रभो! वर दो कि मेरी सत्ता के विभिन्न अङ्गों में एकत्व, शान्ति, अविरोध, सामञ्जस्य व सन्तुलन स्थापित हो जाये।

५५. नैतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन

मनुष्य समाज जो जीवन जी रहा है उसको कुल मिलाकर तीन भागों में बाँटकर देखा जा सकता है— अनैतिक जीवन, नैतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन या धार्मिक जीवन। अनैतिक जीवन के अर्न्तगत उस सबका समावेश होता है जो कानून या समाज या शास्त्रकारों की मर्यादाओं के विरुद्ध जाता है। नीति का अर्थ है— सद्आचरण, सद्व्यवहार, औचित्य, शालीनता इत्यादि। नीतियुक्त को नैतिक कहते हैं। मनुष्य का जीवन जब से प्रारम्भ हुआ तभी से शास्त्रकारों ने व्यक्तिगत व समष्टिगत जीवन को लक्ष्यकर कुछ ऐसी मर्यादाएँ (Do's dont's) निर्धारित की, जिनसे सबका सुख बढ़े और दुःख का बचाव हो। मनुष्य को स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, निर्भयता अत्यन्त प्रिय हैं, किन्तु यह भी होना चाहिए कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता से दूसरे की स्वतन्त्रता बाधित न हो। जैसे एक व्यक्ति निर्भय रहना चाहता है वैसे ही दूसरा भी चाहता है, सो एक व्यक्ति के जीवन से दूसरे को किसी भी प्रकार का भय न हो। जैसे एक व्यक्ति की स्वाभाविक माँग है कि कोई उसका शोषण न करे, दूसरे की भी तो यही है। सो मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों तथा उसकी सहज माँगों का अध्ययन करके तत्त्ववेत्ता ज्ञानियों ने जो कुछ कहा वही शास्त्र बन गया। शास्त्र में जो कुछ कहा गया, वही कालक्रम में गुजरते हुए सामाजिक परम्परा बन जाती है। काल के प्रभाव में उन परम्पराओं में कुछ विकार भी आ जाते हैं। व्यक्ति और समाज में बढ़े हुए अज्ञान के कारण एक-एक क्षेत्र में बहुत सारी सर्वथा शास्त्र विरोधी परम्पराएँ भी पनप जाती हैं।

इस पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि शास्त्र से अनुमोदित विशुद्ध सामाजिक परम्पराओं के अनुकूल जीवन जीने का नाम है 'नैतिक जीवन'। किसी सद्विचार, सद्मान्यता, सत् परम्परा के अनुरूप जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का गठन करता है तो उन-उन अवधारणाओं के साँचे में अपने आपको बिठाना (फिट करना) होता है। अन्दर तो चाहे जो भी हो किन्तु बाह्य

नैतिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन

रूप से देखने में यह अत्यन्त संयम का जीवन होता है, बौद्धिक समझदारी का इस जीवन में पूर्ण सहयोग लिया जाता है। व्यक्ति और समाज का अधिक से अधिक सुख बढ़े इस बात का नैतिक जीवन में पूरा ध्यान रखा जाता है। दूसरे शब्दों में इस जीवन की सौ प्रतिशत माँग यह रहती है कि किसी को किसी से किसी प्रकार का कष्ट न मिले। हिंसा, चोरी, भ्रष्टाचार, झूठ, छल-कपट-परिग्रह आदि सभी दोषों से व्यक्ति और समाज को मुक्त देखना चाहता है नैतिक जीवन। नैतिक व्यक्ति समाज को भगवान् के रूप में देखता है अतः समाज में एक पूर्ण सच्चरित्र जीवन जीता है।

प्रश्न— नैतिक व आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन एक ही है या कुछ भेद है?

उत्तर— बहुत भेद है। नैतिक जीवन बाहर के विधि-विधान से परिचालित होता है, जब कि आध्यात्मिक जीवन पूर्णतः अन्तरात्मा, भगवान्, ईश्वर, आन्तरिक सत्य या जो कुछ कहें के विधान से। नैतिक जीवन में बुद्धि की विचारशक्ति, समाज व परम्परागत मान्यताएँ प्रधान होती हैं जबकि आध्यात्मिक जीवन में अन्तःसत्ता की सहज स्वीकार्यता। प्रारम्भ नैतिकता से हो सकता है किन्तु अन्ततः उसे हृदय अर्थात् सत्ता के अन्तरतम स्वरूप में लीन (Merge) होना ही चाहिए। नैतिक व्यक्ति समाज में अपनी अच्छाई को प्रमाणित करना चाहता है जबकि आध्यात्मिक व्यक्ति का एक पुष्प की तरह अन्दर से सहज प्रस्फुटन होता रहता है, न कोई उसका प्रतिस्पर्द्धी होता है और न किसी के समक्ष अपने आपको प्रमाणित करना। मन और बुद्धि की गहन नीरवता और सहज मौन ही उसका पथ प्रदर्शक गुरु होता है। नैतिक जीवन जहाँ 'करने' को महत्त्व देता है वहाँ आध्यात्मिक जीवन 'सहज होने' को। सम्पूर्ण कथन का सरलार्थ यह है कि आध्यात्मिक-व्यक्ति तो नैतिक होता ही है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि नैतिक-व्यक्ति आध्यात्मिक भी हो।

'धार्मिक जीवन' भी अपने सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक जीवन से भिन्न नहीं है क्योंकि अपनी अन्तःसत्ता का धर्म ही उसका आधार होता है, किन्तु आजकल 'धार्मिक जीवन' इस शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण किया जाता है

साधना पथ

वह बहुत ही स्थूल बाह्य क्रियाओं तक सीमित हो गया है। निश्चित ही आजकल के धार्मिक जीवन से तो नैतिक जीवन ही श्रेष्ठ है। प्रायः जो मन्दिर जाता है, पूजा-पाठ में रुचि रखता है, धर्म के बाह्य चिह्नों और प्रतीकों को धारण करता है, एक विशेष प्रकार का परिधान पहनता है, तीर्थयात्रा करता है उसे धार्मिक जीवन की श्रेणी में गिना जाता है।

अन्त में सार के रूप में यही कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन की माँग है 'सच्चरित्रता', बेशक उसको कितने भी आन्तरिक कष्ट पीड़ा व दुःख दर्द के साथ साधित किया जाये; जबकि आध्यात्मिक जीवन या धार्मिक जीवन का मार्ग और लक्ष्य एक ही है— मुक्ति, पूर्ण सहजता, परमशान्ति, आन्तरिक माँग और बाह्य जीवन में समस्वरता (Harmony), जीवन का संगीत, व्यवस्था (Order), अन्दर और बाहर में पूर्ण सामञ्जस्य (Synergy), पूर्ण सन्तोष व तृप्ति, समग्रता या अखण्डता, आनन्द (Bliss) इत्यादि।



- प्रभो वर दो! आन्तरिक प्रसाद (प्रसन्नता) मेरे जीवन का आधार बन जाये। मैं इस प्रसाद रूप सहज अवस्था में स्थिर हो जाऊँ। उतार-चढ़ाव का जीवन से अन्त हो जाए।
- प्रभो! वर दो कि इस पार्थिव जगत् में आपका दिव्य प्रेम, दिव्य ज्ञान, दिव्य आनन्द, दिव्य शान्ति उतर आये।
- हे प्रभो! मैं केवल मात्र तेरी ही अभीप्सा करता हूँ, मैंने देख लिया है तुम्हारे सौन्दर्य व प्रेम के समक्ष सब कुछ फीका है।
- प्रभो! वर दो मैं तुमको तुम्हारे लिए ही चाहूँ, तुम्हारे माध्यम से यदि मैं कुछ और चाह रहा हूँ तो इसका सीधा सा अर्थ है कि मैं तुम्हें नहीं चाह रहा हूँ।
- प्रभो! आपका प्रिय वरद हस्त समस्त कठिनाइयों को सुयोग में, निर्बलताओं को बल में, चञ्चलता को एकाग्रता में, अधीरता को धीरता में, हृदय के संकोच को विशालता में, असहनशीलता को सहनशीलता में, प्रत्येक असम्भव को सम्भव में बदल देता है।

५६. समय

जीवन को पूर्ण आनन्दमय बनाने के लिए अनेकानेक बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक होता है, उनमें से एक बिन्दु है समय (time)। कोई भी व्यक्ति जब किसी काम को अपने हाथ में लेता है तो उसका एक आग्रह होता है कि इतने समय में यह कार्य मुझे कैसे भी पूरा करना है। सांसारिक जीवन में भौतिक विकास का तो यह सारतत्त्व ही समझा जाता है कि कम से कम समय में अधिक से अधिक उपलब्धि। बड़ी-बड़ी कम्पनियों का अपने कार्यकर्त्ताओं के साथ यह अनुबन्ध होता है कि इतने समय में इतना टार्गेट पूरा (achieve) कर दिखाते हैं तो इतना पैकेज देंगे। लेखक को कई लोगों ने अपना अनुभव सुनाया कि पैसा कमाने में हम अपने जीवन के आनन्द को खो बैठते हैं। धन तो खूब मिलता है पर समय का यह दैत्य (Devil) कभी चैन से नहीं बैठने देता। हमेशा समय के दबाव में काम करते-करते अन्दर से टूट ही जाते हैं।

महाभारत के ऋषि सनत्सुजात ने सिद्धि के लिए चार चीजें गिनायीं—शास्त्र, गुरु, उत्साह, काल। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए काल (समय) अन्यतम साधन है। समय के बिना न पुष्प खिलते हैं, न फल पकते हैं, न सस्य लहराता है, न वृक्ष बढ़ते हैं, न शरीर का विकास होता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ के पीछे लगा हुआ वृद्धि-हास का शाश्वत चक्र समय के सहारे ही गतिशील है। मन व बुद्धि के परिपाक के लिए भी समय की अपरिहार्यता स्वयंसिद्ध है। समय के द्वारा जैसे शरीर प्रौढ़ (Mature) हो जाता है— बालक से युवा हो जाता है और युवा से वृद्ध हो जाता है, इसी प्रकार मन व बुद्धि की प्रौढ़ता (Maturity) भी समय के ही द्वारा साधित होती है। समय कच्चे घड़े को ऐसा पका देता है जिससे हजारों लोगों की प्यास बुझा सके। एक अर्थ में समय मनुष्य को मनुष्य से ऋषि, देवता, ज्ञानी बना देता है, अपूर्ण से पूर्ण बना देता है, निरानन्द को आनन्द से भर देता है, बलहीन को बल से, अज्ञानी को ज्ञान से परिपूर्ण कर देता है, अशान्त को शान्त कर देता है।

साधना पथ

अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ५३-५४ सूक्त में काल की प्रशंसा में कितना महिमाशाली गीत गाया है— सात प्रकार की किरणों वाला आदित्य जैसे सौर मण्डल का वहन करता है, वैसे हजारों को क्षय करने वाला अथवा हजारों आँखों वाला, प्रभूतोत्पादन शक्तिवाला, जरारहित, जीर्ण न होने वाला, सदागतिक काल संसार रथ का वहन कर रहा है। क्रान्तदर्शी दूरदर्शी मेधावी जन उस पर आरोहण करते हैं, उसे नियन्त्रित करते हैं। उस रथ के चक्र हैं सब भुवन अर्थात् सत्तावाले तारागण नक्षत्र आदित्य चक्र ग्रह इत्यादि।

यह काल सात चक्रों को वहन करता है, उन्हें चला रहा है। इस काल के चक्रों की सात नाभियाँ (Navals) हैं। निश्चय ही अमर परमेश्वर इन नाभियों में लगी धुरी है। वह काल इन सब सात चक्राकार भुवनों को अभिव्यक्त करता है। यह काल मानो प्रथम देव अर्थात् परमेश्वर के सदृश सक्रिय हो रहा है।

‘पूर्ण कुम्भ राशि’ काल के आश्रय से ही ऊपर अर्थात् द्युलोक में स्थापित हुई है। विद्यमान जीवित हम निश्चय ही उस कुम्भ राशि को प्रायः बहुत प्रकार से देखते हैं। वह काल इन सब भुवनों में तथा प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है। उस काल को कहते हैं कि वह परम तथा विविध पदार्थों के रक्षक परमेश्वर के आश्रय में आश्रित है।

उस काल ने ही भुवनों को सम्यक् प्रकार से पूर्णतया धारित किया हुआ है। उस काल ने ही भुवनों को सम्यक् घेरा हुआ है। वह काल पिता होता हुआ इन भुवनों का पुत्र हुआ है। निश्चय ही उससे उत्कृष्ट और कोई भौतिक तेज नहीं है।

काल ने उस द्युलोक को पैदा किया है और काल ने इन पृथिवियों अर्थात् पृथिवी, चन्द्र और ग्रहों को पैदा किया है। काल में ही भूत और भविष्यत् और प्रेरित हुआ वर्तमान जगत् निश्चय से स्थिर है।

काल ने जगत् की सत्ता, समृद्धि, धन और योगजन्य विभूतियों की सृष्टि की है। ग्रीष्मकाल में सूर्य तपता है। काल में ही सब भूत-भौतिक जगत् स्थिर हैं। काल में चक्षु विविध जगत् को देखती है।

समय

काल में मननशक्ति, काल में प्राणशक्ति और काल में नाम रखा जाता है। आए हुए काल द्वारा ये सब प्रजाएँ प्रसन्न तथा समृद्ध होती हैं।

काल में ब्रह्म का ज्ञानमय तप, काल में ब्रह्म का ज्येष्ठपन, काल में ब्रह्म का प्रवृद्धपन समाश्रित हैं। काल में निश्चय से सब का शासन है। काल जो कि प्रजापति के प्रजापतित्व का उत्पादक है।

उस काल द्वारा उत्पन्न वह जगत् उस काल में निश्चय से स्थित है। काल ही मानो ब्रह्मरूप होकर परमेष्ठी को धारण करता है।

काल ने प्रजाओं का सर्जन किया। काल ने आरम्भ में परमेश्वर में प्रजापतिपन का सृजन किया, स्वयंभू परमेश्वर काल से पश्यक अर्थात् ईक्षण करने वाला हुआ तथा काल से ही जगद् उत्पादन का तप पैदा हुआ।

काल से जल प्रकट हुआ। काल से वेद, प्रतप्त सूर्य और दिशाएँ प्रकट हुईं। काल से सूर्य उदित होता है और काल में फिर प्रवेश पा जाता है, अस्त हो जाता है।

समय पर वायु बहती है। समय पर पृथिवी महापरिमाण वाली हुई है। महापरिमाण वाला द्युलोक समय पर स्थापित हुआ है आकाश में। पुत्र रूप काल ने निश्चय से भूत और भविष्यत् को पहले भी पैदा किया। काल में वेदों की छान्दोमयी रचना प्रकट हुई और वेदों की गद्यमयी रचना भी काल में पैदा हुई।

काल अर्थात् समय, देवों के लिए, उनके अनश्वर भागरूप यज्ञ को प्रेरित करता है अर्थात् उन्हें प्रदान करता है। काल अर्थात् समय में गन्धर्व और अप्सराएँ तथा काल अर्थात् समय में तीनों लोक स्थित हैं।

यह दिव्य अङ्गिरा (पार्थिव अग्नि अथवा अग्नि सदृश पुरुष) और दिव्य अथर्वा (सूर्य अथवा स्थिरचित्त पुरुष) काल में स्थित हैं और इस लोक अर्थात् पृथिवी को तथा परमलोक अर्थात् द्युलोक को और पुण्यलोकों को तथा पुण्य धारक साधनों को तथा ब्रह्म के सहारे सब लोकों को जीत कर वह काल परमदेव अर्थात् ब्रह्म के सदृश हुआ-हुआ विचरता है।

साधना पथ

इन दोनों काल सूक्तों में यह दर्शाया है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय काल द्वारा नियन्त्रित है। परन्तु स्वयं काल परमेश्वराश्रित है तथा परमेश्वर की सहायता द्वारा कार्यक्षम होता है।

ज्ञानी पुरुष समझाते हैं कि काल के दो भेद हैं— एक तो वह है जिसका ऊपर अथर्ववेद के दोनों सूक्तों में वर्णन हुआ है, इस काल को मापने का साधन है सूर्य की गति या घड़ी की सूई। इसे ही अंग्रेजी में कहते हैं ‘**क्रोनोलॉजिकल टाइम**,’ किन्तु एक काल और भी है जो हमारे मन के द्वारा निर्मित होता है— मनोवैज्ञानिक (**साइकोलोजिकल टाइम**)। साधक जब कार्यक्षेत्र में उतरता है और मनःकल्पित समय को अर्थात् ‘इतने समय में यह कार्य मुझे सम्पन्न करना है’ इस मनोभाव को अपने सम्पाद्यमान कार्य के साथ जोड़ देता है तो कर्म करने का पूरा रस नहीं ले पाता। समय में बँधकर (time-bound) कार्य करने से कार्य का आनन्द जाता रहता है।

इसकी खोज करते हैं कि ऐसा क्यों होता है? कोई भी कार्य जो शरीर-वाणी और मन के द्वारा किया जाता है उसके पाँच हेतु होते हैं— **अधिष्ठान** (समस्त कर्मों का या इच्छा द्वेष सुख-दुःख ज्ञानादि की अभिव्यक्ति का आश्रय शरीर), **कर्ता** (अपरा प्रकृतिगत अहंकार के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला अविवेकी जीव), **भिन्न-भिन्न करण** (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि तथा अहंकार ये तेरह करण हैं अर्थात् कर्म के साधन हैं), **प्राण**, **अपान**, **व्यान**, **उदान**, **समान** आदि दस **प्राणों की भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टायें** अर्थात् व्यापार और उन सब के साथ पाँचवा कारण **दैव** (स्वभाव, क्रिया का वेग अथवा अन्तःकरण की पूर्व कृतकर्मों से बनी सहज स्थिति) है (द्र० श्रीमद्भगवद् गीता १८.१३-१४-१५)।

कर्म के इन पाँचों हेतुओं जो कि स्वयं से सम्बन्धित हैं, के अतिरिक्त बाह्य परिस्थितियाँ (अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ) भी कर्म को प्रभावित करती हैं; व्यक्तियों का सहयोग-असहयोग भी साधक-बाधक बनता है। जैसे कोई अध्यापक पढ़ा रहा है— हो सकता है पढ़ने वाले छात्र उतने शीघ्र न समझ पायें जितनी अध्यापक ने कल्पना की थी। प्राकृतिक प्रकोप कोई आँधी-तूफान,

समय

अतिवृष्टि, अतिशीत, अतिगर्मी भी कर्म को बाधित कर सकते हैं। व्यक्ति का स्वयं का स्वास्थ्य सहयोग न दे। कोई व्यक्ति किसी से मिलने जा रहा है, एक निर्धारित समय पर पहुँचना है, किन्तु मार्ग में जाम लगा हुआ है, अतः रास्ता अवरुद्ध है, ऐसे समय पर मन बेचैन हो जाता है। कोई गाड़ी पकड़नी है, किसी कारण से देर हो रही है, ज्यों-ज्यों समय नजदीक आता है उतना ही असन्तुलन बढ़ता जाता है। जीवन के विविध सन्दर्भों में इस प्रकार की परिस्थितियाँ आती ही रहती हैं।

जब कोई व्यक्ति कम समय में अधिक कार्य करना चाहता है उस समय भी व्यक्ति की उपर्युक्त प्रसंगों जैसी ही मनःस्थिति रहती है। जब कभी व्यक्ति को प्रतीक्षा करनी पड़ती है तब भी व्यक्ति बार-बार घड़ी की तरफ देखता है। वह असन्तुलन का ही संकेत है। किसी अधिकारी से कोई मिलने गया, वहाँ उसे सूचना मिली कि आधा घण्टा बैठिए, अब वह व्यक्ति कभी टहलता है, कभी इधर देखता है कभी उधर, कभी मोबाइल को बार-बार आगे पीछे करता है। ये और इन जैसे सब घटनाक्रम यही सिद्ध करते हैं कि निर्धारित समय या तो हाथ से निकल रहा है या देर कर रहा है, इसलिए उससे व्यक्ति की शान्ति भंग हो रही है।

इसीलिए आध्यात्मिक जीवन जीने वाले महान् पुरुष साधकों को यह सलाह देते हैं कि कार्य की तेज रफ्तार का भूत व्यक्ति को कभी भी शान्त नहीं रहने देता, अतः गति उतनी ही होनी चाहिए जो हमारी आन्तरिक शान्ति को भंग न करे। जो लोग कार्य को महत्त्व देते हैं वे कार्य को अपने सामने और शान्ति को पीछे रखते हैं, किन्तु जो शान्ति को महत्त्व देते हैं वे शान्ति के साथ-साथ कार्य करना चाहते हैं। शान्ति को बेचकर किसी कीमत पर भी कार्य नहीं करना चाहते। समय के इस बिन्दु को जो साधक ठीक से समझ लेते हैं समय उनके लिए कष्टदायक नहीं रहता।

• प्रभो! मेरी बुद्धि को अपने निर्मल प्रकाश से भर दो, जो स्पष्टता से पर या अवर का अवलोकन कर सके।

५७. प्रारब्ध व पुरुषार्थ

आज हम यह विचार करना चाहते हैं कि जीवन के निर्माण में प्रारब्ध व पुरुषार्थ का कितना योगदान है? इन दोनों के योगदान को समानरूप से स्वीकार करना है या किसी एक पर केन्द्रित होकर दूसरे की उपेक्षा की जा सकती है? बलाबल की दृष्टि से देखें तो इन दोनों में से अधिक बलवान् कौन है? प्रारब्ध व पुरुषार्थ का वास्तविक तात्पर्य क्या है? किसी का प्रारब्ध हीन, अशुभ व अवर कोटि का है तो क्या उसे बदला भी जा सकता है? ऐसा लगता है इन प्रश्नों की मीमांसा में जीवन की मूलभूत आवश्यकता व गहनतम समस्या का समाधान छिपा हुआ है।

सबसे पहले हम यह खोज करना चाहेंगे कि प्रारब्ध व पुरुषार्थ का वास्तविक तात्पर्य क्या है? ये शब्द किस अर्थविशेष की ओर संकेत कर रहे हैं? इन शब्दों के अर्थ को समझने में व्यक्ति को कहाँ भ्रान्ति हो जाती है? अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'fixed fate' और हिन्दी में प्रयुक्त 'भाग्य' ये शब्द प्रारब्ध के प्रायः समानार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं इसी प्रकार पुरुषार्थ शब्द के अर्थ में प्रयुक्त मेहनत, परिश्रम, free-will शब्द भी प्रायः एक ही भाव को प्रकट करते हैं। वस्तुतः प्रारब्ध व पुरुषार्थ का यह प्रश्न मनुष्य जीवन के कर्म के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है।

शरीर, वाणी, इन्द्रियों व मन के द्वारा जो कुछ किया जाता है जिससे उनकी अवस्थान्तरता होती है, उनमें परिणाम घटित होता है, वह 'कर्म' है। प्राणियों के द्वारा की जाने वाली ये करणों की क्रियाएँ स्वरसवाही (सहजरूप से) अविदित भाव से भी होती हैं तथा इच्छा-अनधीन बाह्य-कारणों से दबकर या बाह्य-कारणों के प्रभाववश भी होती हैं। जिस क्रिया को कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते, वह पुरुषकार है; और जो चेष्टा स्वरसवाही है या जो करनी ही पड़ेगी उसका नाम है आरब्ध कर्म या संस्कारजन्य कर्म। मनुष्यों की अनेक मानसिक चेष्टाएँ पुरुषकार रूप हैं एवं पशुओं की अनेक चेष्टाएँ

प्रारब्ध व पुरुषार्थ

आरब्ध कर्म या भोगरूप हैं। संस्कारजन्य प्रवृत्ति का अतिक्रमण करके जो चेष्टा की जाती है, वही पुरुषकार है।

इच्छा ही प्रधान कर्म है। इच्छा होने के लिए इच्छा के विषयरूप एक ज्ञेय भाव का ज्ञान चाहिए। वह इच्छा पूर्व संस्कार विशेष से जब (या जितनी) हम लोगों के अनधीन होकर कार्य करती रहती है, तब वही इच्छा अदृष्ट या भोगभूत कर्म कहलाती है; और वह इच्छा जब (या जितनी) हम लोगों के अधीन होकर अर्थात् पूर्वकृत कर्मसंस्कार का अतिक्रम करके कार्य करती है, तब वह पुरुषार्थ रूप कर्म के रूप में जानी जाती है।

फलतः इच्छा ही कर्म का उपादान या कर्म का मूलस्वरूप है, जिस प्रकार घटादि का उपादान मिट्टी है। इच्छा नियत कर्मरूप में परिवर्तित होने पर भी प्राणियों की तरह अनादि काल से विद्यमान है। यह ध्यातव्य है 'भोग' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है— एक अस्वाधीन चेष्टासमूह और दूसरा सुख-दुःख का भोग (अनुभव)। पूर्व संस्कार के रूपेण अधीन होकर की गई चेष्टा ही भोगरूप कर्म है। गौणरूप से उसका नाम भी कर्म है, किन्तु पुरुषकार ही मुख्य कर्म के रूप में गृहीत होता है। पुरुषकार के द्वारा करणों के स्वाभाविक परिणाम को द्रुत, नियमित अथवा भिन्न पथ में चला सकते हैं।

इस प्रकार अध्ययन के द्वारा देखा गया कि कर्म दो प्रकार के होते हैं— **संस्कारजन्य कर्म और पुरुषार्थरूप कर्म**। अभ्यासवश अचेतन होकर पुराने कर्मों को ही किये चले जाते रहने का नाम है संस्कारजन्य कर्म। तथा सचेतन होकर किये जाने वाले कर्म, चाहे वे पुराने कर्म हैं अथवा नवीन, उनको पुरुषार्थरूप कर्म कहते हैं। चाहे संस्कारजन्य कर्म हों या पुरुषार्थरूप, दोनों से ही आगे अच्छा-बुरा कर्माशय बनता है, जिसके जाति-आयु-भोगरूप फल होते हैं। स्वप्नावस्था के कर्म भी संस्कारजन्य कर्म की श्रेणी में आते हैं, यद्यपि जाग्रत् अवस्था में किये गये कर्म स्वप्नावस्था जैसी या पशुओं जैसी बेहोशी में तो नहीं होते, फिर भी यदि वे मनुष्य के करणवर्ग के द्वारा अभ्यासबल से सम्पादित होते हैं, आन्तरिक चेतना के साथ नहीं किये जाते, तो संस्कारजन्य

साधना पथ

कर्म की श्रेणी में ही उनकी गणना होती है। इस विषय में साररूप कथन यह होगा— ‘जो होता है अर्थात् जो स्वरसवाही है वह संस्कारजन्य कर्म और जो किया जाता है वह पुरुषार्थ’।

बाह्य संसार में एक-एक उद्देश्य को सामने रखकर व्यक्ति कर्म करता है। जैसे— इस कर्म से मेरी आजीविका चलती रहेगी, मैं अपने से सम्बन्धित पारिवारिक जनों की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर पाऊँगा, इस अमुक कर्म से मैं समाज में अपना स्थान बना पाऊँगा, मेरी पहचान बनेगी। मैं संसार में एक विशेष आदर्श स्थापित करना चाहता हूँ, मैं लोगों की सेवा करना चाहता हूँ, मेरे पास कोई वस्तु, विद्या, योग्यता या सामर्थ्य है और दूसरों को उसकी आवश्यकता है तो मैं उन्हें देना चाहता हूँ इत्यादि। कर्म के द्वारा जहाँ बाहरी दुनिया में कुछ परिवर्तन घटित होता है वहाँ साथ-साथ कर्मकर्ता के मन व इन्द्रियों में भी एक विशेष प्रकार का परिवर्तन चल रहा होता है। जिस भावविशेष के साथ कर्म किया जाता है कर्म के द्वारा वह भावविशेष भी मनुष्य के अन्दर ही अन्दर निर्मित होता रहता है। उदारता या लोभ, परमार्थ या स्वार्थ, प्रेम या घृणा, उद्यम या अकर्मण्यता, शान्ति या संघर्ष, दया या क्रूरता, दूसरों का सम्मान या तिरस्कार, हृदय की विशालता या संकोच, ये सब भाव कर्म के द्वारा ही मनुष्य के स्वभाव का अङ्ग बनते हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता के साथ किये गये कर्म मनुष्य के अन्तस् में निर्मलता लाते रहते हैं तो स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या, स्पृद्धा व अहङ्कार पूर्ण कर्मों से चित्त अशुद्ध होता जाता है। कर्म से ही व्यक्ति के स्वभावविशेष का गठन होता है।

किसी भी व्यक्ति के स्वभाव के अङ्ग बने हुए कर्मों का नाम ही संस्कारजन्य कर्म है। जिन कर्मों ने भोग देना आरम्भ कर दिया है (यह भी कर्म का भोग ही है जो संस्कारवश पुनः-पुनः किया जाता है), जो कर्म सहज हो गये हैं, बिना प्रयास के होते रहते हैं, जिन कर्मों को व्यक्ति लाभ-हानि का बहुत विचार किये बिना ही करता रहता है, उनका नाम है संस्कारजन्य कर्म।

अपने प्रारब्ध के कारण भी व्यक्ति अपमानित होकर, हानि उठाकर स्वयं को और दूसरों को दुःख देता रहता है। प्रारब्ध या भाग्य शब्द का यह

प्रारब्ध व पुरुषार्थ

तात्पर्य नहीं है कि अकारण ही किसी को तो कोई चीज मिल जाती है और किसी को नहीं मिलती। विधाता ने किसी के भाग्य में अच्छा लिख दिया तो अच्छा हो जाता है और नहीं लिखा या अन्य कुछ लिख दिया तो वही हो जाता है। जैसे कि लोक में यह कथन सुनने में आता रहता है कि इसकी तो किस्मत ही माड़ी (कमजोर) है, इसका तो भाग्य ही खराब है, यह चीज इसके भाग्य में थी ही नहीं, इसका भाग्य बहुत अच्छा है, इसकी किस्मत बहुत अच्छी है इत्यादि।

जहाँ शुद्ध कर्मों, शुभ कर्मों, धर्मयुक्त कर्मों, ज्ञानयुक्त कर्मों, शास्त्र व आचार्योपदेश के अनुकूल कर्मों, सह-अस्तित्व या समष्टि के हित के भाव के साथ किये गये कर्मों से उत्तम प्रारब्ध व ज्ञानयुक्त प्रारब्ध का निर्माण होता है वहीं अशुद्ध कर्मों, अशुभ कर्मों, अधर्मयुक्त कर्मों, अज्ञानयुक्त कर्मों, बेहोशी में किये गये कर्मों, शास्त्र व आचार्यों के द्वारा असमर्थित कर्मों अर्थात् स्वेच्छाचारितापूर्ण कर्मों से, लोभ-मोह-अहङ्कार-ईर्ष्या-द्वेष तथा दूसरों को नीचा और अपने को विशेष सिद्ध करने के भाव के साथ आचरित कर्मों से, स्पृद्धा के भाव के साथ किये गये कर्मों से अज्ञानयुक्त प्रारब्ध का निर्माण होता है।

संस्कृत भाषा में प्रारब्ध के पर्याय के रूप में 'दैव' शब्द का प्रयोग किया जाता है। देव का समूह दैव। देव का यहाँ अर्थ है 'कर्म' और उन बार-बार आचरित कर्मों का समूह है 'दैव' या उन कर्मों से निर्मित कर्माशय का नाम है 'दैव'। तात्पर्य है कर्मसमूह या तन्निर्मित कर्माशय के अतिरिक्त दैव नाम की कोई चीज नहीं है। इसी प्रकार प्रारब्ध का पर्याय 'भाग्य' शब्द भी व्यवहार में सुना जाता है। 'भज सेवायाम्' धातु से निष्पन्न 'भाग' शब्द का अर्थ है 'जिसका सेवन किया जाए' (भज्यत इति भागः)। कर्मों का भी व्यक्ति एक अर्थ में सेवन ही तो करता है। भाग से सम्बद्ध ही भाग्य है। यह शब्द भी अन्ततः व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों की तरफ ही संकेत कर रहा है। अंग्रेजी का 'fixed fate' शब्द भी उन्हीं कर्मों को बता रहा है जिनकी नियति निर्धारित है।

कारण-कार्य के अभेदोपचार से उन-उन कर्मों से प्राप्त फलों को भी इन

साधना पथ

उपर्युक्त प्रारब्ध, नियति, भाग्य, दैव या दिष्ट आदि शब्दों से कह देते हैं। अर्थात् कर्माशय को कर्मफल के कारण के रूप में प्रारब्ध कहते हैं तो उस कर्माशय से प्राप्त सुख-दुःख रूप फलों को भी इसी प्रारब्ध शब्द से कह देते हैं। एक व्यक्ति को जन्म के साथ जो प्राप्त होता है— उत्तम-मध्यम-सामान्य बुद्धि, रंग-रूप, कण्ठ का स्वर, वाक्शक्ति, विशिष्ट अभिरुचियाँ, शरीर-सौष्ठव, भौतिक ऐश्वर्य— यह सब उसका प्रारब्ध कहा जाता है। पूर्वजन्मों में उसने जो कुछ किया— उस समय वह उसका पुरुषार्थ था। कल का पुरुषार्थ आज का प्रारब्ध है किन्तु आने वाले कल के लिए आज जो कुछ किया जा रहा है वह सचेतनता के अनुपात में उत्तम-मध्यम-निम्न कोटि के पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है। सरलार्थ यह है कि प्रारब्ध की दिशा में ही जब पुरुषार्थ किया जाता है तो प्रायः प्रारब्ध से सर्वथा अलग हटकर पुरुषार्थ नहीं होता प्रत्युत प्रारब्ध के साथ ही पुरुषार्थ आगे बढ़ता है।

अब प्रश्न उठता है यदि किसी को यह समझ आ जाये कि तेरा प्रारब्ध अर्थात् कर्माशय अच्छा नहीं है तो क्या वह अपने प्रारब्ध को बदल सकता है या उसी दिशा में ही बढ़ता रहेगा? इसका सीधा सा उत्तर है यद्यपि पुरुषार्थ (free-will) का महान् सम्बल सदा व्यक्ति के साथ है किन्तु फिर भी वह यकायक (सहसा) कार्य नहीं करता, शनैः शनैः उसका वेग बढ़ता है। हाँ! यदि व्यक्ति के द्वारा अपने प्रारब्ध को बदलने के लिए कोई प्रयास ही नहीं किया जा रहा है, प्रारब्ध पर बाह्यशक्ति (External-force) का कुछ भी प्रयोग नहीं हो रहा है, तब तो प्रारब्ध का जो भी रूप उपलब्ध है अच्छा या बुरा, वही आगे-आगे बढ़ता रहता है।

सिद्धान्ततः प्रारब्ध का परिवर्तन असम्भव कार्य नहीं है, वह अवश्य ही बदल सकता है, किन्तु गुरुपदेश, शास्त्रश्रवण या अपनी ही विचारशक्ति के प्रयोग से, अपने जीवन की ठोकड़ों, स्खलन-पतन इत्यादि के द्वारा पहले यह तो समझ में आये कि मेरा प्रारब्ध मेरे लिए भी और दूसरों के लिए भी लाभकारी या सुखकारी नहीं है। यह तथ्य सुस्पष्ट होने पर तो मानवीय स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि शीघ्र या देर से परिवर्तित होकर ही रहेगा। चूँकि पुरुषार्थ से

प्रारब्ध व पुरुषार्थ

अर्थात् कर्म से प्रारब्ध बना है सो उसका परिवर्तन भी पुरुषार्थ से ही होगा। व्यक्ति जिसका परिवर्तन चाहता है उस पर विपरीत क्रिया करनी होती है। जैसे लोभ के प्रारब्ध को बदलने के लिए निर्लोभता की प्रचण्ड क्रिया चाहिए।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ में कौन अधिक बलवान् है— इस प्रश्न के उत्तर में तो यही कहा जा सकता है स्वरूपतः न प्रारब्ध अधिक बलवान् है न पुरुषार्थ। जिस समय जिसकी शक्ति (क्रियाशीलता) अधिक है उस समय वही अधिक बलवान् है। कभी-कभी शास्त्रकार प्रारब्ध, भाग्य, दिष्ट, दैव की महिमा गाते सुनाई पड़ते हैं, जैसे कि ‘न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्। दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्’। (विदु० नी० ८.३२) अर्थात् भाग्य को बदलने में कोई प्राणी समर्थ नहीं है, मैं भाग्य को ही बलवान् समझता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक है। ऐसे कथन अर्थवाद स्वरूप होते हैं। उनका प्रयोजन उस-उस अर्थतत्त्व की निन्दा या प्रशंसा में होता है। अथवा ऐसे वचनों का यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि निर्बलचित्त, मूढ़ात्मा लोगों की ऐसी ही मनःस्थिति होती है। आत्मज्ञानी बलवान् पुरुष तो इसके विपरीत ही भाषा बोलते हैं जैसी श्रीराम ने रावणविजय के पश्चात् सीता से बोली थी—

दैवेन तु यत् सम्प्राप्तं पौरुषेण त्वपाकृतम्। अर्थात् हे सीते! दैव= भाग्य दोष से मैंने जो कष्ट, जो अनर्थ प्राप्त किया, उसे मैंने पुरुषार्थ से दूर कर दिया। इसी प्रकार पुरुषार्थ की प्रशंसा में किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः, दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।।

विदुर नीति २.८१-८२ तथा ३.४१ में दैव व पुरुषार्थ के बारे में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है—

तस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।

बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति।।

अर्थात् देवगण (कर्म) जिस मनुष्य के लिए पराजय देते हैं अर्थात् जिसे

साधना पथ

नष्ट करना चाहते हैं, उसकी बुद्धि को वे खींच लेते हैं। वह बुद्धि से रहित हुआ नीच कर्मों को ही देखता है उन्हीं की ओर झुकता है।

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते। अनयो नयसंकाशो हृदयान्नावसर्पति।।

कर्मवश बुद्धि के मलिन हो जाने से विनाश के उपस्थित होने पर अनीति भी नीति के समान प्रतीत होती हुई हृदय से नहीं निकलती।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।

यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्।।

देवगण (कर्मसमूह) दण्डा हाथ में लेकर चरवाहों के समान पुरुष की रक्षा नहीं करते। अपितु जिसकी वे रक्षा करना चाहते हैं, उसे बुद्धि से युक्त कर देते हैं। इसका भाव यह है कि जब मनुष्य के पूर्व कर्मानुसार उत्तम फल को भोगने का अवसर आता है, तो उसकी बुद्धि उसी के अनुसार निर्मल हो जाती है और जब दुःख भोगने का समय आता है तो मनुष्य की बुद्धि तदनुकूल मलिन होने लगती है।

किन्तु यह साधारण पुरुषों के सम्बन्ध में ही कहा गया तथ्य है। जो विशेष व्यक्ति हैं, जिनकी सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूपता रहती है, उनकी बुद्धि में दैव के अनुसार सुख एवं दुःख के अनुभव के अनुरूप परिवर्तन नहीं होता। ऐसे विरले महापुरुष द्वन्द्वातीत होते हैं, वे धीर पुरुष अपने पुरुषार्थ (पौरुष) से अपने अन्दर सचेतन होकर किये गये नवीन कर्म से दैव (पुरातन कर्म) को पराजित करने में समर्थ होते हैं।

वेदों के मन्त्र भी साहस, शौर्य, पराक्रम व पुरुषार्थ की महिमा का बार-बार बखान करते हैं—

१. 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये' (ऋ० १०.४८.५) मैं इन्द्र हूँ, न तो कभी परास्त हुआ और न होऊँगा।

२. 'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्' (अथर्व० ८.१.६) हे पुरुष! तेरी सतत उन्नति होती रहे, तेरी कभी अवनति न हो।

३. 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' (अथर्व० ७.५०.८) मेरे

प्रारब्ध व पुरुषार्थ

दाहिने हाथ में कर्म है तो मानो बाँये हाथ में विजय रखा हुआ ही है।

४. 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः' (ऋ० ३.२६.७, यजु० १८.६६) मैं अपने जन्म से ही जातवेदा अग्नि हूँ, दहकता हुआ देदीप्यमान अंगारा हूँ, स्वभाव से ही जागरूक हूँ।

५. 'मनसः काममावूतिं वाचः सत्यमशीय' (यजु० ३९.४) मैं अन्तःकरण की संकल्पशक्ति और उत्साह को तथा वाणी के सत्य को प्राप्त होऊँ।

६. 'हन्ताऽहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' (ऋ० १०.११९.९) अहा! मैं सोमपान से बहुत ही आनन्दित हूँ। ऐसा लगता है कि इस पृथिवी को उठाकर इधर रख दूँ या उधर।

७. 'स्वेन क्रतुना संवदेत' (ऋ० १०.३१.२) अपने क्रतु (कर्म) के साथ अपने ज्ञान का संवाद बना रहे।

८. 'स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व' (यजु० २३.१५) स्वयं यजन कर, उससे प्राप्त फल का स्वयं सेवन कर। एक ग्रामीण कहावत है— 'दूसरे के कन्धे पर रख कर बन्दूक नहीं चलानी चाहिए।'।

९. 'अपघ्नन्तो अराव्याः' (ऋ० ९.१३.९) आतताइयों का, अदान-भावों का नाश करते हुए तुम सत्य के मन्दिर में प्रवेश पाओ।

१०. 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय।।' (अथर्व० १९.६३.१) ऐ ज्ञानिन्! उठ खड़ा हो, जाग जा। यज्ञ द्वारा अपने अन्दर देवभावों को जगा ले, अपनी आयु को, प्राण को, प्रजा को, कीर्ति को बढ़ा, पशुओं को बढ़ा, यज्ञ करने वाले को बढ़ा।

११. 'इन्द्र क्रतुं न आ भर' (अथर्व० १८.३.६७, ऋग्० ७.३२.२६) हे इन्द्र! हमारे लिए कर्मशक्ति को प्रदान कर।

१२. 'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।' (अथर्व० १२.१.५) जिस पृथिवी पर पूर्वकाल में पूर्वजों ने विविध

साधना पथ

प्रकार के श्रेष्ठ कर्म किए हैं, जिस पृथिवी में देव आसुर स्वभाव वाले लोगों को परास्त करते हैं।

१३. 'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।' (अथर्व० १२.१.१) सत्य, विशालता, ऋतु नियम, तेजस्विता, व्रतों का आचरण। (दीक्षा), व्रताचरण करते हुए आयी हुई बाधाओं को सहना (तपः), ब्राह्मणत्व तथा आस्तिकता, देवों की पूजा, सत्संग, त्याग भावना, भूत और भव्य की रक्षिका यह पृथिवी विस्तृत लोक को धारण करती है। पृथिवी हमारे भूत और भविष्य का निर्माण करती है। पृथिवी हमारे लिए विस्तृत प्रदेश प्रदान करे।

१४. 'यो जागार तमृचः कामयन्ते' (ऋ० ५.४४.१४) जो जागता है, अप्रमादयुक्त है, उसी को ऋचाएँ चाहती हैं आदि।

भगवान् ने बिना किसी भेद भाव या पक्षपात के हर एक व्यक्ति में अपरिमित ज्ञान, शक्ति व सामर्थ्य की संभावना देकर धरती पर जन्म दिया है। हर मानव में महामावन होने का, देवत्व व ऋषित्व को उपलब्ध होने का सामर्थ्य दिया है। यदि हम दोषपूर्ण आलम्बन एवं दोषपूर्ण अभ्यासों से निरन्तर बचते रहें और दृढ़ संकल्प पूर्वक घनघोर पुरुषार्थ करें तो जीवन के किसी भी क्षेत्र में विशेष उन्नति कर सकते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेष उपाख्यान (ऐ० ब्रा० ७।१३-१७) में भी एक सुन्दर उत्साह देने वाला पुरुषार्थविषयक वैदिक गीत निम्नवत् दिया हुआ है। इस गीत का अन्तरा है 'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात् चलते रहो चलते रहो—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।

पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ।। चरैवेति, चरैवेति ।।१।।

हे रोहित! सुनते हैं कि श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

प्रारब्ध व पुरुषार्थ

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः ।

शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥ चरैवेति, चरैवेति ॥२॥

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जाँघों में फूल फलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलने वाले के पाप थक कर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निषद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ चरैवेति, चरैवेति ॥३॥

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ चरैवेति, चरैवेति ॥४॥

सोने वाले का नाम कलि है, अङ्गड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सत-युग है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥ चरैवेति, चरैवेति ॥५॥

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है, सूर्य का परिश्रम देखो जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

• प्रभो! मेरी अन्तरात्मा में तुम्हारी दिव्य चिंगारी मौजूद है, इसका मुझे साक्षात् अनुभव होता है। वर दो कि वह एक विशाल अग्निकुण्ड का रूप धारण कर ले।

५८. पत्र-शृंखला १.

बहन श्रीमती पुष्पा मेहता

धर्मपत्नी श्री अजय कुमार मेहता

ग्राम- नन्दन, जि०- छिन्दवाड़ा(मध्यप्रदेश) के पत्र का उत्तर—

आपका पत्र मिला। आपकी अभीप्सा ज्ञात हुयी। आपने लिखा— “मैं शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ तो रहना चाहती ही हूँ साथ ही बलिष्ठ शरीर भी चाहती हूँ।” उत्तर में निवेदन है— ‘शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ रहना’ यह एक शुभ कामना है। सभी शुभ कामनाएँ परम्परा क्रम से हमें आगे-आगे बढ़ाती हैं। उचित आहार, उचित निद्रा, उचित शारीरिक श्रम व ब्रह्मचर्य (मनःशान्ति, मन की पवित्रता, सरलता) इत्यादि साधनों से पूर्ण स्वस्थ रहने की यह कामना सहज ही पूरी हो जाती है या पूरी होती रहती है और इन्हीं साधनों से कोई भी शरीर से बलिष्ठ भी हो सकते हैं। बस ध्यान इतना ही रखना है कि इसी में अटकना नहीं है, क्योंकि शरीर तो एक दिव्य साधन है, जिसके द्वारा कोई भी अपना आन्तरिक विकास कर पाता है। साधन का साधनत्व इसी में है कि वह साध्य तक पहुँचा दे। मेरे विचार में साध्य है— ‘जागृति’। जागृति का अर्थ है वह ‘समझ’ जिससे सब कुछ ठीक-ठीक दिखायी देता है। हम जिस दुनिया में जीते हैं वह पदार्थ, सम्बन्ध और क्रिया का जगत् है। देखना यह है कि ये सब चीजें हमें जागृति की तरफ ले जा रही हैं या बेहोशी की तरफ। यदि हम पदार्थ, सम्बन्धों और क्रिया से मात्र ऐन्द्रियिक सुख या संवेदनाओं का सुख चाहते हैं तो जागृति से हमें कुछ लेना-देना नहीं है। हम जो चाहते हैं वह कम-ज्यादा मिल जाता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ (पिछला और वर्तमानिक) इन दो पहियों पर जीवन की गाड़ी आगे-आगे चल रही है। आज जो हमारा रूप है वह पुरुषार्थ से ही तो बना है, जिस दिशा में भी जो कुछ किया अच्छा-बुरा या सुरूप-कुरूप वह हमारे हस्तगत हो गया। अच्छे को देखकर अपने पुरुषार्थ के गीत गाते हैं, खराब को देखकर भाग्य (प्रारब्ध) को कोसते हैं। अन्ततः दोनों

पत्र-शृंखला

के लिए हम ही जिम्मेदार हैं। कुरूप को बदलना चाहते हैं तो उसकी जिम्मेदारी भी हमारी ही है। मदद का लेन-देन तो परस्पर चल ही रहा है। सारी जड़ चेतन सृष्टि इसके लिए हमें उपलब्ध है। किन्तु जिम्मेदारी तो हमारी ही है। जो-जो चीजें हमें समझ आ जाती हैं कि ये कुरूप हैं, उनका सुरूपता में बदलना प्रारम्भ हो जाता है। जितना अच्छा समझ आ जाता है, उतना अच्छा बदलाव आ जाता है। समस्या जहाँ है, वहीं समाधान भी होता है। समस्या ठीक से दिखनी चाहिए। शास्त्र गुरुजन तो हमें देखने के लिए संकेत करते हैं, देखना हमें ही पड़ता है।

सो, हमें देखना यह है कि मैं कहाँ-कहाँ बंधा हुआ हूँ, कहाँ-कहाँ आसक्त हूँ, कहाँ-कहाँ अज्ञानता और बेहोशी में जी रहा हूँ, कहाँ-कहाँ मैंने पदार्थ, सम्बन्धों व क्रियाओं को अपने ऐन्द्रियिक सुखों का साधन बनाया हुआ है। इसके आगे यह भी देखना है— ये सुख और दुःख हैं क्या? बुद्धि क्या है, चित्त क्या है, मन क्या है, अहङ्कार क्या है, इन्द्रियाँ क्या हैं, इन्द्रियों के विषय क्या हैं, चैतन्य क्या है? इन सब की व्याख्याओं (Explanations) से काम नहीं चलेगा। इनका अनुभव करना होगा। निरन्तर हम वृत्ति व संस्कारों के प्रवाह में बह रहे हैं। इस सब को समझना होगा। इस कुचक्र या सुचक्र को देखना होगा। क्लिष्ट वृत्तियाँ चल रही हैं तो कुचक्र है और अक्लिष्ट वृत्तियाँ चल पड़ी हैं तो यह सुचक्र कहलायेगा।

जीवन का लक्ष्य मात्र इतना नहीं है कि कुछ काम कर लिया, कुछ दायित्व (Responsibilities) निभा दिये, समाज में प्रतिष्ठा पा ली, मकान बना लिया, कुछ बच्चों को जन्म दे दिया; हम सब को ही इस सामान्य प्रक्रिया (process) से तो गुजरना होता है किन्तु यह साध्य नहीं है, साध्य है इन सबके द्वारा अन्तर्जागरण। तुच्छ से तुच्छ क्रियाएँ भी अन्तर्जागरण में निमित्त बन सकती हैं, बशर्ते उनकी तुच्छता हमारी समझ में आ जाये। जीवन में बड़ा-छोटा कुछ नहीं है, हम उन्हें कैसे ले रहे हैं इस पर सब कुछ आश्रित (Depend) रहता है। ठोकरें भी सही हैं यदि वे आँखें खोल देती हैं। कुछ भी अशुभ है ही

साधना पथ

नहीं। अशुभ वहीं तक अशुभ है जब तक वह हमें अशुभ के रूप में दिखाई नहीं दे रहा।

आपने दूसरी बात पूछी— “इन्द्रियनिग्रह के लिए मैं क्या कर सकती हूँ।” इन्द्रिय-निग्रह के लिए ज्ञान की शक्ति चाहिये। आत्मा तक हमारी पहुँच चाहिये। अभी हमारी पहुँच है— मन, अहङ्कार व ज्यादा-से-ज्यादा स्थूलबुद्धि तक जो इधर-उधर की सुनी-सुनायी बातों को दोहराना जानती है। ज्ञान के बिना केवल मात्र हठ से या केवल संकल्प से इस विषय में कोई शूरमा विजयी हो पाया हो, ऐसा दिखायी नहीं देता। अन्तर्मुखता सहज हो जाये तो आपके प्रश्न का उत्तर अपने आप मिल जायेगा। मनु महाराज का संदेश उक्त विषय में बहुत स्पष्ट है। वे कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ।।

अर्थात् केवल परहेज करने से, विषयों के सेवन में प्रवृत्त इन्द्रियों को वैसा संयमित नहीं किया जा सकता— जैसा कि ज्ञान के द्वारा इन्हें सहज बनाया जा सकता है। छोटे सुख को तो व्यक्ति तभी छोड़ पाता है जब उससे बड़ा सुख उसके हाथ लग जाए। सतत सावधान व्यक्ति को ही ज्ञान उसकी अपनी आत्मस्मृति से प्राप्त होता है। इस रास्ते पर चलने वाले लोगों को एक निर्दोष योगी बनना पड़ता है। योगी बनने के लिए अपने चित्त को समझना होता है। हमारा चित्त तीन गुणों का बना हुआ है— प्रकाश, क्रिया व आवरक शक्ति (स्थिति)। सामान्य रूप से चित्त में आवरक शक्ति व क्रिया अधिक होती है। अपने सचेतन प्रयास से प्रकाश को बढ़ाना पड़ता है। क्रिया व आवरक शक्ति की अधिकता में लौकिक प्रभुत्व व वैषयिक सुख से ही चित्त को तृप्ति मिलती है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, बुद्धि की स्थिरता आदि गुण तभी हमें अच्छे लगते हैं जब चित्त में प्रकाश बढ़ा हुआ रहता है। साधकों के लिए सांख्य शास्त्र में एक महत्वपूर्ण संदेश दिया गया है— **न श्रवणमात्रात् तत् सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात्।** (२.३) प्रवचनादि के श्रवणमात्र से यह यात्रा सफल नहीं हो पायेगी इसके लिये तो प्रतिक्षण विवेक का दीपक जलाना होगा।

पत्र-शृंखला

पत्र-शृंखला २.

हमने गत पत्र के उत्तर में एक चर्चा की थी कि जो लोग यह चाहते हैं कि हम जितेन्द्रिय बनें उन्हें ज्ञान देवता की शरण लेनी होगी, केवल सुने हुए ज्ञान के आधार पर संकल्प शक्ति के बल के सहारे इस कठिन यात्रा को पूरा नहीं किया जा सकता। अवश्य ही प्रारम्भ में इन्द्रियों को चञ्चल करने वाले आलम्बनों से अपने आप को बचाकर रखने से इस विषय में मदद मिल सकती है किन्तु उतना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। 'ज्ञान' इस अद्भुत शब्द से तात्पर्य है— चीजें जैसी हैं उन्हें वैसा ही देख पाना और वैसा ही अनुभव करना। हमारा चित्त (बुद्धि) जब विषय के दोष को सहज रूप से अनुभव करता रहता है तो उस विषय में चित्त की प्रवृत्ति नहीं होती। चित्त को जब-जब इन्द्रिय विषयों में सुख दिखाई देता है केवल तभी उन विषयों में चित्त की प्रवृत्ति देखी जाती है। योगसूत्रों का भाष्य करते हुए व्यासदेव जी महाराज ने विषय-सुख को अविद्या (मिथ्याज्ञान, अयथार्थज्ञान, भ्रान्तिज्ञान) कहा है। लेकिन हम सब को हर समय प्रतिक्षण यह अनुभव नहीं होता कि इन विषयों में दुःख भी है। विषय सर्वदा आपातरम्य (आरम्भ में रमणीय) और पर्यन्तपरितापी (परिणाम में दुःख देने वाले) होते हैं। सुख लेने से पहले और सुख लेते समय तो विषय सदा मोहक ही लगते रहते हैं किन्तु उत्तरक्षण में तत्काल विषाद, खिन्नता व जड़ता में बदल जाते हैं। यह उत्तरक्षण वाला रूप जितना-जितना सहज रूप से बुद्धि में बैठता जाता है उतनी-उतनी इन विषयों से निवृत्ति होने लगती है। अतः 'किसी विषय में तो चित्त की प्रवृत्ति है' और 'किसी विषय में निवृत्ति' यह क्यों है? इस बारे में हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उत्तर यही मिलेगा— 'सुख के कारण प्रवृत्ति, दुःख के हेतु से निवृत्ति', 'लाभ में प्रवृत्ति तो हानि में निवृत्ति'। विषय सुख लेने में प्रवृत्ति यह सिद्ध कर रही है कि विषयों में सुख दिखाई दे रहा है, दुःख होते हुए भी उस समय दुःख अनुभव में नहीं आ रहा है। इसी प्रकार किसी भी सुख से हमें निवृत्ति है या हम उपरत हैं तो

साधना पथ

इसका अर्थ है कि हमें उस सुख के पीछे छिपा हुआ दुःख दिखाई दे रहा है अन्यथा हम किसी प्रिय सुख से क्यों निवृत्त होंगे ?

सुख में छिपे दुःख को देखने के लिए सूक्ष्म बुद्धि भी चाहिए और बुद्धि की स्थिरता भी। योगसूत्रकार ने इस सुख में छिपे दुःख दर्शन को आध्यात्मिक यात्रा का आधार कहा है। यहीं से वैराग्य का जन्म होता है। सतत प्रतिपक्ष भावना से विषयों का राग धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है। वैसे तो राग की इतनी बड़ी महिमा है कि सदोष चीजों का भी त्याग नहीं होने देता, इसलिए इसे 'महामोह' नाम दिया गया है, किन्तु उपाय करने से सब चीजें सिद्ध हो जाती हैं। प्रतिपक्ष भावना भी वैराग्यप्राप्ति का एक उपाय ही है। प्रतिपक्षभावना का स्वरूप है— जिन चीजों से हमें दुःख होता है उस दुःख के प्रभाव को अपने शान्त मन में भावना के द्वारा बिठाना। तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग भी प्रतिपक्षभावना का ही एक रूप है।

एक दूसरी दृष्टि से भी इस समस्या पर विचार किया जा सकता है। जब हमारे चित्त में सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़ा हुआ होता है तो चित्त शुद्ध होता है और रजोगुण (क्रिया) या तमोगुण (जड़ता) बढ़ा हुआ हो तो यह चित्त की अशुद्धि कही जाती है। समस्त योगसाधना अशुद्धि का नाश और शुद्धि को चरम उत्कर्ष तक पहुँचाने के लिए ही है। जब तक विषयों की चाह है— अशुद्धि भी मौजूद है। यहाँ एक विशेष बात यह है कि उचित रीति से योगसाधन करने से अशुद्धि का क्षय और ज्ञान दीप्ति दोनों साथ-साथ चलती हैं। जिस अनुपात में अशुद्धि का क्षय होता है उसी अनुपात में शुद्धि=ज्ञान का प्रकाश भी बढ़ता रहता है। योगसाधन जैसे अशुद्धि के नाश करने में कारण की भूमिका अदा करता है, उसी प्रकार योगसाधन ही शुद्धि को प्राप्त कराने में भी कारण बनता है। अशुद्ध चित्त की इच्छायें और शुद्ध चित्त की इच्छायें एकदम पृथक्-पृथक् होती हैं, यह सब जानते हैं।

विषय सुख से ऊपर उठने के लिए अपने अन्दर बैठे हुए ईश्वर से पूर्ण विश्वास के साथ, सतत आत्मनिवेदन पूर्वक साहाय्य की याचना की जाए,

पत्र-शृंखला

तो उसकी तरफ से अवश्य ही सहायता मिलती है यह एक अनुभूत तथ्य है, किन्तु इसके लिए भक्ति विशेष चाहिए कि मैं उसी से प्रेरित होकर प्रत्येक क्रिया कर रहा हूँ। विषय सुख उसकी प्रेरणा से कैसे भोगा जा सकता है? यह तो हमारे शरीर के साथ एकीभूत अहं की ही एक तुच्छ माँग होती है।

पत्र-शृंखला ३.

पत्र प्रेषक— प्रभुदयाल यादव

ग्राम व पो०— जालावास, जि०— अलवर (राज०)

(१) प्रश्न— क्या दो आत्मा आपस में एक समान होती हैं?

उत्तर— तत्त्वतः किन्हीं भी दो आत्माओं में भेद नहीं होता है, सब आत्मायें एक ही जैसी होती हैं, चाहे वे किसी पशु-पक्षी की आत्माएँ हों या सामान्य मनुष्य की या ऋषि की। किसी भी वस्तु की पहचान उसके लक्षण से होती है। लक्षण वही होता है जिसमें न तो अतिव्याप्ति हो, न अव्याप्ति, न असम्भव अर्थात् वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं— स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण। जैसे कोई कहे जो इस गौरे भाई के साथ है वह 'राम' है— यह राम का 'तटस्थलक्षण' हुआ और जो यह श्याम वर्ण है वह 'राम' है— यह हुआ 'स्वरूपलक्षण'। और भी जैसे 'धारणाद् धर्मः' अथवा 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः' अर्थात् धैर्य क्षमा इत्यादि १० लक्षणों से जो युक्त है वह 'धर्म' कहाता है, यह धर्म का स्वरूपलक्षण कहा जायेगा। तथा जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त हो वह 'धर्म' यह धर्म का तटस्थलक्षण होगा।

सो आत्मा का स्वरूपलक्षण होगा— 'जो चेतनमात्र है'। तटस्थलक्षण होगा जिसके होने से हमारे शरीर में इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञान आदि होते हैं और न होने से नहीं होते वह 'आत्मा'। यह लक्षण सब आत्माओं पर चाहे वे मनुष्य हों या मनुष्येतर, समान रूप से घटता है। मनुष्येतरयोनिगत आत्माओं की उस-उस जाति के अनुसार सभी की ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति

साधना पथ

सामान्यरूप से समान ही होती है जैसे एक चींटी के ज्ञान व शक्ति की दूसरी चींटी के ज्ञान व शक्ति के साथ समानता है, एक हाथी की दूसरे हाथी के साथ। हो सकता है इन मनुष्येतर योनियों में उनके शरीर बल में अधिकतर भेद हो जैसे एक साण्ड दूसरे साण्ड से मजबूत देखने में आता है किन्तु उन सब की मनःशक्ति में प्रायः भिन्नता नहीं होती। मनुष्य आत्माओं में जो भेद होता है वह उनकी ज्ञानशक्ति व उनकी क्रियाशक्ति के आधार पर होता है। जो उनकी स्वाभाविक ज्ञानरूपता (चेतनरूपता) है उसमें कोई भेद नहीं होता; अर्जित ज्ञान में या सामर्थ्य में ही भेद होता है।

इन मनुष्य आत्माओं के दो रूप हैं— बद्ध आत्मायें व मुक्त आत्मायें। बद्ध आत्माओं में ज्ञान का अनन्त तारतम्य है। आत्मायें अपने स्वरूप से बहिर्भूत जितने भी पदार्थ हैं उनका ज्ञान प्राप्त करती रहती हैं। भाषाओं को सीखती हैं। सीखे हुए ज्ञान का परस्पर आदान प्रदान करती हैं। अपने शरीरों को सुख देने के लिए एक-से-एक नई खोजों में लगी रहती हैं। परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बन्धों को समझना चाहती हैं। जीवन दाता की खोज में अपनी शक्ति लगाती हैं। नये-नये हुनर (Skill) प्राप्त करना चाहती हैं। इन सब विषयों में मनुष्य आत्माओं के ज्ञान में परस्पर भिन्नता का होना स्वाभाविक है, उनका सामर्थ्य भी एक दूसरे से भिन्न-भिन्न है। एक और बात, चींटी को स्वाभाविक रूप से जितनी दूर से गन्ध का ज्ञान हो जाता है एक मनुष्य को योगज शक्ति के बिना सामान्य स्थिति में कभी भी नहीं हो सकता। एक गिद्ध को दूर से मरा हुआ पशु दिखाई दे जाता है— मनुष्य आदि किसी अन्य प्राणी को कभी भी दिखाई नहीं देगा। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुष्य जिस विशेषता के साथ देख सकता है उस विशेषता के साथ अन्य प्राणी नहीं देख सकते। अर्थात् मनुष्य आत्मा के साथ जो बुद्धि तत्त्व सम्बद्ध है उसकी क्षमताओं के अनन्त भेद हैं, पर आत्मा के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है।

हर एक आत्मा की जो स्वाभाविक प्यास है उसमें भी कोई अन्तर नहीं। मनुष्येतर अन्य आत्मायें (अन्य योनियों के जीवगण) तो उनके अपने स्वाभाविक

पत्र-शृंखला

कुदरत प्रदत्त ज्ञान के द्वारा नियन्त्रित हैं, किन्तु मनुष्यों का भी अध्ययन करें तो सब मनुष्यों में मूलतः एकरूपता दिखाई देती है— सब मनुष्य समाधान में जीना चाहते हैं (यहाँ सब मनुष्यों की आन्तरिक माँग की ओर संकेत किया जा रहा है)। यदि समाधान नहीं है तो समाधान प्राप्त करना चाहते हैं, ठीक-ठीक समझना चाहते हैं, सुसामञ्जस्य में जीना चाहते हैं, अव्यवस्था में या विभाजन में नहीं जीना चाहते, सम्बन्धपूर्वक जीना चाहते हैं, न्यायपूर्वक जीना चाहते हैं, सब सम्मानपूर्वक जीना चाहते हैं, सबको विश्वास में जीना पसन्द है, एक शब्द में कहें तो सभी को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की समान रूप से माँग है। किन्तु यह सत्य है— मानवजाति में यह एकरूपता बाह्य प्रभावों से मुक्त होने पर ही देखी जा सकती है। बाह्य प्रभावों की स्थिति में तो जहाँ जो प्रभाव प्रभावी है वहाँ वैसी ही अभिरुचियाँ, प्रवृत्तियाँ आदि देखी जाती हैं। आत्मा के तत्त्वात्मक स्वरूप (Substantial-form)में कोई फर्क नहीं है।

(२) प्रश्न— मुक्त होने पर आत्माओं की क्या स्थिति होती है? क्या वे समान ही होती हैं?

उत्तर— मुक्त आत्माएँ ज्ञान प्रतिष्ठ होती हैं, उनकी स्थिति ज्ञानरूप होती है। वे मुक्त स्वरूप होती हैं। जब कि बद्ध आत्माएँ अज्ञानग्रस्त होती हैं। आत्मा का यह बन्धन क्या है? अपने बारे में न जानना ही आत्मा का बन्धन है। कुछ लोग जानने में तो निरन्तर लगे रहते हैं। प्रकृति के नियमों की खोज करते हैं। ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, सूर्य-चाँद-तारे, बड़ी-बड़ी नीहारिकाएँ, ब्लैक-होल, शरीरविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, ऋतुविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, पशुविज्ञान, कृषिविज्ञान, शिल्प-कला, कम्प्यूटर साइंस, विविध प्रकार की टेक्नालॉजी, इतिहास, समाजशास्त्र, सभ्यताओं का उत्थान-पतन सब कुछ जानने के प्रयास करते हैं। एक शब्द में वस्तुनिष्ठ-ज्ञान (Objective knowledge) को उपलब्ध करने में तो लगे रहते हैं, किन्तु 'मैं कौन हूँ' 'धर्म क्या है' 'मोक्ष क्या है' 'मन क्या है' 'अहंकार क्या है' 'चित्तवृत्तियाँ क्या हैं' 'कर्म क्या है' 'कर्म का उद्देश्य क्या है' 'कर्म बन्धन का क्या स्वरूप है' 'कर्म बन्धन से मुक्ति का क्या उपाय

साधना पथ

है' 'आत्मज्ञान क्या है' 'संस्कार क्या हैं, उनसे मुक्ति कैसे हो' 'सहज जीवन की उपलब्धि कैसे हो' 'प्रतिक्रियाओं से कैसे बचें' 'ध्यान क्या है' 'अपनी अन्तःसत्ता के महत्वपूर्ण घटक कौन-कौन से हैं' इत्यादि प्रश्नों की खोज नहीं करते। अपने आत्म विज्ञान (Subjective knowledge) की ढूँढ-तलाश में रुचि नहीं लेते। ज्यादा-से-ज्यादा मनोविज्ञान (psychology) पर कुछ पुस्तकें पढ़ लेते हैं, दूसरों को समझा देते हैं, किन्तु अपने चित्त से, अपनी बुद्धि से, अपने अन्तःकरण से परे कोई चैतन्य रूप सत्ता भी है उसकी खोज नहीं करते तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भी स्पष्टतापूर्वक अनुभव के स्तर पर समझने के लिए प्रयास नहीं करते। वे चूँकि क्लेश (अविद्या-अहंकार-राग-द्वेष-अभिनिवेश), कर्म (कुशल-अकुशल), विपाक (जाति-आयु-भोग के रूप में मिलने वाला कर्मों का फल), आशय (वासनाएँ— जातिवासना, आयुवासना, सुख-दुःखवासना) से मुक्त नहीं हो पाते अतः जन्म मरण के प्रवाह में पड़े रहते हैं। आत्मज्ञान के बिना क्लेश-कर्म-विपाक-आशय से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। जिन-जिन आत्माओं को यह आत्मज्ञान हो जाता है, उनमें परस्पर भेद करने वाली कोई चीज नहीं दिखाई देती।

(३) प्रश्न— क्या समस्त मुक्तात्माएँ एक ही लोक में जाती हैं या पृथक्-पृथक् लोकों में?

उत्तर— लोकों में तो वे ही आत्माएँ रहती हैं जिनका जन्म-मरण होता है। मुक्तात्माएँ मोक्षपद में वर्तमान रहती हैं न कि लोकमध्य में। योगदर्शन ३.२६ सूत्र के व्यासभाष्य में एक वचन उपलब्ध होता है— 'विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते, न लोकमध्ये न्यस्ताः'।

(४) प्रश्न— क्या कारण है कि आदमी धर्म मार्ग पर चलता हुआ भी कभी-कभी अशुभ का शिकार हो जाता है? कितने ही ऐसे लोग हैं जो दिल से पूरा प्रयास करते हैं कि अशुभ से बचें, किन्तु फिर भी वे अशुभ में घिर ही जाते हैं।

पत्र-शृंखला

उत्तर— मनुष्येतर प्राणी स्वाभाविक रूप से जैसी उनकी स्थिति है तदनुसार चलते रहते हैं, जैसे भूखे मर जायेंगे पर मांस नहीं खायेंगे। कोई आत्महत्या नहीं करता, बिल्ली को चूहे से अधिक तृप्ति मिलती है, शेर को हिरण से, गिद्ध को किसी भी मरे हुए पशु से, सुअर को मल-मूत्र से इत्यादि। किन्तु मनुष्य एक ज्ञानपूर्ण इकाई है। ज्ञान से चलता है और कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् अर्थात् करने, न करने, अन्यथा करने की स्वतन्त्रता से युक्त है। मनुष्य को प्रारम्भ में जो ज्ञान उपलब्ध होता है उसके साधन हैं— माता-पिता-गुरु-आचार्य-शास्त्र-विद्यालय-परिवेश-समाज। ये सब ज्ञान के बाह्य-स्रोत हैं अर्थात् जीवन के आरम्भ में मनुष्य का बच्चा परिवेश से, अनुकरण से, ट्रेनिंग से, शासन व नियन्त्रण से, पाठ्य-पुस्तकों से ही सीखता है। आगे चलकर यदि उसे ऐसे गुरु-आचार्य-शास्त्र मिल जाएँ जिनसे वह अपनी सत्ता की गहराई में प्रवेश करना सीख ले तो मनुष्य के भीतर भी समस्त कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभ का बोध कराने वाला जो सत्यज्ञान-ईश्वरीयज्ञान उपलब्ध है उसके प्रकाश में वह स्वाधीनता व निर्भयतापूर्वक अपना जीवन जी सकता है। किन्तु यदि वह सुयोग न मिले तो जैसा भी बाह्य ज्ञान व परिवेश उपलब्ध होता है वैसा ही जीवन चलता है। मनुष्य के बच्चे को परिवेश यदि सत्य, धर्म व न्याय को महत्त्व देने वाला मिलता है तो वह भी इसको महत्त्व देने लगता है। यदि परिवेश सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, वैषयिक सुखों को महत्त्व देता है, तो विकसित होता हुआ वह बच्चा भी इन सब संस्कारों के साथ विकसित होता है।

‘ज्ञान-इच्छा-कर्म-फल’ इन चारों का एक सुनिश्चित समीकरण है— जैसा ज्ञान वैसी इच्छा, जैसी इच्छा वैसा कर्म, जैसा कर्म वैसा फल। ज्ञान जितना शुद्ध, सत्य व सुस्थिर हो जाता है आचरण भी स्वभावतः वैसा होता रहता है। मनुष्य के आचरण में कहीं कोई कमी है तो वह उसके ज्ञान का दोष है। ज्ञान पवित्र भी है, सत्य भी हो किन्तु जब तक स्थिर नहीं हो जाता है तब तक विशेष लाभकारी नहीं होता। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में भी रख सकते हैं— मनुष्य जैसे कर्म करता है, जैसे परिवेश में रहता है वैसे ही उसके संस्कार

साधना पथ

बन जाते हैं और फिर आगे वे संस्कार व्यक्ति को उसी प्रकार के कर्म के लिए प्रेरित करते रहते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने कहा है— इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या। तद्दुष्टज्ञानम्। अदुष्टं विद्या। अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध होने से और किसी पुराने संस्कार के दोष से व्यक्ति में अविद्या के रूप में दुष्ट ज्ञान पैदा हो जाता है और उससे अशुभ की शृङ्खला आगे बढ़ती रहती है।

इन अशुभ संस्कारों का नाश करने के लिए योग-साधना, ध्यान-भजन, सत्संग, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, अभ्यास-वैराग्य, श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा इत्यादि उपाय, ईश्वर-समर्पण, मैत्री-करुणा-मुदितादि भावनाएँ, क्रियायोग, सुख व दुःख के कारणों की खोज, दुःखनाश और सुखप्राप्ति के उपायों को अपनाया जाता है। योगमार्ग को कठिन इसलिए बताया गया है— अज्ञान का जब तक पूर्णरूप से अन्त नहीं हो जाता तब तक धैर्य व स्थिरतापूर्वक किसी भी परिस्थिति में बिना निराश हुए निरन्तर चलना होता है। अशुभ संस्कार यदि शेष हैं तो जब भी उन्हें अवसर मिलेगा वे तो अपना काम करेंगे ही। धर्म, सत्य, शुभ जब सुप्रतिष्ठ हो जायेगा तब पतन के लिए कोई अवकाश नहीं। पतन हो रहा है तो यही समझना होगा कि ज्ञान अभी सुप्रतिष्ठ नहीं हुआ है। ज्ञान को सुप्रतिष्ठ करना जीवन के महनीय कर्मों में से एक काम है।

(५) प्रश्न— आत्म-हत्या की घोर निन्दा करने वाले भी आत्महत्या कैसे कर लेते हैं?

उत्तर— घोर अज्ञान के बिना आत्म-हत्या असम्भव है। मनुष्य की आत्मा के साथ सम्बद्ध त्रिगुणात्मक चित्त या बुद्धि जब प्रकाश से आलोकित रहती है अर्थात् सत्त्वगुण बढ़ा हुआ रहता है तो कुछ भी अशुभ नहीं हो सकता। अशुभ होता है— बुद्धि में या तो क्रिया बढ़ने से अर्थात् रजोगुण की वृद्धि होने से या फिर तमस् की वृद्धि होने से। तमस् प्रकाश व क्रिया का आवरक तत्त्व है। आत्महत्या विषाद का परिणाम है। विषाद तमस् के

पत्र-शृंखला

बिना नहीं आ सकता। तमस् ज्ञानदीप को बुझा देता है, क्रिया को भी रोक देता है, फिर कुछ भी हो सकता है। सत्त्व की बढ़ी हुई अवस्था में तो विचार व ध्यान की शक्ति से गुणों को हम सतत एक निर्धारित पथ पर चला सकते हैं। अतः वहाँ कुछ भी अनिष्ट घटित नहीं हो सकता।

(६) प्रश्न— क्या आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न सत्ता हैं? इन्हें भिन्न करने वाली क्या चीज है?

उत्तर— आत्मा और परमात्मा अवश्य ही भिन्न सत्ताएँ हैं। परमात्मा की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति स्वाभाविक हैं, एकरस हैं, नित्य हैं और अनन्त हैं। परमात्मा में सत्त्व का ऐसा सहज उत्कर्ष है जो कि कभी भी रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता। श्रुति भी कहती है— ‘स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ जो स्वाभाविक होता है उसके लिए किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा भी परमात्मा की तरह ही चेतन तो है किन्तु उसके पास स्वाभाविक रूप से सत्त्व का उत्कर्ष नहीं है; आलम्बन आदि के कारण वह ‘सत्त्व’ रजस् व तमस् के द्वारा अभिभूत होता रहता है। पहली बात तो सामान्य स्थिति में जीव का उतना सत्त्व का उत्कर्ष है ही नहीं, और हो भी नहीं सकता किन्तु कभी सत्त्व की स्थिति प्राप्त हो भी जाती है तो वह स्थिर नहीं होती। योग-साधना चाहे उसका जो भी रूप हो— ज्ञानयोग-भक्तियोग-निष्कामसेवा, अभ्यास-वैराग्य, समर्पण, विवेकख्याति, अष्टांगयोग आदि के अनुष्ठान से सत्त्व को स्थिर तथा रजस् तमस् रूप अशुद्धि का क्षय किया जाता है। यह सत्य है कि योगी भी अपने अन्दर ज्ञान को उस सीमा तक स्थिर कर लेता है कि किसी भी आलम्बन के उपस्थित होने पर वह ज्ञान-दीप बुझता नहीं। अज्ञान के सभी पुराने संस्कार दग्धबीजवत् हो जाते हैं, नये बनते नहीं।

आत्माओं का परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है, वह कभी एक क्षण के लिए भी नहीं छूटता, किन्तु जीव (जीवात्मा या आत्मा जो कहें) को यह स्वातन्त्र्य प्राप्त है कि वह बाह्य विषयों के साथ एकरूप होकर रहना चाहे तो रह सकता है किन्तु उस समय परमात्मा से मिलने वाला ज्ञान-बल-आनन्द प्राप्त नहीं होता। परमात्मा की तरह ज्ञानी बनकर जीने

साधना पथ

के लिए बाह्य विषयों से मिलने वाले क्षणिक ऐन्द्रियिक सुखों में उदासीनता धारण करनी होती है। जो लोग ये दो काम कर पाते हैं— बाहर के प्रति तटस्थता, उदासीनता, वैराग्य इत्यादि तथा अपने भीतर दृढ़ स्थिति वे सदा सर्वदा दुःख-मुक्त रहते हैं। आत्मा को जितना भी दुःख कष्ट है वह अज्ञान के कारण है। किन्तु वह दुःख ही आत्मा का दुःख से पार जाने के लिए प्रेरक बन जाता है, इसीलिए यह कहा जाता है— संसार में दुःख दर्शन से ही जीव का भगवान् की तरफ चलना हो पाता है। संसार में सुखबुद्धि होने से जीव उसी में रमा रहता है और उसके परिणामस्वरूप अवश्यंभावी रूप से मिलने वाला दुःख भोगता रहता है, इसमें किस को दोष दें!

श्रीअरविन्द ने एक जगह कहा है— हम परमात्मा को जान नहीं सकते किन्तु परमात्मा जैसे हो सकते हैं अर्थात् जैसे लोहा अग्नि में पड़कर अग्निमय हो जाता है वैसे ही हम परमात्मा के साथ तद्रूप होकर रह सकते हैं। हाँ! यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि जीवात्मा अपने कष्ट-क्लेश-भय-बन्धन-भ्रान्तियों से तो पूर्णतः मुक्त हो सकता है किन्तु परमात्मा की तरह सृष्टि निर्माण आदि कार्यों को करने में कभी भी सक्षम नहीं हो पाता है।

(७) प्रश्न— मन व इन्द्रियाँ जब जीव को भटकाती हैं तो इनकी रचना ही क्यों हुई?

उत्तर— मन व इन्द्रियाँ ही नहीं सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् ही जीव के दो उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिए है— भोग व अपवर्ग। भोग जीव को सुख-दुःख-मोह के रूप में उपलब्ध होता है, अपवर्ग ज्ञान, शान्ति, आनन्द व प्रेम के रूप में। भोग व अपवर्ग दोनों ही ज्ञानरूप हैं। जब जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को नहीं जानता है तो पदार्थ से, परस्पर सम्बन्धों से व विविध शारीर, वाचिक व मानस क्रियाओं से सुखी होना चाहता है। उस सुख लेने की प्रक्रिया में परस्पर के सम्बन्ध तथा प्रकृति के साथ सम्बन्धों का उचित ज्ञान व उनका ठीक निर्वाह न होने के कारण तथा 'कितना सुख लेना' इसका सही ज्ञान न होने से असंयम के परिणामस्वरूप दुःख भी प्राप्त होता

पत्र-शृंखला

रहता है। इस प्रकार वस्तु व्यक्ति के साथ सम्बन्धों का अधिमूल्यन मोह में तथा उनका विछोह शोक में बदलता रहता है।

जब बार-बार दुःख की चोट पड़ती है तो व्यक्ति सोचने के लिए बाधित हो जाता है कि कहाँ गलती हो रही है। दुःख से मुक्त होने के लिए विचार करने लगता है और बस यहीं से अपवर्ग की ओर यात्रा आरम्भ हो जाती है। 'मुझे अपने को सुखी करने के लिए संसार की किसी भी वस्तु, व्यक्ति या उसके साथ सम्बन्ध की ऐसी घनिष्ठता की आवश्यकता नहीं है जो कि परिणाम में मैं-मेरे का रूप धारण कर लेती है'। जब यह ज्ञान पूर्ण प्रतिष्ठ हो जाता है तो इस ज्ञान के साथ ही भोग का पूर्ण अन्त हो जाता है। सुख प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं का अन्त हो जाना ही अपवर्ग है। यह ज्ञान जीव को मन-बुद्धि व इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है। सो जीव के पास यदि ये अमूल्य साधन न होते तो कैसे उसे यह समझ आती? इस ज्ञान के साथ ही जीव 'अकाम, पूर्णकाम, या सत्यकाम' हो जाता है। उस अवस्था में मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा सहज प्राप्त कर्म होते हैं, कर्म किये नहीं जाते। अच्छाइयाँ उसका स्वभाव बन जाती हैं। अतः यदि कोई व्यक्ति वास्तव में सुखी जीवन जीना चाहता है तो उसे अपने ज्ञान को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए, दुःखों के कारणों की खोज करनी चाहिए। सच्चे सुख को समझने का प्रयास करना चाहिए। प्रयास कभी व्यर्थ नहीं जाता, यह याद रखना चाहिए।

पत्र-शृंखला ४.

प्रश्न है— हम जीवों के लिए ईश्वर, का अभिप्राय क्या है? हम यहाँ क्यों हैं? हम जीवन को सफल करना चाहते हैं, पर यह तो नहीं पता चल रहा है कि सफलता का मूल्याङ्कन किस आधार पर करें? ऐसा वह कौन सा स्रोत है? जो हमें सत्य को जानने में और तदनुसार जीने में हमारी मदद करे? ये और इसी तरह की जिज्ञासायें हमारे भीतर उठती रहती हैं, हम समाधान चाहते हैं।

हम जीवों के लिये जीवनदाता, विधाता, सृष्टिकर्ता, ईश्वर या जो कुछ

साधना पथ

कहें का अभिप्राय है— जीव अपने ज्ञान को शुद्ध करें, जड़ता में न जीएँ, चिन्मय होकर जीएँ। दूसरा अपने हृदय को पवित्र करें अर्थात् अपनी भावनाओं को निर्मल बनाएँ। तीसरा अपनी रुचि व प्रकृति के अनुसार शरीर, वाणी और मन से कर्म करते रहें पर वे कर्म पारस्परिकता में एक दूसरे के लिए पूरक हों, सहयोगी हों, सह-अस्तित्व में बाधक न हों। तात्पर्य यह निकला कि कर्म मात्र परस्पर एक दूसरे के अभावों को मिटाने के लिए हो।

एक के पास कोई योग्यता या हुनर (Skill) है, दूसरे के पास कोई विद्या विशेष, तीसरे के पास नेतृत्व का गुण है, चौथे के पास ऐसा कोई गुण विशेष तो नहीं है, पर वह ईमानदार है— कामचोर नहीं है शरीर से परिश्रमी है, कोई अन्न पैदा कर रहा है, कोई कम्प्यूटर पर काम कर रहा है, कोई विमान चलाता है, कोई अध्यापक है, कोई उद्योगपति है। इस प्रकार जो कोई जिस रूप में भी जहाँ कहीं जो कुछ कर रहा है यदि वह दूसरों की आवश्यकताओं का पूरक हो जाता है तो यह ईश्वर के अभिप्राय के अनुकूल ही है। सर्वसुहृद्भाव (Person-Friendly) के सिद्धान्त पर आधृत कर्म सदा ही ईश्वर के अभिप्राय के अनुकूल होते हैं। जितने भी चोरी जारी दुष्कर्म हैं वे इसलिए ईश्वर के अभिप्राय के प्रतिकूल हैं क्योंकि उनसे दूसरों की स्वतन्त्रता बाधित हो रही है, दूसरों का शोषण हो रहा है, सह-अस्तित्व संकट में पड़ रहा है।

ईश्वर का हमारे लिए यह भी अभिप्राय है कि हम प्रकृति के मित्र बनकर जीयें, प्रकृति के साथ किसी बेरहम शत्रु जैसा व्यवहार न करें। कम से कम इतना तो करें ही— एक पेड़ काटें तो बदले में दो लगाएँ। पर्यावरण को जितना हो सके स्वच्छ रखने की कोशिश करें, नदियों को गन्दा न करें, प्रदूषण करने से जितना अपने को बचा सकें बचायें। Echo-Friendly बनकर जीयें।

ईश्वर के अभिप्राय के अनुसार कोई जीना चाहता है तो उसे अपनी अन्तःप्रेरणाओं को जानना होगा। अन्तःप्रेरणाएँ बिना शान्त मन के नहीं जानी जा सकतीं। मन को शान्त करने के लिए 'अकाम' होना होता है। अकाम होने के लिए अहंकार को देख पाने की सामर्थ्य आनी चाहिए। अहङ्कार को देखने

पत्र-शृंखला

की सामर्थ्य पाने के लिए अन्तर्मुखता चाहिए। अन्तर्मुखता के लिए बाह्य नाम-रूप-पद-प्रतिष्ठा के मोह और आकर्षण से मुक्ति चाहिए। नाम-रूप-पद-प्रतिष्ठा के आकर्षण से मुक्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसके भीतर छिपा हुआ दुःख नहीं दिखाई देता। दुःख दर्शन के लिए व्यक्ति को संवेदनशील होना होगा। संवेदनशील होने के लिए हृदय की कोमलता चाहिए। हृदय की कोमलता के लिए दूसरों के प्रति सहृदय होना होगा। दूसरों के प्रति सहृदय होने के लिए अपने 'स्व' की अपेक्षा दूसरों को अधिक महत्त्व देना होगा। दूसरों को महत्त्व देने के लिए एक तत्त्व को सबमें व्यापक देखना होगा— यजुर्वेद ब्रह्म अध्याय के छठे व सातवें मन्त्र को हृदयङ्गम करना होगा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

अर्थात् जो ज्ञानवान् पुरुष सब भूतों (प्राणियों) को आत्मा में ही देखता है और आत्मा को सब भूतों में, वह संशयमुक्त हो जाता है। तथा जिस ज्ञान के प्राप्त करने पर समस्त प्राणी आत्मा के रूप में दिखाई देते हैं, आत्मा के एकत्व को देखने वाले ऐसे विज्ञानवान् का जड़ व चेतन पदार्थों का मोह व शोक समाप्त हो जाता है। चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग मोह के रूप में तथा उनका वियोग शोक के रूप में प्राणिमात्र को संतप्त कर रहा है। ज्ञानी इस मोह व शोक की समस्या से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

भगवान् का अभिप्राय बताने के लिए ही तो आगम-निगम-सन्तजन अपने-अपने काम में जुटे हुए हैं। हम सौभाग्यशाली हैं जो वेद-उपनिषद् जैसे पवित्र ज्ञान के साथ हमारा सम्बन्ध है। शास्त्र के तमाम विधि-निषेध प्रारम्भिक साधकों के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। एक बार अन्तर्वासी से परिचय हो जाए तो सीधे अपने अन्दर ही उसके अभिप्राय को जान सकते हैं।

४०४०७७७

५९. पञ्च क्लेश

क्लेश योगदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। क्लिश्नन्ति ते क्लेशाः। साधक को जो दुःख देते रहते हैं। यदि इनको विभाग करके बताया जाये तो ये संख्या में पाँच हैं। पतञ्जलि ने कहा है— अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः (यो० द० २. ३)। अब इनके स्वरूप व इनकी कार्यप्रणाली पर विचार किया जा रहा है। प्रथम क्लेश है अविद्या अर्थात् 'अनित्य शरीरादि में नित्यबुद्धि, अपवित्र शरीरों में पवित्र बुद्धि, विषयों के सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि, अनात्म भूत शरीर, बुद्धि, मन आदि में आत्मबुद्धि'। अविद्या विद्या का अभाव नहीं है, बल्कि विद्या विरोधी विपरीत ज्ञान है। अविद्या चित्त में सब क्लेशों के कारण के रूप में उपस्थित होकर अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश रूप अगले क्लेशों को जन्म देती है। जैसे 'संस्कार और वृत्ति' इन दोनों के चित्त में रहते हुए भी संस्कार दिखाई नहीं देते पर वृत्तियाँ तो किसी को भी थोड़ा सा प्रयत्न करने पर ही साफ-साफ दिखाई दे जाती हैं अर्थात् अनुभव में आ जाती हैं, फिर हमें क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियों से उसी जाति के क्लिष्ट-अक्लिष्ट संस्कारों का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या चित्त में अदृष्टरूप से रहती है, सतह पर दिखने वाले तो अस्मितादि के रूप में चार क्लेश ही कार्यरत होते हैं।

पाँचों क्लेशों में दूसरा क्लेश है 'अस्मिता' क्लेश। कोई भी व्यक्ति जब अपने अनात्मरूप बुद्धि-तत्त्व (आत्मा से भिन्न पदार्थ) को ही आत्मा के रूप में या अपने 'मैं' के रूप में देखने लगता है तो, बुद्धि और उस से सम्बद्ध सभी धर्मों को अर्थात् बुद्धि में उपस्थित हुए सभी धर्मों को आत्मधर्मों के रूप में ही स्वीकार कर लेता है, जब कि तत्त्वतः आत्मा से बुद्धि और बुद्धिसम्बद्ध धर्म सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। जैसे 'मैं पुण्यात्मा हूँ', 'मैं संकल्पवान् हूँ', 'मैं अशुभ संकल्प वाला हूँ', 'मैं बुद्धिमान् हूँ', 'मैं कुरूप हूँ', 'मैं लम्बा हूँ', 'मैं ठिगना हूँ', 'मैं व्यापारी हूँ', 'मैं धनवान् हूँ', 'मैं किसान हूँ', 'मैं निर्धन हूँ', 'मेरे को सब

जानते हैं', 'मेरे को तो कोई नहीं जानता है', 'मैं साधक हूँ', 'मैं तो सांसारिक हूँ', 'मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ', 'मैं कई भाषाएँ जानता हूँ', 'मैं गणितज्ञ हूँ', 'मैं अमुक-अमुक कार्य करना जानता हूँ', 'मैं तो एक सामान्य आदमी हूँ', 'मैं द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, स्पृष्टा, मन्ता या बोद्धा हूँ' अर्थात् 'मैं' और 'हूँ' के बीच में जिस किसी भी वस्तु, व्यक्ति, या विचार को रखकर इसे देखा जा सकता है। यह हुआ बुद्धि में उपस्थित हुए या बुद्धि के द्वारा अर्जित-उपार्जित दृश्य के साथ मैं का 'अभेदात्मक सम्बन्ध'।

इसी प्रकार बुद्धि के द्वारा या बुद्धि में उपलब्ध हुए दृश्य के साथ मैं का 'भेदात्मक सम्बन्ध' भी होता है जैसे मेरा घर, मेरा शरीर, मेरा ज्ञान, मेरा व्यवहार, मेरी बुद्धि, मेरा मन, मेरी शान्ति, मेरा धर्म, मेरा आश्रम, मेरी शक्ति, मेरा प्यार इत्यादि। इसमें इतना अवश्य जानना चाहिए कि जितना-जितना बाहर की तरफ जाते हैं उतनी ही अस्मिता स्थूल होती जाती है जैसे कोई धन को मैं के साथ जोड़कर कहता है— 'मैं करोड़पति हूँ' या 'मेरे पास इतनी फैक्टरियाँ हैं' 'मैं इतनी सम्पत्ति का मालिक हूँ'। यदि टैक्स का भय न हो तो फिर देखें व्यक्ति अपनी महिमा का कैसा गौरवपूर्ण बखान करता है। जितना-जितना बाहर से भीतर की तरफ प्रवेश करते हैं तो उतनी-उतनी अस्मिता सूक्ष्म होती जाती है। जैसे मैं चञ्चल या शान्त हूँ, मैं प्रसन्न या अप्रसन्न हूँ, मैं धार्मिक या अधार्मिक हूँ। अस्मिता का सबसे सूक्ष्मरूप 'मैं हूँ' इस रूप में परिलक्षित होता है। यहाँ 'अस्मि' मात्र के साथ चैतन्य की एकात्मता रहती है। इस स्थिति में भी सूक्ष्मतम अज्ञान के कारण द्रष्टा-दृश्य का संयोग और उनकी एकात्मता बनी रहती है। परवैराग्य या तत्सहभावी निरोधसमाधि के द्वारा इस सूक्ष्मतम अज्ञान का भी नाश हो जाता है और तत्काल चिन्मय स्वरूप में स्थिति हो जाती है। उस स्थिति का वर्णन ही योगशास्त्र के 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १.३) , 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धः'(२.२०) इन सूत्रों में हुआ है। इससे ठीक पूर्ववर्ती स्थिति का कथन 'अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि'(यो० सू० १.१७), इस शब्द के द्वारा हुआ है। सम्प्रज्ञात समाधि की यह अन्तिम व

साधना पथ

उच्चतम अवस्था है। वृत्तिसारूप्यम् (यो० सू० १.४) या प्रत्ययानुपश्यः (यो० सू० २.२०) की अनेकानेक द्रष्टा-दृश्य की अभेद स्थितियों में यह सूक्ष्मतम अन्तिम अभेद स्थिति है। इससे अगला चरण तो जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में ही होता है।

तीसरा क्लेश है— 'राग'। अपवित्र शरीरों में पवित्र बुद्धि रूप अविद्या के कारण तथा विषयों के सेवनरूप दुःख में सुख-बुद्धिरूप अविद्या के कारण, सुख व सुख के साधनों के प्रति जो सुख संस्कार व्यक्ति के अन्दर गहराई तक बैठ जाता है, उस संस्कार बल से पुनः उसी सुख को बार-बार लेने की इच्छा होती है, जैसे प्यासे को पानी की इच्छा होती है इसी का नाम है 'राग' सुखानुशयी रागः (यो० सू० २.७)।

चौथा क्लेश है— 'द्वेष'। पवित्र चीजों में अपवित्र बुद्धि तथा सुख देने वाली चीजों में भी दुःखबुद्धिरूप अविद्या (विपरीतज्ञान) के कारण अपने द्वारा माने हुए दुःख व दुःख के साधनों के प्रति जो दुःख संस्कार व्यक्ति के अन्दर गहराई तक बैठ जाता है, उस संस्कार बल से पुनः उन्हीं मानी हुई दुःखदायी वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो क्रोध, जिघांसा या प्रतिशोध का भाव होता है वह है 'द्वेष' नामक क्लेश।

तत्त्वतः जो पदार्थ (वस्तु या व्यक्ति) दुःखदायी हैं, कष्टप्रद हैं उनसे तो साधक को भी हटना ही चाहिए, अतः उन दुःखदायी घटना, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति साधक का जो क्रोधरहित उदासीन भाव है वह तो द्वेष कोटि में न होने से क्लेश ही नहीं है। किन्तु अपने किसी सुख में बाधक बने हुए व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों के प्रति जो दुःखबुद्धिरूप भाव बन जाता है, वही है 'द्वेष' क्लेश। जैसे कि स्वामी दयानन्द, सुकरात, ईसा आदि महापुरुष जो कि वास्तव में तो समाज के सुख को बढ़ाने में लगे हुए थे किन्तु भ्रान्तिवश उन्हें दुःखदायी मान लिया गया और इसलिए द्वेषवश उनको मार डाला गया।

पाचवाँ क्लेश है— 'अभिनिवेश'। अनित्य शरीरों में नित्यबुद्धि रूप विपरीत ज्ञान के कारण व्यक्ति यह मान बैठता है कि मैं कम से कम १००

वर्ष तक इसी रूप में बना रहूँगा। यदि अनित्य शरीरों को अनित्य मान लें कि कभी भी कोई घटना हो सकती है फिर तो क्या बाधा? किन्तु जब किसी चीज को नित्य मान लिया और अब वह हमारी मान्यता से विरुद्ध हट कर हमारे हाथ से जाने लगे तो निश्चित ही भय पैदा होगा, यही है- 'अभिनिवेश' क्लेश। यथार्थ ज्ञान से ये सभी क्लेश निवृत्त हो जाते हैं।

• प्रभो! तुम कभी विशुद्ध प्रेम के रूप में, कभी परम सन्तुलन व समता के रूप में, कभी पवित्र ज्ञान के रूप में, कभी सहनशक्ति के रूप में, कभी आन्तरिक बल के रूप में, कभी तेज और ओज के रूप में, कभी मन्यु के रूप में, कभी यम दण्डविधान के रूप में, कभी अद्भुत सौन्दर्य के रूप में, कभी परम शान्ति के रूप में, कभी परम आनन्द के रूप में, कभी सुधृति के रूप में, कभी परम शून्य या परम नीरवता के रूप में, कभी आन्तरिक ज्योति या प्रकाश के रूप में, कभी दिव्य अमरत्व के रूप में, कभी सत्ता के सब भागों पर दिव्य नियन्त्रण के रूप में, इन सब शतशः सहस्रशः रूपों में मेरे समक्ष प्रकट होते रहते हो। तुम्हारा हर रूप मुझे एक अद्भुत मस्ती से सराबोर कर देता है। प्रभो! वर दो कि मैं कभी भी भ्रान्त होकर तुम्हारे इन उत्कृष्ट रूपों की अपेक्षा हीन या अवर रूपों से सन्तुष्ट न होऊँ।

• प्रभो! मुझे तुम्हारा वह तेज, वह भर्ग चाहिए जो पापों को भून देता है, जो अशुभ, अमङ्गल, कुरूप या हीन को जला डालता है।

• प्रभो! वर दो कि कार्य की तेज रफ्तार का भूत मेरे सिर पर सवार न हो। मेरे कर्म एक दिव्य सन्तुलन में सुप्रतिष्ठित हों।

• प्रभो! वर दो कि मेरा दर्शन, मेरा इस सृष्टि को निहारना, सम्बन्धों व कर्मों को देखना भ्रान्तियुक्त न हो। मैं बाह्य रूपों में इतना न खो जाऊँ कि इनका अन्तःसत्य ही दृष्टि से ओझल हो जाये।

• प्रभो! वर दो कि शान्ति के धरातल पर खड़े होकर अपने कर्मों को सम्पन्न कर सकूँ। कर्म को अकर्म में बदलने का केवल मात्र यही सूत्र मुझे समझ में आया।

६०. सांख्यीय दृष्टि— पुरुष का अकर्तृत्व

भारतीय वैदिक दर्शनों में सांख्य दर्शन ऐसा दर्शन है जिसमें प्रकृति-पुरुष का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सांख्य का एक अपर नाम है 'षष्टितन्त्र'। षष्टितन्त्र में ५० घटक प्रत्ययसर्ग के रूप में तथा १० घटक मूलिक अर्थों के रूप में पहचाने जाते हैं। सांख्य में १० मूल अर्थों का आचार्यों ने निम्नवत् व्याख्यान किया है— १. प्रकृति का एकत्व २. प्रकृति का अर्थवत्त्व ३. प्रकृति का परार्थत्व ४. पुरुष का अन्यत्व ५. पुरुष का अकर्तृत्व ६. पुरुष का बहुत्व ७. पुरुष व प्रकृति का अस्तित्व ८. पुरुष व प्रकृति का संयोग ९. पुरुष व प्रकृति का वियोग १०. महत् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त विकाररूप २३ तत्त्वों की स्वरूपस्थिति। 'पुरुष का अकर्तृत्व' इस बिन्दु पर हम कुछ विचार करना चाहते हैं—

सांख्य में पुरुष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है— 'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्' १.१३९ पुरुष शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न है। वह चिन्मयस्वरूप है, निर्गुण है, असंग है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है इत्यादि। यह पुरुष के अपने शुद्ध निजस्वरूप का वर्णन हुआ। किन्तु अज्ञान दशा में प्रकृति-पुरुष दोनों संयुक्तरूप में रहते हैं। यहाँ संयोग दैशिक या कालिक नहीं होता बल्कि 'एकप्रत्ययानुवर्तिता' (एक ज्ञान में दोनों का विद्यमान होना) संयोग का स्वरूप होता है अर्थात् एक तो प्रकृति का प्रथम विकार (परिणाम) बुद्धि (महत्) और दूसरा शुद्ध चैतन्य, ये दोनों एक ज्ञान में विद्यमान रहते हैं। 'मैं हूँ' इस अनुभव में एक भाग द्रष्टा, प्रकाशक या ज्ञाता के रूप में होता है तथा दूसरा भाग दृश्य, प्रकाश्य व ज्ञेयस्वरूप होता है। इस अवस्था को सांख्य में 'जीव' इस शब्द से प्रकट किया जाता है— 'विशिष्टस्य जीवत्वम् अन्वय-व्यतिरेकात्' (६.६३) अर्थात् अहंकार विशिष्ट पुरुष का ही जीवत्व है शुद्ध पुरुष का नहीं, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह सुनिश्चित है। अर्थात् पुरुष का इस उक्त विशेषता से युक्त होने पर जीव भाव होता है और न

होने पर नहीं होता ।

सांख्य में समस्त संस्कारों का आधार चैतन्यरूप पुरुष को स्वीकार न करके अन्तःकरण का एक भाग मन को कहा है (तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् २.४२) । जहाँ संस्कार होते हैं वहीं इच्छा होती है, इच्छा कर्म का आरम्भ बिन्दु है अतः सांख्य के अनुसार मन में इच्छा उत्पन्न होती है, बुद्धि उसमें लाभ-हानि या सुख-दुःख देखती हुई कर्म की कर्त्री बनकर कर्मशृंखला को आगे बढ़ाती है। बुद्धि तो अचेतन है, अचेतन में ज्ञातृत्व व कर्तृत्व आदि कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सांख्यषडध्यायी में प्रथम अध्याय के अन्तिम सूत्र में कहा है— ‘उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्’ अर्थात् चेतन पुरुष के सान्निध्य से बुद्धि भी चेतन सी हो जाती है और इस प्रकार बुद्धि के चेतन जैसा होने से बुद्धि में ज्ञातृत्व व कर्तृत्व घटित हो जाता है। अज्ञान अवस्था में पुरुष वृत्तिसारूप्य स्थिति में रहता है अर्थात् बुद्धि से अभिन्न होकर रहता है अतः उसे भी कर्ता के रूप में ही कह दिया जाता है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः ।। (सां का० २०)

चूँकि बद्धावस्था में बुद्धि व पुरुष दोनों ही कर्ता की भूमिका में होते हैं अतः पुरुष भी भोक्ता हो जाता है। सां० १.१०४ में कहा है— ‘चिदवसानो भोगः’ अर्थात् भोग का अवसान चेतन पर होता है, चेतन के होने से ही तो भोग प्रकाशित हो रहा है, चेतन न हो तो भोग प्रकाश (अनुभव) में ही नहीं आ सकता ।

इस समस्त विषय वस्तु को नैयायिकों की दृष्टि के साथ भी रखकर देखा जा सकता है— सांख्य में जिस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले असंग चिन्मय पुरुष का वर्णन है, ठीक वही वर्णन न्याय-वैशेषिक में भी है। किन्तु न्याय-वैशेषिक में व्यवहारकाल (बद्धावस्था) में आत्मा को इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानादि गुणों के आधार के रूप में देखा गया। सांख्य में

साधना पथ

यद्यपि समस्त इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-संस्कारादि के आधार के रूप में बुद्धि को माना गया है तो भी उस अवस्था में द्रष्टा पुरुष की प्रत्ययानुपश्यता (वृत्तिसारूप्यता) के कारण वह स्वयं भी तो है। **‘फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः, बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः’** (योग दर्शन व्यास भाष्य १.७) इस विशिष्ट कथन से पुरुष की वृत्तिस्वरूप स्थिति को ही चित्रित किया गया है।

न्याय-वैशेषिक में कहा है कि आत्मा शुद्धज्ञान से शुद्ध और अशुद्ध ज्ञान से अशुद्ध होता है, इस प्रकार आत्मा को ही बद्ध और आत्मा को ही मुक्तरूप में स्मरण किया है। बद्धता या मुक्तता की सम्पूर्ण जिम्मेदारी आत्मा की है कि वह मन इन्द्रियादि साधनों के उपयोग के द्वारा अपने को ज्ञानी या अज्ञानी, सुखी या दुःखी, मुक्त या बद्ध रखे। आत्मा को अपने उपलब्ध ज्ञान के अनुसार कहीं दुःख दर्शन या दोष दर्शन और कहीं सुखदर्शन या लाभ दर्शन होता है अतः भोग या त्याग का चुनाव भी वही करता है। किन्तु सांख्य योग में पुरुष को तो एक चिन्मय तत्त्व के रूप में देखा गया और उससे सम्बद्ध या उससे प्रकाशित बुद्धि में ज्ञान-अज्ञान, तीव्र प्रयत्न व मन्द प्रयत्न, भोग व अपवर्ग का घटित होना स्वीकार किया गया। यद्यपि चेतन व बुद्धि की संयुक्त दशा में उस भोगज्ञान और अपवर्गज्ञान की परिसमाप्ति चेतन पर ही होती है, अर्थात् समस्त अनुभूति का आधार चेतन ही होता है, तो भी यहाँ कर्तृत्व की सारी जिम्मेदारी बुद्धि की है वह अपने को ज्ञानी या अज्ञानी रखे, दुःखदर्शन के द्वारा अपने को दुःख से मुक्त करले या दुःख के न दिखने से या दुःख के कम दिखने से दुःखदायी इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त रहे और उस विषय-प्रवृत्ति के कारण दुःखी होती रहे। सांख्यीयदृष्टि में शुद्धि-अशुद्धि का सम्पूर्ण दायित्व बुद्धि को सौंप दिया। इस प्रक्रिया में जैसा कि अभी ऊपर कहा गया चिन्मय तत्त्व की भूमिका यह निर्धारित की गयी कि वह बुद्धि को सतत प्रकाशित करता रहे अर्थात् उसकी उपस्थिति में बुद्धि अपने काम में जुटी रहे। सांख्य-योग का सूक्ष्म अध्ययन, मनन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सारी योग-साधना बुद्धि को शुद्ध करने के लिए है। बुद्धि स्वयं ही अपने अन्दर ज्ञान की विकसित

अवस्था में भोगों में दुःख देखती है, और अपवर्ग में उन दुःखों का अन्त देखती है। बुद्धि में उत्पन्न यह ज्ञान चेतन में संक्रान्त हो जाता है। बुद्धि में उत्पन्न उच्चतम शुद्ध ज्ञान को सांख्य-योग में 'विवेकख्याति' नाम दिया गया है जो कि चिन्मय तत्त्व और बुद्धि के अनादिकाल से चले आ रहे संयोग को वियोग में बदल देती है, उसी अवस्था के लिए वहाँ 'कैवल्य' (शुद्ध केवल चिन्मय स्वरूप) यह अन्वर्थ नाम प्रयुक्त हुआ है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं० योग० २.१८ सूत्र भाष्य में व्यासदेवजी ने साफ-साफ कहा है 'तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ.....' अर्थात् भोग व अपवर्ग दोनों बुद्धि के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं और बुद्धि में ही वर्तमान रहते हैं तथा व्यासभाष्य २.१७ में तप्य-तापक भाव को भी बुद्धि में ही दिखाया गया है, वहाँ बुद्धिस्थित सत्त्वगुण को तप्य और रजोगुण को तापक कहा है। वृत्तिसारूप्यता के कारण पुरुष भी अनुत्पन्न होता है। 'सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये ज्ञेयज्ञे। दर्शितविषयत्वात्, सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुत्पद्यत इति दृश्यते'। भोग भी एक ज्ञान है और अपवर्ग की कारणभूत विवेकख्याति भी एक ज्ञान ही है अर्थात् अपवर्ग विवेकख्यातिरूप उत्कृष्टतम ज्ञान का सहभावी है। जैसे अग्नि को जलाने योग्य कुछ मिलता है तो जलाती रहती है, किन्तु जब जलाने योग्य कुछ नहीं मिलता तो आखिर बुझ जाती है वैसे ही उस चरम ज्ञान की उपलब्धि होने पर बुद्धि शान्त हो जाती है। बुद्धि के शान्त होने पर पुरुष का कैवल्य घटित होता है।

शुद्ध ज्ञान की स्थिति में द्रष्टा पुरुष की साक्षिता में बुद्धि कर्त्री होकर आवश्यक नित्य कर्मों का या करुणा प्रेरित कर्मों का निष्काम भाव से सम्पादन करती रहती है। अर्थात् यही एक ऐसी स्थिति है जब पुरुष का वृत्तिसारूप्य नहीं होता, तब पुरुष अकर्ता बना रहता है और बुद्धि के द्वारा सहज रूप में कर्म होते रहते हैं।

इस विषय को साररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—
कार्यतः सांख्य-योग व न्याय-वैशेषिक का बद्धपुरुष एक ही है तथा सांख्य

साधना पथ

योग का मुक्तपुरुष और न्याय-वैशेषिक का मुक्तपुरुष भी तत्त्वतः एक ही है, कोई भेद नहीं है। अज्ञान अवस्था में न्याय-वैशेषिक के समान सांख्य-योग में भी पुरुष कर्त्ता ही है, किन्तु ज्ञान अवस्था में तो पुरुष अकर्त्ता बना रहता है, इसीलिए भोक्ता भी नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण श्रेणी में गिने गये हैं।

* * *

- परम सुख क्या है? अन्तर्विरोध का न होना।
- धार्मिकता जीने की वस्तु है, केवल मात्र विचार के क्षेत्र की वस्तु नहीं है।
- अपने चिन्मय स्वरूप से अतिरिक्त कुछ भी चाहने का नाम 'कामना' है। कामना से काम्य विषय के साथ एक विशेष सम्बन्ध हो जाता है। उस सम्बन्ध के होते ही व्यक्ति अपने चिन्मयस्वरूप से हट जाता है।
- ज्ञान की अवस्था में कर्म की कर्त्री प्रकृति होती है, अवश्य ही आत्मा की उपस्थिति भी वहाँ अपरिहार्य रूप में रहती है, किन्तु आत्मा केवल तटस्थ द्रष्टा के रूप में ही वहाँ उपस्थित रहता है, कर्त्ता के रूप में नहीं होता। भक्ति भाव में यद्यपि कर्म का कर्त्ता तो आत्मा ही होता है किन्तु वह समर्पित होकर भगवान् के लिए कर्म करता है। दोनों ही अवस्थाओं में मन अकाम हो जाता है। मन के अकाम होते ही चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, वृत्तियों का शान्त होना ही समाधि है। समाधि में स्वतः ही ज्ञान का अवतरण प्रारम्भ हो जाता है।
- ज्ञान की स्थिरता ही संन्यास है तथा इसी को परम वैराग्य कहते हैं।
- स्वयं में बहुत सी कमियों के बावजूद अगर मैं अपने से प्रेम कर सकता हूँ तो फिर दूसरों में थोड़ी बहुत कमियों की वजह से उनसे घृणा कैसे कर सकता हूँ।
- आपका सम्मान उन शब्दों में नहीं जो आपकी उपस्थिति में कहे गये बल्कि उन शब्दों में है जो आपकी अनुपस्थिति में कहे गये हैं।
- उसे उसके बनाये हुए मन्दिर में ढूँढो वह अवश्य मिलेगा।
- संसार से भागने का नाम वैराग्य नहीं अपितु संसार को समझने का नाम वैराग्य है।

६१. भगवान् को समर्पण

गुरु-आचार्य व सभी शास्त्रकार यह कहते हैं कि जीवन में यदि तुम सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो, पूर्णता चाहते हो, धर्म को प्रतिष्ठित देखना चाहते हो, निर्भय होना चाहते हो, पूर्ण तृप्ति चाहते हो, जीवन के विविध प्रसंगों में—भय, बाधा और प्रलोभनों में सहज रहना चाहते हो, प्रतिक्रियाओं से मुक्त जीवन जीना चाहते हो, अपने भूतकाल के समस्त संस्कारों से मुक्त होना चाहते हो तो उसके लिए एक सहज व अमोघ उपाय है कि ईश्वर को अपना सब कुछ समर्पण कर दो। जब भी यह समर्पण पूर्णरूप से साधित हो जाता है तो मनुष्य तत्काल नर से नारायण बन जाता है। कारण मनुष्य सत्ता की गहराई में पहले ही उस नारायण का वास है जिसको वेदों में विविध नामों से पुकारा गया है, फलतः समर्पण के द्वारा उस अन्तर्यामी तत्त्व नारायण के साथ जीव का जो सम्बन्ध है वह घनिष्ठ होता जाता है। वह अन्तर्यामी समस्त ज्ञान, बल, आनन्द व प्रेम से परिपूर्ण है अतः उस सर्वज्ञ मार्गदर्शक गुरु से न केवल साधक को उसके अपने लक्ष्यभूत परमप्रभु का निज बोध प्राप्त होता है बल्कि लक्ष्य तक पहुँचने के लिये मार्ग में चलने हेतु आवश्यक शक्ति व ज्ञान भी प्राप्त होता रहता है।

‘समर्पण’ का अर्थ है अपनी आहंकारिक सत्ता का पूर्ण विसर्जन। किन्तु वह समर्पण किसके प्रति? विधान के प्रति या अपने मन व आत्मा से पार विद्यमान शान्त ब्रह्म के प्रति जो कि सदा ही अखण्ड रूप से चर-अचर, दृश्य-अदृश्य में सर्वत्र ओत-प्रोत है, जो निरपेक्ष होते हुए भी सर्वसुहृत्, समस्त यज्ञों का प्रभु व भोक्ता है। समर्पण के विषय में एक बात सदा बार-बार दुहराने व ध्यान देने योग्य है कि जिस किसी को भी समर्पण किया जाता है उसके साथ समर्पण कर्ता का तादात्म्य स्थापित होता चला जाता है। ऐसे तादात्म्य को दर्शाने के लिये वेदों में शतशः सहस्रशः मन्त्र उपलब्ध हैं। उनमें से एक है—यदने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः। (ऋग्०

साधना पथ

८.४४.२३) अर्थात् हे अग्निदेव! मैं तू ही हो जाऊँ और तू मैं हो जा। तेरे आशीष यहीं और अभी सत्य हो जाऊँ।

समर्पण की महिमा गाने वाला एक और मन्त्र है— यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः। (ऋग् १.१.६) हे अग्ने जो तुम्हें समर्पित हो जाता है उसका सदा कल्याण ही करते हो यह तुम्हारा सत्यव्रत है। कैसे? समर्पण का अर्थ है तादात्म्य की पराकाष्ठा, स्पष्ट है जो अग्नि स्वरूप= प्रकाशस्वरूप=ज्ञानस्वरूप प्रभु के साथ तादात्म्य की स्थिति में जीयेगा वह कैसे अज्ञान में रह सकता है और सारा का सारा दुःख, कष्ट, अमङ्गल, अशुभ तो आज्ञान का ही परिणाम है अतः उपर्युक्त मन्त्र में कहा गया कि समर्पण कर्ता का सदा भद्र ही होता है।

दूसरे शब्दों में कहें तो समर्पण अपने आप में एक ऐसा पूर्ण साधन है जिसके द्वारा कोई भी साधक उस परम सत्य के साथ एकत्व साधित कर पाने में सक्षम हो पाता है। सचेतन होकर किये गये उस समर्पण के अभाव में कोई भी अपनी सत्ता के परम प्रभु से अलग-थलग रहते हुए ही जीवन जीता है। इस पार्थक्य की स्थिति में प्राकृत भोगों को ही वह अपने जीवन का अन्तिम ध्येय समझ रहा होता है। तीनों एषणाओं से घिरा हुआ उन-उन इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति में सुखी-दुःखी होता रहता है। इच्छाओं, तृष्णाओं या कामनाओं के इस कुचक्र से बाहर निकलने के लिए ही शास्त्रकारों ने यह उपाय सुझाया कि अपने अहंकार की कुटिल चालों को समझो और उस अहंतृप्ति के लिये कुछ करने की बजाय इस जगत् के और तुम्हारी अपनी सत्ता के स्वामी के लिए जीवन जीना आरम्भ कर दो।

हाँ! उसके लिये जीओ या तुम अपने लिये जीओ इससे 'उस' पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्यों कि वह तो सब प्रकार से पूर्ण है, उसको तुम्हारी आवश्यकता नहीं है, तुम्हें उसकी आवश्यकता है, निश्चित ही 'वह' तो दोनों ही अवस्थाओं में एक समान अपनी 'सम' स्थिति में रहता है, किन्तु तुम्हारे अन्दर एक महान् परिवर्तन घटित होना प्रारम्भ हो जायेगा। तुम भी उसी की

भगवान् को समर्पण

तरह सब प्रकार की उथल-पुथल के बीच हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, प्रियता-अप्रियता, आकर्षण-विकर्षण के बीच 'सम' हो जाओगे। सरलार्थ यही है कि अज्ञानी व्यक्ति जैसे प्रिय-संयोग में 'मोह' और वियोग में 'शोक' में डूबा रहता है या फिर जैसे अप्रिय संयोग में 'दुःखी' और वियोग में 'सुखी' होता रहता है, वैसे ही अपने सचेतन व सक्रिय समर्पण के द्वारा उस अनाद्यनन्त अन्तर्वासी चिन्मय तत्त्व के साथ तुम्हारा एकत्व ज्यों-ज्यों सघन होता जाएगा वैसे-वैसे मोह और शोक, दुःख व सुख सूर्योदय होने पर अन्धकार की तरह देखने को भी नहीं मिलेंगे। इस मानव देह में रहते हुए तुम्हारा जीवन एक देवता के रूप में होगा। तुम भगवान् के ज्ञान-बल-आनन्द के केन्द्र बनकर अपने चारों ओर उनके फैलाव या उनके प्रचार व प्रसार के माध्यम बन जाओगे।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि समर्पण करने के पीछे छिपा हेतु तो समझ में आया, पर इस समर्पण का प्रारम्भ कहाँ से करें और इसको कैसे बढ़ायें? इसके उत्तर में शास्त्रकारों ने यही दिशा दी है कि मनुष्य का जीवन क्रतुमय है, कर्ममय है, सो शरीर से, मन से या वाणी से जो कुछ वह करता है— उसे अपनी सत्ता के परम प्रभु को समर्पण करने के भाव के साथ करे तो यह एक अच्छी शुरूआत हो सकती है। इस विषय में श्रीमद्भगवद्गीता से भी मार्गदर्शन मिलता है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः॥९.२६

यत् करोषि यदश्नासि यद् ददासि जुहोषि यत्।

यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९.२७

समर्पण में भक्ति की प्रधानता होती है। भक्ति के बिना समर्पण का कोई अर्थ ही नहीं है और भक्ति 'प्रेम' के बिना नहीं होती। प्रेमपात्र की महिमा-श्रवण, उसका चिन्तन-मनन, उसके साथ अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध

साधना पथ

स्थापित करने की चाह से किये गये प्रेम से प्रेम में वृद्धि होती है। जैसे अपनी क्रियायें भगवान् के लिए अर्पित की जाती हैं वैसे ही हमारे पास जो कुछ है वह भी भगवान् को अर्पित करना अर्थात् उसे अपने अहंकार की तृप्ति का साधन न बनाना, यह भी समर्पण का एक आवश्यक अङ्ग होता है। जैसा कि प्रायः पदार्थ व सेवादि कार्यों को भी व्यक्ति दूसरों से अपनी अलग पहचान का साधन बनाता रहता है, साधक को इस विषय में अत्यन्त जागरूक रहना होता है। जो कुछ भगवान् के नियमों में चलने से यश-कीर्ति मिलती है उसे भी नम्रतापूर्वक भगवान् के चरणों में ही चढ़ा देना, दूसरों से जो आदर-सम्मान मिलता है, उसे अपने 'मैं' का आदर-सम्मान न समझकर भगवान् का ही समझना और अपने अन्दर कुछ भी भूल-भ्रान्ति है तो उसे अपने अहं के साथ जोड़ना, भगवान् का ही अहोरात्र चिन्तन, सृष्टि में उसकी महिमा का अवलोकन, सब नाम-रूप में उसी का दर्शन, इस प्रकार अपने हृदयवासी के साथ इस उपर्युक्त प्रक्रिया से जुड़कर अपने समर्पण को निरन्तर बढ़ाया जा सकता है। जिसका कि अवश्यंभावी फल है— अपने प्रभु के साथ पूर्ण तादात्म्य, पूर्ण एकत्व, पूर्ण अकामता, जड़ता का पूर्ण अन्त, पूर्ण चिन्मयता।

इस सम्पूर्ण चर्चा का उपसंहार अब हम शास्त्रीय समर्थन के साथ करना चाहेंगे— समर्पण के द्वारा 'इस उपर्युक्त अद्वैतभाव को उपलब्ध कर, सतत इसी में जीना' यही है जीव का अन्तिम गन्तव्य, परमपुरुषार्थ, ध्येय की सम्प्राप्ति, अन्तिम शरणस्थान, परम धाम की उपलब्धि जिसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता में भी और वेदों में भी तथा अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है—

‘मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते’ (भ० गी० ८.१६),
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम’ (भ० गी० ८.२१), ‘न च पुनरावर्तते’ (छां० उ० ८.१५.१), ‘यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त’ (यजु० ३२.१०), ‘अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः’ (सां० सू० १.१), ‘तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः’ (न्याय सू०

भगवान् को समर्पण

१.१.२२), 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (यो० सू० ३.५१), 'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः' (वै० ५.२.१८), 'अनावृत्तिः शब्दात्' (वे० सू० ४.४.२२), 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६.२.१५), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद--- -- सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० उ० २.१), 'स स्वराड् भवति' (छां० उ० ७.२५.२), आप्नोति स्वाराज्यम् (तै० उ० १.६.२), 'तत्केन कं विजानीयात्? स्वेनैव स्वं विजानीयात्' (बृ० उ० ४.५.१५), 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (यजु० ४०.७), 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति' (मनु० १२.९२)।। 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' (वेदा० सू० ४.४.६), 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां० उ० ८.१२.३), 'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' (मु० उ० २.२.७), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० उ० ४.४.६), 'तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० उ० ३.२.८), 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० ४.४.७)।। 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३.२.३), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० उ० ४.३.३०), 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां० उ० २.२३.१), नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।। माण्डू० उ० ७।। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।। माण्डू० उ० १२।।

साधना पथ

• सर्वसंसारदुःखानां तृष्णौका दीर्घदुःखदा ।

अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ।। (महोप० ३, २५)

तृष्णा संसार के सभी दुःखों में से अधिक दुःखदायिनी है, यह प्रबुद्ध और सुरक्षित व्यक्ति को भी संकट में डाल देती है।

• न केवलं यो महतोऽपभाषते ।

शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।। (कुमारसम्भव ५, ८३)

बड़ों को गाली देने वाला ही पापी नहीं होता अपितु उनको तटस्थ भाव से सुनने वाले को भी पाप लगता है।

• शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत् सदा ।

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ।।

• मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।

कामं हित्वाऽर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ।। (महा० भा० वन० ३१३, ७८)

• स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभालाभे समो मुनिः ।

समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ।। (महा० भा० १२, २७८, ३)

• अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।

क्रोध्ययानः प्रियं ब्रूयाद् आक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।। (महा० भा० शा० १२, २७८, ६)

• यः समुत्पतितं क्रोधम् अक्रोधेन निरस्यति ।

देवयानि ! विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ।। (महा० भा० १, ७९, ३)

• लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते ।

लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ।। (महा० भा० १२, १५८, ४)

परासुता=परवशता (मृत्यु) ।।

